

जैनेन्द्र साहित्य और समीक्षा

लेखक

डा० रामरतन भटनागर

१९१५

साहित्य प्रकाशन, दिल्ली

प्रकाशक
साहित्य प्रकाशन
मासीवाड़ा दिल्ली

मूल्य
सात रुपया पचास नय पैसे

मुद्रक
श्याम कृष्णा प्रैस
कटरा मौज
दिल्ली ।

जेनेन्द्र साहित्य और समीक्षा

साहित्य प्रकाशन का थालोचना-साहित्य

हिन्दी एवांकी उद्भव और विकास	डा० रामचरण महेन्द्र	१२-५०
भाषाय कवि कर्मण	प्रो० कृष्णचन्द्र वर्मा	३-००
काव्य विवेचन	प्रो० सुरेशचन्द्र गुप्त	६-००
हिन्दी काव्य-दशान		६-००
साहित्य का स्वरूप		२-५०
रबीन्द्र साहित्य और समीक्षा	धबधप्रसाद वाजपयी	३ ००
भेनेन्द्र साहित्य और समीक्षा	डा० रामरत्न भटनागर	७-५०
हिन्दी उपन्यास उद्भव और विकास		प्रेस में
प्रसाद साहित्य और समीक्षा	डा० रामरत्न भटनागर	६ ००
टंगौर साहित्य दशान	टंगौर	२-५०
साहित्यिक निबन्ध	यज्ञदत्त धर्मा	प्रेस में
हिन्दी कहानी उद्भव और विकास	,	प्रेस में
उपन्यासकार यज्ञदत्त धर्मा	श्री नरालम नायर	प्रेस में

जेनेन्द्र की साहित्यिक विचारधारा

जेनेन्द्र के साहित्यिक व्यक्तित्व में विचारक और सर्जन दोनों इतने मिल्ते-जुलते सामने आते हैं कि दोनों को ध्यान करना कुछ कठिन ही है। वास्तव में उनके साहित्यिक व्यक्तित्व में विचार-पक्ष की इतनी प्रधानता हो गई है कि सबका का पक्ष रखा हुआ दिखलाई देता है। वह चिन्तन से भाव की ओर बढ़ते हैं भाव से चिन्तन की ओर नहीं। फलतः उनका साहित्य चिन्ताबर्मी है और उपात्मिकता की मनोनिष्ठ और स्वाभाविक भूमि पर उमका विकास नहीं हो पाया है। इसीलिए वह कुछ रहस्यमय और अज्ञान भी हो गया है। परन्तु इसीलिए यह भी आवश्यक हो गया है कि जेनेन्द्र के साहित्य की चिन्ताबर्मी पृष्ठभूमि को पहले संपूर्ण रूप से समझ लिया जाए और उनकी विचारभूमि की विशेषताओं और सीमाओं को स्वीकार कर ही उनके साहित्य की परख की जाय।

जेनेन्द्र की विचारधारा एक पृष्ठभूमि बड़ी व्यापक है और उनके विचारों काठिणों प्रसोक्तों और रेखाचित्रों में उसका विस्तार है। उनके साहित्य के सम्बन्धों के लिए इस व्यापक पृष्ठभूमि से परिचित होना आवश्यक हो जाता है। परन्तु जेनेन्द्र का वैचारिक व्यक्तित्व उनके सर्वनात्मक साहित्य का निर्माण करता हुआ भी समझे बहुत कुछ पतल है और स्वतन्त्र रूप से सम्पन्न का विषय बन सकता है। वहाँ हमें उनके उन विचारों को ही सना है जो साहित्य कला और सामान्यजी जिज्ञासाओं से सम्बन्धित हैं और जिनका उनके कथामाहिका पर सीधा प्रभाव है। जेनेन्द्र के विचारों का यह पक्ष उनके "साहित्य का श्रेय और प्रेय" संघ में सम्पूर्ण रूप से आ गया है। जैसे अन्त्य प्रकीर्णक सामग्री से ही उनकी पुष्टि की जा सकती है। हमें यह देखना है कि कला और साहित्य उनकी प्रक्रियाओं उनके विभिन्न पक्षों मुख्यतः उपस्थान कहली और उनके उद्गम और लक्ष्य के संबंध में जेनेन्द्र को क्या कहना है। यह ध्यान है कि उनके साहित्य-सम्बन्धी लक्ष्य उनके संघीर चिन्तन के पक्ष हैं और कामधर्म में सृजन के बाद ही वे सम्पन्न हुए हैं परन्तु इसमें संदेह भी नहीं कि जेनेन्द्र ने अपने साहित्य को सामने रखकर ही उन्हें परसविन किया है और उन्हें हम एक प्रकार से उनके साहित्यिक योगदान" के रूप में पहचान कर सकते हैं।

प्रारम्भ में हमें यह जान लेना होता कि जीनेन्द्र साहित्य को उपयोगिताकारी हट्टि से नहीं देखते । उनका प्राबुर्भाव छायावाद-युग में हुआ और साहित्य में व्यक्तित्व की पुकार उनके सेतों में थी उनी प्रकार मुनी का सफ़टी है जिस प्रकार प्रसाद पंत और निरामा में हम उसे पहली बार मुनते हैं । परन्तु जहाँ स्वच्छन्दताकारी काम्य क प्रवर्तक कवि और उनके पोषक प्रामोक्षक अपने व्यक्तित्व की परिभामाण्टि कलाकार से करते हैं और कला को ही अंतिम लक्ष्य मानते हैं वहाँ जीनेन्द्र अपने कलाकारी मंतव्य पर प्रम्पारमवार का पाटोप करते हैं और इस प्रकार उसे रहस्यमय और पशुबुद्ध बना देते हैं । उन्होंने अपनी साहित्य और कला की व्याख्या में बिरोपत उनके मूल सोचों और सधों पर बिचार करते हुए अपने युग की मनोवैज्ञानिक उपलब्धियों को भी अंततः स्वीकार कर लिया है और फ़ाइल के अक्षयतनवाद और कालविज्ञान को भी महत्व दिया है । इस तरह उनकी हट्टि प्रम्पारम और मनोविज्ञान की से बिरोधी और निम्न स्तरों की मास्यताओं में उलमकर प्रस्वट हो गई है । जीनेन्द्र का व्यक्तित्व और उनकी बिचित्त कला ही इन से बिरोधी तंत्रों को बोझने है ।

कला

कला को जीनेन्द्र अक्षयतनविबता के बिपरा में रखते हैं और उसका अ्येय केवल मानग्र जोग बनाने है । प्रयोक्षनीय को नहीं या केवल सुन्दर होकर ही हमारे लिए सार्थक है वही कलात्मक है कला की बीब है । बुध पर पिता हुआ पून केवल जित कर ही कलाकार के अपार आह्लाद का बिषय है । अक्षयतन के लिए उपयोगिता मान लय है कला के लिए सीम्हर्ष ही सय है ।

विज्ञान को भी उन्होंने कला के बिगड रखा है । विज्ञान का बस है तर्क-अंतति बुद्धि-अभव बिरसेगल । कला और के घातक-बीम द्वारा अंततः प्रनुभूतियों के मूलम तनुओं द्वारा लय को ह्वयवम करती है । उनके लिए लय अ्येय नहीं प्रेय है । कला में बुद्धि का उपयोग नहीं यह बात नहीं परन्तु बुद्धि अंतय पर समाप्त होती है । कला अजानु है अरम मास्तिक है नास्तिक होने पर भी मास्तिक है । इतीमिण वह हम हराती नहीं कर्मव्य बनाती है । कला क्या है पू० ३३ ३७ परन्तु यह कर्मभ्यता भाव की है कर्म की नहीं । कलाकारी एठ मूत्र की अर्षा बराबर करन है लय अिषं सुन्दर । जीनेन्द्र ने इसी नाम से एक सय लिगकर तीनों क भेद को समजाया है ।—
“वे कलात्मक प्रवृत्तियाँ जिनका लय सुन्दर है उन वृत्तियों के साथ लयमय भावों जिनका लय अक्षयण-आपन है । दूसरे सधों में कला नीति-लमभिवन हो । अर्षं का घातक नहीं अक्षय नही —“अर्षं अर्षान् प्रम-अर्षं । लय अिषं सुन्दर पू ६२ ६९ भाव अर्षिण है अिषं उनसे मरन सुन्दर और भी अक्षय स्वाभाविक । अण लय की उगातना के लिए सुन्दर से अमना है । कला सुन्दर की उगातना है । परन्तु वह अिषं

की अपेक्षा नहीं कर सकती। विज्ञान केवल मात्र धारण का उपासक होने के कारण किसी भी प्रकार की मर्यादाओं से ऊपर है। वह जीवन की रंगीनी नहीं देखता उसका ध्यान हीर उपभोग का पक्ष नहीं देखता। नैतिक-अनैतिक के प्रश्न में नहीं पड़ता। परन्तु कला नीति को लेकर चमकी है। यह उसकी टेक है। नहीं तो यह विज्ञान है कला नहीं है।

परन्तु नैतिकता को स्वीकार कर कलाकार धारण-नियमण को स्वीकार करता किन्ती बाहर के नियंत्रण को नहीं। कला में तात्कालिकता और उपयोगिता से ऊपर उठ कर सब कुछ सब काम को छूने की ओर लमटा है वही कला का धर्म है उसका बल है। कला के द्वारा लोक-मगल की साधना की बात भी कही जाती है। परन्तु जैनेन्द्र इस लोक-संयम को कोई "बाद" नहीं मानते। जीवन के भीतर से कला साक-जीवन को ओ सकार देती है, वह लोक-मगल का साधन नहीं तो घोर क्या है? उनसे जलप या उनसे बढ़कर हीर किस लोक-संयम की धारणा की जाय। 'कला-नियंत्रण पृ० २१८-२२१ जैनेन्द्र क विचार में कला की धारणा यही है कि वह बंधनों से उदीग्य करने वाली हो स्वयं निरंकुश हो अपने ऊपर बलन लेकर नहीं चले। 'साहित्य और कला पृ २२७-२३०।

भी प्रमाकर माचने को लिये पत्रों में जैनेन्द्र ने कला और जीवन क सम्बन्ध में विचार व्याख्या उपस्थित की है। उनके मत में कला मात्र स्वरूप नहीं है। वह "बास्तव" "व्यवस्था" से पुट होती है "बास्तव" को संसृष्ट करती है। उसमें माची बोन रहता है। उसमें भास्मदान है। वह मुबार, उपकार, नीति और धर्म से बंधी नहीं है। यद्यपि वह इन्हें ही धारण धर्म पर पुट करती है। फिर वह कलाकार स धरत धर्मिण भी नहीं है। कलाकार का अस्तित्व या अस्तित्व ही उसकी कला में अस्तित्व और चिचित होता है। परन्तु यह अहेतुक रूप से। इतिहास, कि ऐसा तो उसे होना ही है। 'कला और जीवन पृष्ठ ४२८ ४३०।

इस प्रकार यहाँ भी कलाकार के अस्तित्व के माध्यम से कला और 'बास्तव' या 'लोक-जीवन का नाटा ओझा गया है। सब तो यह है कि जैनेन्द्र कला को अंतरंगी वस्तु मानते हैं बहिरंगी नहीं। बाहर भी भीतर का ही प्रसार है, ऐसी उनकी माध्यता है। इस माध्यता से बन कर कला कलाकार और लोक-जीवन का समीकरण उप स्थित करने में उन्हें सहनियत हो जाती है। 'वस्त्र बंधन' का प्रश्न इन्हीं ममाधान से उद्भूति मुलमयता है यह कह कर कि लक्ष्य की महत्ता यही है कि जो उसमें मुग्ध है धिब है मत्व है—जो उनमें उल्ट है घोर विराट है उमी को वह सबक धर्म से जाय। उसे धरना और धरने नाम का मोह न हा वह धारण धारण के प्रति सन्ध्या हा इत्यन्त के प्रति मय हा। उसका धारण ही बलर लोकर विराजे पूजनीय हो—इसी में लक्ष्य की संतृति है सन्नता है और साधनता है। इसके लिए लिये,

पृ० २८२ ऐसा कहने से स्पष्ट दिव सुन्दर की योज बाहुरी अवत् की योज न हो-
कर कमाकार के अपने भीतर की योज बन जाती है और तब कला धारमभिप्य अपने
प्रति ईमानदारी का ही दूसरा नाम है ।

एक वन कला का सम्बन्ध "टेकनीक" से जोड़ता है । जैनेन्द्र इन वर्ष से सङ्ग
गत नहीं है । उन्होंने कहा है "टेकनीक विद्या है अपने प्रखर का ।" (विश्विक पृ०
११७) एक दूसरे स्थान पर उन्होंने यों भी कहा है "टेकनीक तो होती भी है और
नहीं भी होती । वह तो अपने घाप ही बन जाती है । इनके लिए भास प्रयत्न नहीं
करना पड़ता । यदि हमारी अनुकूलि मत्य है तो हृत्त निःसंशय सही रास्ते पर
जायेगे ।" 'बहागी ववा' पृ ३७७ उन्होंने 'टेकनीक' को 'कप भी कहा है और
इस 'कप' से ज्ञाना हीसी मुहाबरे स्पष्टता के माधन भी घा जाते हैं । इस प्रकार
'टेकनीक' बहिरंगी वस्तु है जो अंतरंग से जुड़ कर ही यार्थकता प्राप्त करती है ।
धारीर धारमा को प्रयत्न करे, तभी यार्थक है । कोरी साज-सज्जा धारमा के प्रति प्रत्याप
भी कर सकती है । संश्लेषों की परितरवा में सुपाकर हम धारमा के प्रति उदासीन
हो जाते हैं । मृदुलीय वस्तु है भीतर का भाव धारमा का उल्लास अपरिशील
महानुभूति । केवम दिल्ल-कीलन संघर्षीय वस्तु नहीं है । जैनेन्द्र के धर्मों में
'दिल्ल प्रभावक नहीं है । धारीगरी को छोड़ी चीड नहीं समझा जा सकता ।
मेरिन उममे जिनारे बनने हैं नदी का पानी नहीं बनता ।" में धौर मेरी कला' पृ०
१३३ में इनी इच्छिकेण को विवमिठ करते हुए उन्होंने भीतर की अनुभूति के प्रति
मवाई को वसा की पृथ्वी धारवक बल माना है ।

साहित्य

जैनेन्द्र के अनुसार 'प्रतिगीम अनुभूतिगीम जीवन का निरिबद्ध व्यक्त-
करण गान्धिम है ।" 'साहित्य ववा है पृ० १९ 'वह व्यक्तित्व सुखता से जगमे घड़भाष
घड़भाष, से घुम् होता है और समस्त विचार का भीतर समेदने की धारकीया सेकर
बनता है । उनके एक धार मेद है दुवरी धार मधर है । विचार से एक होकर
अपने भीतर की विराटता की अनुभूति अमाने की स्पष्टता "धम कला साहित्य धौर
विज्ञान का जग्य होती है" यह जैनेन्द्र का वचना है । इन प्रकार साहित्य के धार सुख
विचार बनता है । 'ध' 'ध' हा जाना है । धरी धारममान साहित्य का धैय हैना
साहित्य । परन्तु यह धारममान बुद्धि द्वारा संभव नहीं है । धमेद की अनुभूति को भी
धनुय बुद्धि ने बरह मरना है परन्तु वह उम धाने व्यक्तित्व का धंग बनाकर उमे
धारका का विगम नरी बना मरना है । जैनेन्द्र के धार है "धानव की धरम मिद्धि
है धाने की विरत के धाप एवानर बर हैना धौर विरत का धाने भीतर प्रतिधरितन
देख लेना । बुद्धि क उममान धारग भी वह धनुय "को धमेद अनुभूति तब नही बना

है। परन्तु मानव-बुद्धि उस तक की वस्तु है जहाँ का सत्य विभेद है भेद नहीं। वह धर्म्य द्वारा बसती है। खड-खड करके संसार को समझती है। प्रहंकार उसकी भूमिका है और ज्ञेय का पार्ष्ण्य उसकी सर्व। "साहित्य क्या है" पृ० १८। ठाण्य यह है कि खड की प्रभुमूर्ति ज्ञान पर बुद्धि का विषय है, प्रसन्न प्रभवा विराट की प्रभुमूर्ति भाव का विषय है। मनुष्य अपने में सिमट कर झुंड है जो सबसे सबंध जोड़कर विराट का बनकर स्वयं विराट है। यह सबका बतना ही मनुष्य की धर्म्य साधना है। उसकी प्रसन्नोपसर्गि है। इसे हृदय के रस-बोध में प्रेम में पाना होना। यही साहित्य घाटा है जो रस-बोधक देता है प्रेम देता है। प्रहंकार की टेक बना कर अपने को हस्त धीर सबसे पूषक करके मनुष्य सब प्रकार की समस्याएँ खड़ी करता है। सब कुछ पाकर भी वह कुछ नहीं पाता। उसके भीतर एक प्रभुपति बनी रहती है। वह धर्म्य की प्रभुमूर्ति चाहता है। विराट से ए-ठ होकर अपने भीतर की विराटता की प्रभुमूर्ति बनाने की पीड़ा उसमें जाग्रत होती है। यही से जर्म कसा, साहित्य सब उत्पन्न होते हैं। मनुष्य की सारी कर्मात्मक श्रेष्ठियों के पीछे जीनेन्द्र ने धर्म्यत्व की यही पीड़ा देखी-परकी है। उनके शब्दों में 'मनुष्य की मनुष्य के साथ, समाज के साथ राष्ट्र धीर विराट के साथ धीर इस तरह स्वयं अपने ज्ञान को एक सुन्दर समबद्धता समरसता समस्वरता 'हारमोनी, स्थापित करने की श्रेष्ठ विरकाम से बनी प्रा रही है बड़े मनुष्य जाति की समस्त संघीत भिषि की मूल है। मानव जाति की इस धर्म्य भिषि में बितना कुछ प्रभुमूर्ति भाष्यार निषिषड है बड़ी साहित्य है। 'बही' पृ० ८०।

"विज्ञान धीर साहित्य" धीयक निबंध में जीनेन्द्र ने विज्ञान धीर साहित्य के विभेद को स्पष्ट करते हुए दोनों की मौक्तिक समानता पर बस दिया है। विज्ञान सत्य है, साहित्य स्वप्न। मनुष्य के विकास की प्राथमिक धवस्था में सत्य धीर स्वप्न में कोई धंतर नहीं था। फलस्वरूप प्रारम्भ में विज्ञान प्रभुमूर्तिमय ही रहा धीर स्वप्नों कहुत नियों धीर बसोकोँ द्वारा उसे प्रगठ किया गया। बहुत पीछे जाकर उसने व्यवस्थाबद्ध विज्ञान का रूप ग्रहण किया धीर प्रभुमूर्ति का तत्त्व विज्ञान से निकस गया। वह तन्मय मय बन गया। जीनेन्द्र का कहना है कि जहाँ विज्ञान की परिणति है वहाँ केवल बुद्धि का व्यापार नहीं है वहाँ वह 'सर्वथा प्रसाधमय रहस्यमय धीर मानो ईश्वरामिमुक्त है।" "विज्ञान धीर साहित्य" पृ० ८५। इस प्रकार विज्ञान अपने आरम्भ धीर धंत में साहित्य से प्रमिल है। इस संबंध में उनकी साहित्य-संबंधी धारणा यह है कि वह कुछ प्रभुमूर्तिमय है उसमें मृष्टा ज्ञाता ही नहीं बरन् वह अपनी मृष्टि से तयाकार है। वास्तव में साहित्य में मृष्टा धीर मृष्टि की एकता है। विज्ञान का जानना धारणागत होता है साहित्य का जानना स्वयं परिणति है अपने को पाना है प्रय' धात्म-परिणति है जो प्रभुमूर्तिमयी चेतना है।

जीनेन्द्र ने साहित्य में महत् स्वप्न धीर मूढम यथार्थ का नठव्यन देखा है।

उन्होंने साहित्य में मूकनदीन कल्पना को प्रतिबन्ध माना है। बाह्य यथार्थ उसका अनुगामी है। साहित्यकार के स्वप्न ही यथार्थ को गति और विद्या देते हैं। स्वप्न के संघर्ष के बिना वस्तु-सत्य निष्क्रिय यथार्थ है। वह आरमणित्त या स्वप्ननिष्ठ बनकर ही गतिवान् बनता है। यह कहा जाता है कि नन्द यथाय साहित्यकार को कुटिल कर देता है उसे अनमर्ष बना देता है। जीवन में इतना कुछ कठोर है कि हम प्रताड़ित हो जाते हैं। जैनेन्द्र का दृष्टिकोण इसके विपरीत है। उनका कथन है "जिसने स्वप्न में भाव के दर्शन किये वह यथार्थ की निकटता से कैंसे निरस्तसाहित्य हो सकता है। उसका तो उसके निकट भ्रम-जैना भी मूल्य नहीं। परतर्पता की भाषा ही इस तरह उसे बुझाएगा हा कानी काहिए। अडा जिसके पास है परतर्पता फिर उसके पास कैंसे पटक सकती है ? 'स्वप्न और यथार्थ' पृ० ४८-४९। "साहित्य की सच्चाई" में यही बात और भी स्पष्टता से कही गई है। सत्य हमें स्पष्ट कर देता है हृद्य देता है। तब हमें सदा की 'रत्न' की प्राप्तिपकटा का अनुभव होता है। यही "धडा" भाव यही "रत्न" साहित्य हमें देता है। तप्य बाहर है, परन्तु उसकी कुंजी "रत्न" है ध्यान है जो मनुष्य के हृद्य के भीतर ही है। मूल है 'ज्ञान जानने में नहीं बैसा बनने में है। 'जातेज इव बीह म। घसती जानना पाता है तरुण तप्य हो जाता है।" 'साहित्य की सच्चाई' पृ० ७९, "साहित्य हमें मनुष्यता की परिचाया नहीं देता, हमें मनुष्य बनाता है। प्राणी-मात्र के मुग-मुग से तरुण होकर ही हम धर्म-सूय्य हो पाते हैं। यही साहित्य की शरम उपायेयता है।"

यह स्पष्ट है कि यही जैनेन्द्र रोमांटिक कलाकारों के साथ है। वह अपने भीतर की बेरना को ही सत्य मान लेते हैं। उसे ही पाता उनका ध्येय हो जाता है। छावा-बाबी कवि की सुनिका पर से उन्होंने कहा है "व्यक्ति को बेरना भी दुनिया पाने को और पाकर उसे हवन करने से त्रिमुने कि लोगों के छोटे-छोटे रिक्त हृद से मुनिग पावें और प्रम से भरकर वे घनतसूय्य की ओर उठें।" यही पृ० ८०। इस "बेरना की दुनिया" से यदि उनका तात्पर्य ध्येय भी पीड़ा से है तो वह एहस्प-तापना का विषय है साहित्य का नहीं। परन्तु जैनेन्द्र की विचारधारा की यह विशेषता है कि वह भीमात्त नहीं मानती और दान्त चर्म साहित्य-विस्तान और जीवनानुमूनि की विभिन्न दिसाओं को "व्यक्तिगत" "हृदय" "अभेदत्व" "प्राप्तता" जैसी घबुम्भ दबाइयों में लपकित कर देती है—बिरतेयत्त से उनका भीमरी बोध को पत्रना धर्म सब है। जहाँ दृष्टिकान यत्र है वहाँ न नम्यता है न घसतीपता न कुछ पास-अपास। सब प्राप्तताम का तापन मात्र है। इन प्राप्तताम का एक नम यह है कि साहित्य हमारे मौनिक अज्ञान्य और अनाभ्रजस्य को दूर कर हमारे विद्य व धीर ह्यम को पराम्भ बनाता है। दुमरे, वह मुनी हवा के यार्न से वहाँ तक घाने-जाने के लिए राह गोपता रता है। यह नम का जानिपीन बनाता है। जैनेन्द्र मुग और नृत्ति को

साहित्य का ध्येय नहीं मानते। साहित्य सीधी पोषक और मौनिक वा माध्यात्मिक चीज है। चटनी नहीं है। 'जीवन और साहित्य' पृ० ८३, ऐसा क्यों है? ऐसा इसलिए है कि साहित्य का ध्येय उद्देश्य है।"

इस उद्देश्य की व्याख्या "साहित्य का उद्देश्य" निबंध में मिलती है कि "साहित्य यह बुद्धि के द्वारा या सत्ता के कर्षण के या कामिनी के चस्ते से हमारे जीवन में जो फाक या द्वन्द्व पैदा हो जाते हैं, साहित्य का काम उनका संयोजन है, द्वन्द्व मिटाना है।" 'साहित्य का उद्देश्य' पृ० ८८। यही जैनेन्द्र के साहित्य का मूलमंत्र भी हमारी पकड़ में आता है कि "साहित्य यह है जो धाँस नहीं मीचना चाहता पर स्वप्न या प्रार्थना के ही सेता है। इसी प्रकार के त्याग द्वारा योग का उपनिषद् ने भी विधान किया है। साहित्य दस प्रकार धार्मिक को यथार्थ से और यथार्थ को धार्मिक से छात्रता और ओड़ता रहता है।" 'यही'।

इन्हीं तथ्यों और मान्यताओं को जैनेन्द्र के 'साहित्य की कसौटी' शीर्षक रूपकाल्पक निबंध में इस प्रकार निष्कपित किया गया है

तो मैं यह मानता हूँ कि—

१—जीवन एक है। जीवनमात्र एक है।

२—यह एकता हमें धर्मोत्तर है बीच में अहंकार का पर्दा है।

३—ज्ञान-अज्ञानाने हमारे अहं की परिधि बढ़ती जा रही है। चितनी परिधि बढ़ती है उतना ही अहंकार हलका होता है।

४—अहंकार, विग्रह विद्वेष अहं और मत्सर धार्मिक बिकारों को जन्म देता है।

५—अहंकार की शीणता में स्नेह बंधुता नम्रता सरलता धार्मिक गुण प्रयुक्त होते हैं।

६—स्वराय और परलोचन की वृत्ति अहं जन्म है।

७—साहित्य इस वृत्ति को संवर करता और मन को उदार बनाता है।

८—यह-सोक-द्विर्दय की भावना में से आता है और उसी भावना को समाता है।

९—इतलिय साहित्य की कसौटी यह संस्कारशील है जो हृदय से हृदय का मेल चाहती है और एकता में गिठा रहती है। अहंकार का विरुद्ध मुचित करता है यह साहित्य करता। संकुचित करता है यह छोटा। अहंकार को नमन करने की आवश्यकता नहीं है। जो पर बुद्धकाठर है उसका जीवन अनायास सेबापरायण होता है।"

पृ० ११२-११३।

साहित्य के इस उद्देश्य को लेकर जसने से धनेक मान्यताएँ अपने आप प्युटी हैं जैसे जैनेन्द्र प्रमत्तव की तरह साहित्य को राजनीति से बड़ा ही नहीं

राजनीति का संघावन मानते हैं। 'राजनीति का संशोद्ध साहित्य' पृ० १०४ ११०। यह विषयगत अस्मीयता क समर्थक नहीं है। यह कृष्ण को ही मान्य अस्मीय मानते हैं। साहित्य और नीति' पृ० १२० उनका कहना है कि "बटना-बटना होती है। अपने घाव में न वह अस्मीय होती है न शिष्ट। हमारा उस बटना के साथ क्या नाता है उसके प्रति क्या कृति है—अस्मीयता इस पर निर्भर है। वहीं पृ० १२१। "अस्मीय और अस्मीयता" शीर्षक निबंध 'पृ० ४०२ ४१२ में इस मतव्य का विस्तार पुनः क समझाया गया है। स्वयं अनेक की रचनाओं विशेषतया सुनीता की गणना के संबंध में यह प्रश्न उठा है। इस प्रश्न पर अनेक के समाधान को समझ लेना आवश्यक है।

अनेक का विचार है कि अस्मीयता यदि है तो वस्तु में नहीं व्यक्ति में है। व्यक्ति में ही अस्मीयता का मूल तत्त्व-रूपित पापाचार या शीर्ष-शत्रु में नहीं है। अस्मीयता अपने के माय है। 'जहाँ शरीर-संबंधी अस्म्य है उनके वर्णन में विचल में सुचार-स्वच्छा में वर्णन-स्मरण में अस्म्य है कपट है वहीं अस्मीयता है।' 'अस्मीय और अस्मीयता' पृ० ४११। उनका कहना है कि शरीर-स्वच्छा स्वयं साध्य नहीं है अनीयुक्तियों को समझने-समझने अथवा अपने भी घावे बढ़कर उनके भीतर से अस्म-शर्म की शोक या प्रतिष्ठा का प्रयास है 'जहाँ अस्मीयता नहीं है। महान् साहित्य में ऐसे अनेक अस्म्य होते हैं जहाँ शरीर-शर्म को निःसंकोच भाव में कह दिया गया है। यही अस्म्य अस्म्य-रूपित और अस्म-शरीरणा के भी श्रेष्ठ बन सकते हैं। फिर उनके अस्मीयता यह रहेगी। इसी में अनेक अस्मीयता की व्याख्या मन की भूमि पर न करते हैं "जो अस्मीय है उनमें या तो दुःकाचाती है या भीमाचोरी। जहाँ या तो चुनीनी के साथ औपचार में शरीर का निरुद्ध वर्णन होना नहीं तो शीम के एक साइम्बर के शीमे भाव-अपेक्ष के साथ भीमा बुद्धिमान पीदा करने की बात होगी। जहाँ चाहे-बाँध मूखन है जहाँ हाट में काम लिया गया है जहाँ शरीरवाहे फिर अस्मना के ही हों विषय काम में लाए गए हों वहीं अचूक अस्मीयता है।" वास्तव में मन का अस्म्य ही अस्मीयता को अस्म्य देता है। उसमें ही अस्म्य और दर्श का निवास है। समाज-निहित कर्म में अस्मीयता नहीं है परन्तु कहीं-कहीं अस्म्य के अस्म्य में समाज-निहित कर्म भी अस्मीय बन जाता है अस्म्य में चाहे वह अस्म्यता अस्मीयता दिखाई दे। इस प्रकार अस्मीय अस्मीय की अस्म्य कर्म की अस्म्य अस्म्य है। अस्मीय देह को नहीं मन की है अस्म-शरीर की पाप-शरीरणा है अस्म्य-शरीर है। अस्म्य अस्म्य भी अस्मीय नहीं है। अस्म्य के अस्म्य अस्म्य में ही अस्म्य अस्म्यता है। इस अस्म्य में अस्मीयता बन का अस्म्य हावी। इसी में अनेक अस्मीयता में अस्म्य के अस्म्य अस्म्य प्रति अस्म्य-शरीर अस्म्य का अस्म्य अस्म्य है। अस्मीयता पर अस्म्य अस्म्य अस्म्य अस्म्य। पृ० ४११।

“मुनीठा” क संबंध में धर्मशीलता का प्रश्न उठाया गया है। जैनेन्द्र ने भी हम सबमें से स्पष्ट कहा है कि जानना नाम की चीज भीतर ही थीर हम सबके भीतर मन्मता मौजूद है। फिर उन्होंने यह भी कहा है कि मुनीठा का मन्म होना किसी व्यक्ति की नहीं प्रतीक की मन्मता है। तात्पर्य यह है कि जब मुनीठा वास्तव में मन्म नहीं है पतिव्रत के भावरण से बची हुई है तो वेह की मन्मता कोई जर्म नहीं रखती। तीसरा दृष्टिकोण यह भी रखा है कि उपन्यास के पात्रों में मानसिकता और भावना ज्यादा होती है। पापीर की मर्यादा कम। इस प्रकार मुनीठा की मन्मता का समर्पण किया गया है। मुनीठा के मन में पति बैठा है। इसलिए हरिप्रमन्न के समाने भावरण हीन बनने में उसे कोई भी मज्जा नहीं है। फिर मुनीठा तो उपन्यासकार के लिए किसी पिढाग्र या भव की प्रतीक है—मानी नारी की प्रतिनिधता “चीउर” का प्रतीक। इससे जैनेन्द्र को उसे चरम सीमा तक ले जाने हुए घमुरिवा नहीं होती। सब तो यह है कि “मुनीठा” में हरिप्रमन्न के भीतर की मन्मता ही बुरी है मुनीठा के वेह की मन्मता में तो उसके भीतर को धीर भी सुन्दर परिवर्तन दे दिने है। जो हो यह जैनेन्द्र का अपना दृष्टिकोण है।

“साहित्य और समाज” निबंध में जैनेन्द्र ने साहित्य और समाज के संबंध की विचार व्याख्या उपस्थित की है। उनके अनुसार साहित्य और साहित्यकारों की दो श्रेणियाँ हैं एक समाज को स्वीकार करता है फलतः उसका अनुरंजन अपना वह रूप समझता है दूसरा समाज की मायताओं एवं स्थितियों के प्रति विद्रोह करता है। दोनों ही कालियाँ समाज के लिए आवश्यक हैं। एक उसे स्थापित देती है, दूसरी पतिगोमता। एक में वर्तमान-वर्गन है दूसरी में भावी-वर्गन। एक में लोकप्रियता और मुस्वास्त्व है, दूसरी में दीपति की कटुता और घनाकपकता। परन्तु यही कालियाँ और पाँछु हान पर भी दीपति बस्याएकर नहीं है यह कौम बहु संकेता। जैनेन्द्र अनुरंजन और विनाम को साहित्य का कोई बड़ा ध्येय नहीं मानते। वह उसे ‘एन्द्रिय साहित्य’ या वैपिक अपसमपीस साहित्य कहते हैं जो इसके से मये धीर मुनावे में बालने वाला साहित्य है। जो साहित्य के इस रूप को अपनाने है वे समाज के अनुरंजक हैं समाज-जीवन के हमजोमी हैं। इसके विपरीत जो समाज के प्रति ऊपर से बटोर विचारों देते हैं वे भीतर से मुहू हैं बस्याएक्यु हैं। वे निष्काम और हित काम हैं। उन्हें समाज के हून की गहरी बैरता के साथ तात्काम्य पाने की चिन्ता है। साहित्य उनके लिए तप है। जैनेन्द्र को साहित्य का यह दूसरा रूप ही प्रिय है। उन्हें तप्यान्वेयम् है गहुराई है मत्प की प्रतिष्ठा का धामह है। यह धारण है कि समाज के प्रति विद्रोही वे कलाकार धारम्भ में उभेया ताँछा धीर बहिष्कार के पात्र होने हैं, परन्तु घंत में समाज उनकी उपयोजिता की समझ लेता है धीर उनके प्रति नमिष्ठ होता है। यही स्पृहणीय स्थिति है। निष्कर्ष इस प्रकार है “साहित्य दोनों प्रकार

के प्रयोजनीय है। लेकिन यदि अधिक आवश्यक अधिक उपलब्ध अधिक सामनाशील और अधिक चिरस्थायी किसी को हूँ कहना ही चाहें तो उस साहित्य को कहना होगा जो अपने ऊपर अपने स्वीकार करता है और चाह चाहुक की कोण से क्यों न हो समाज को धामे बढ़ाता है। वह साहित्य आदर्शप्राण होता है। अविच्छेद्य होता है चिरव्यव होता है,—किन्तु ऐसा साहित्य सहज-मान्य नहीं होता।" साहित्य और समाज पृ० २७।

परन्तु समाज की साहित्य के प्रति योग क्या इतनी कठोर हवाई कि वह बस मान में ही सब कुछ लेता। साहित्य लोक-जीविका का प्रतिनिधित्व करे वा उन्नयन। वैनेन्द्र आकाशवाणी कलाकार हैं। वह "प्रतिनिधित्व" की सीमाएं जानते हैं। उनका कहना है कि साहित्य समाज का भ्रम उधार कर हमारे सामने पेश करे, स्वार्थ भ्रम और धमका भी वह स्वीकार करे, परन्तु धामे बढ़कर या ऊपर उठकर वह स्वयं की धोर की प्रतिदान हो। साहित्य प्रतिनिधित्व करे, परन्तु प्रतिनिधित्व पर दृढ़ नहीं। वर्तमान के उन्नयन का दावित्व वह अपने ऊपर लें। वह समाज पर नहीं स्के धरन संभाव्य को सामने लाए, अविच्छेद्य की धरताएँ करे—“मनुष्य की निहृष्टता में उठे आशोचना नहीं है। अपनी उच्छ्रितता की पक्षा मनुष्य में उभा देता है। अपने विचारों में व्यक्तित्व परामित है तो इसीलिए कि अपनी निबिच्छा की निष्ठा उभमें मूर्च्छित हो गई है। व्यक्ति में अपनी ही संभावनाओं को आग्रह करना है। नहीं है वह कुछ नहीं है निहृष्ट नहीं है हृष्य। वह उज्ज्वल आत्म-नग्न है। विचारों को अपने में मूल बैठा है। उग्री की पाह दिना कर उनकी दृष्टि को सीमित कर दिया जा सकेगा। इन धरन में से उभे उभारने के लिए उभमें से विदाता का स्वयं उभा उठाया होगा। वह धृढ़ नहीं है हीन नहीं है। बीभत्स और धमकर नहीं है। वह निर्मल है मयर्ष है और आकाश की प्रति महान् है। "प्रतिनिधित्व या उन्नयन पृ० २२। इन दृष्टि कोण में समाज न रहकर उन्नयनकार के लिए आशोन्नयन या समाजानयन का साधन बन जाता है। वह नाप प्रतिनिधित्व नहीं रह जाता। धरतस्वभ्य लक्ष्यमयी आत्मविश्वास धरता समाजीकानिक नैजातिधता के द्वारा उनकी मलाई की परल नहीं हो सकती। उन्नयन में उभाउना के मूल कहीं धर विरगिन हूँ और जोधन क उन्नयन की धार उन्नयनकार की दृष्टि नहीं ता गई है। नहीं मान हृष्य है। वैनेन्द्र साहित्य के उभ रूप की कल्पना करते हैं जिनमें साहित्य आशोन्नयन बन जाता है और परन्तुगी लक्ष्य मनुष्यी प्रकृतियों एक हो जाती हैं। वैनेन्द्र के साहित्य का आकाशवाणी साहित्य बना देता है परन्तु उनके विचारों के मध्यक धरतस्वभ्य न २४। आशोन्नयन आशोन्नयन परल है। व्यक्ति की कहना को स्वीकार करने हूँ भी उन्नयन मोर लिन को नहीं भूने। यह धृढ़ता है कि वह मयर्षाओं का समाधान उन्नयन में करन

घोर करने वाले "ईश्वर" को रखकर तर्कहीन धार्मिक विमानों को घुबल कर देते हैं।

जो हो यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र साहित्य से ऊँची मर्यादा बनने हैं और उन्होंने साहित्यकार के व्यक्तित्व को सर्वोपरि रखते हुए भी समाज-हित को भूना नहीं दिया है। यह साहित्य कला को प्रतीक-कला मानते हैं और उनके अनुसार ब्रह्माण्ड और पात्र वास्तविकता एक सीमा में रह कर सामान्य और पारथकीय घोर इतिहास करते हैं और यही उनकी साधकता है। "पर" को "स्व" बनाना ही उनके साहित्य का ध्येय है। परन्तु यह "स्व" व्यक्तिबारी लक्ष्यों का कुठित ग्रहण नहीं है। यह वास्तव प्राप्तवाचक है जो सब की पीड़ा को अपने भीतर दर्शयता है और पाता है।

उपन्यास

"उपन्यास में वास्तविकता" 'व्यक्ति और टाइप' "उपन्यास-संरचना में उपन्यास" जैसे निबंधों में घोर धर्म लेखों में बीच-बीच में स्फुट प्रकरणों एवं स्वसंबंधी उल्लेखों में जैनेन्द्र ने उपन्यास-कला के संबंध में अपने विचार प्रकट किए हैं। उनकी अपनी उपन्यास-कला को समझने के लिए उन सूचनाओं से बड़ा सहारा मिलता है। हमें इन निबंधों में काफ़ी सामग्री मिलती है।

जैनेन्द्र उपन्यास को बहुत ऊँची भूमि से देखते हैं। उपन्यासकार को वह "निर्बैयक्तिक जीवन-साहसों में ठिन-ठिन अपने सहकार को उपाने वाला शक्ति" कहते हैं। उपन्यास-लेखक की निर्बैयक्तिकता या तटस्थ दृष्टि को ही उन्होंने "तप" कहा है। उपन्यासकार पात्रों में डूबकर अपने "घ" का भाव करता है। वह सबके साथ है इसलिए कि वह अपने में कुछ भी नहीं है। इस प्रकार उनके लिए उपन्यास धार्मिकवाचन या धार्मिककाल का एक भाग बन जाता है। उसी क इतर उपन्यास "उप" जिसे जैनेन्द्र "ईश्वर" कहते हैं की प्राप्ति करता है। परन्तु इस भाव की व्याख्या उन्होंने अपने ही बंध पर की है। "संयत्नसंबन्धन की इस कृति को लेखक में ही पहले लोभना है। ध्यान रहे कि यह दार्शनिक वा सत्य नहीं है जो निस्संदेह हो सकता है। यह तो सहीच विद्यमान सत्य है जो हर स्त्री-पुरुष के हृदय में हर दर्शक के साथ पड़कता मुन पड़ सकता है। घोर में मानना है कि इस कृति के भीतर अनाम या राष्ट्र या जाति या विश्व मरिच या धर्म सबके हित की बात आ जाती है। अतएव वे किसी घोर उपयोक्ता को पकड़ रखने की उद्यत नहीं पड़ती।" उपन्यास लेखक में तप चाहिए, पृ० ४३५, वास्तव में तत्व-ब्रह्म के लिये जिन तटस्थता की आवश्यकता है वह उपन्यासकार में हो परन्तु उसमें धार ही सहानुभूति भी हो तभी उपन्यास का संपानुसंधान मार्मिक और रसात्मक बन सकता है। जैनेन्द्र के शब्दों में "दार्शनिक मीमांसक है। वह व्यष्टि को साथ मरकता है। व्यवहार की घोर से बीच बीच सकता

१८२। जैनेन्द्र मनोविश्लेषण पर आधारित उपन्यास-कला के विरोधी हैं। अपनी छात्रिय मन की पुस्तिकाओं का छात्रता वह व्यसम और योरवर्षया मानते हैं। व्यक्ति के मन को बुद्धि की शक्ति लेकर उसके संश्लेष में इष्टि गाढ़ कर नीचे से उतरने के प्रयास को वह हास्यास्पद कहते हैं। वह मनोविज्ञान को उपन्यास से बढ़ा नहीं मानते उनका कहना है "मनोविज्ञान को साम्य बना कर चलने में उतरा है। उपन्यास मनोविज्ञान का संयुगा नहीं है। मनोविज्ञान उसके पीछे गया जैसे यह भूमरी बात है। उपन्यास का लक्ष्य दूसरा है। जीवन की स्फूर्ति देकर उसे ऊर्ध्वगामी बनाना उनका काम है और यदि जीवन के भीतरी स्रोतों को सुमग्नने का उनका प्रयास है तो इसीलिए कि जीवन अपनी एकड़ से छूटे और ऊपर उठने में समर्थ हो।" पृ. १८३। वास्तव में वह यहाँ भी एक या प्रतीक ही चाहते हैं। जैसे घटनाएँ प्रतीक हैं जैसे पात्र भी प्रतीक हैं। व्यक्ति का व्यक्तित्व क्या है इसका विश्लेषण वह इस प्रकार करते हैं "व्यक्ति घसम में क्या है? क्या वह प्रतीक ही नहीं है। अपने समय और अपनी परिस्थिति में संप्रतिष्ठ प्रस्न-चिन्ह को एक विज्ञाता को लेकर वह उठ है। उन उतर की गौर है। उनके भीतर कोई बन्ध भीड़ होड़ी ठा अगत से उनका माना गया बनता। पर अगत में वह कुछ सेता और कुछ देता है। इसी में उनका निरतत्व और व्यक्तित्व बनता है। सब पूछा जाय तो इन घात्मज्ञान के कर्तव्य में श्रितना अपने को रोड़े रगता है दुर्लभिम न आकर अपने को घसम रगता है वह व्यक्तित्व की शक्ति में उतना ही हीन बनता है।" "यदि पृ. १८४—८५।

उपर के विश्लेषण से जैनेन्द्र की उपन्यास कला के घतरण के संबंध में यह बात होता है

(१) वह उपन्यास में तटस्थ परन्तु सहानुभूति पूर्ण विश्लेषण के बसवानी है। तटस्थता के कारण निबंधमतिक्रमा आएँगी और सहानुभूति के कारण रस पुष्टता।

(२) वह उपन्यास में बस्तु जगत के घटमघ को बुद्धि सीमागा और कसना से पुष्ट करके जीवन का संभाव्य रूप दिगसना चाहते हैं। सामयिकता में बंधना उनका ध्येय नहीं है।

(३) वह बस्तु जगत में सत्य की घनेघा भाव जगत के सत्य पर घषिक बम देने है।

(४) उनके लिए बस्ताएँ और पात्र प्रतीक मात्र हैं उन्हें नावाश्रितना इगनिए ही जानी है कि पाठकों को के बल-मंडित न लने।

(५) चरित्र की मानसिकता और व्यक्तित्व की भीतरी क्या और गण्यता को उभासना ही उनको क्या वा उह र्य है।

(६) चरित्र विश्लेषण को घम्भीरान करके के कारण चरित्र सभ्य को ही वह घामय मानते हैं। जैनेन्द्र के बम हुए ही पात्रों को, उनमें घनेक उपन्यासों में इन्हें पात्र

ही बतलाए गए हैं, लेकर चलते हैं। वह बहिष्कृत को छोड़कर व्यक्ति के अन्दर के कलाकार क्यों बने इसे उन्होंने यों समझया है "बहिष्कृत को भ्रमण करके चुका देना कठिन है। उसका पूरा ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं।" बस्तुतः बहिष्कृत एक सुमाया है। बहिष्कृत के नाम पर यदि कुछ रचनाएँ हुई हैं तो उनमें भी कलाकार बहिष्कृत के उपलक्ष से अपने को खोजता या व्यक्त करता है। वह बूझता कुछ कर नहीं सकता। अन्तर यही है कि अपने लिए मैं इस घनिष्ठता को स्वीकार कर लेता हूँ। विविध पृ ११२।

(७) पात्र की चार्चित्वता को वह मनोविज्ञान पर मनोविद्वानपण प्रधान धरा साध्य न बनाकर चरित्र का स्वसाध्य बनाता चाहते हैं। बदाचिन् मान-बुद्ध कर वह मनोवैज्ञानिक कठिनों को छोड़ देता है जिससे उनके पात्र भाव-चित्तकाण और चिस्फोट मय बन गए हैं। इस प्रकार जैनेन्द्र का दावा है कि वह सृष्टि-कर्ता की सृष्टि की अनुकूलि नहीं स्वयं सृष्टि बन जाते हैं। परन्तु तब यह प्रश्न होता है कि वे हमारे लिए मार्गक बने होंगे। निश्चय ही वे हमारे लिए सृष्टा की सृष्टि की तरह प्रभु बन रहे होंगे। फिर जैनेन्द्र मुसम्माना चाहते भी क्या हैं? उनके लिए यह सृष्टि शेर उनका कार्य-व्यापार किन्नी ईश्वर की पत्नी भनकून् पहेसी है।

इन दृष्टिकोण को लेकर समीक्षक जैनेन्द्र की उपन्यास-कला की परीक्षा कर सकता है। परन्तु प्रश्न यह है कि यह दृष्टिकोण क्या जैनेन्द्र की उपन्यास-कला के मूल में स्थिति है या उनके उपन्यासों पर उनकी बुद्धि द्वारा आरोपित। जो हो यह धनस्य है कि जैनेन्द्र की साहित्यिक विचारधारा एकामी होते हुए भी स्वानुभूतिजन्य और स्पष्ट है और एक हक तक उनकी रचनाओं की समझने में सहायक हो सकती है। प्रत्येक कलाकार अपनी घनिष्ठता और ध्वन-प्रक्रिया के संघर्ष पर ही साहित्य का रसक सजता है फिर चाहे तो उसके दृष्टिकोण पर एकामीपन का आरोपण क्यों न हो। जैनेन्द्र का दृष्टिकोण एकामी है परन्तु वह इसके लिए तार्किक नहीं टूटता या सजता है। उन्होंने अपनी दुर्बलताओं में ही महानता देखी हो यह तो संभव है क्योंकि व्याख्या बुद्धिमत्क और भाई-बहन बस्तु है परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि उपन्यास की घनकामक कोटियों में से उनका उपन्यासों की भी अपनी कोटि हो सकती है और उपन्यास-जगत में उसकी भी सरण रहेगी। उन्होंने कहा भी है "उपन्यास की परिधि देखा टीक नहीं एक जाती है इसका मुझे ज्ञान नहीं। उपन्यास-सेवक में तप बाहिए।" प १२२।

कहानी

उपन्यास के संभव में जैनेन्द्र ने जो कहा है वह कहानी पर भी लागू होता है। उनमें भी यथावत धारण नीति और अनीति व्यक्ति और टाइप के वे ही प्रश्न

सृष्टे हैं जो उपन्यास में। समाधान दोनों का एक ही है। उपन्यास की तरह कहानी को भी जैनेन्द्र प्रयोग ही मानते हैं। जीवन-विश्वा की भूमि पर से, उपन्यासों की तरह कहानियों की भी सृष्टि होती है जीवन-विषय नहीं जीवन-वर्षात उनका ध्येय बन जाता है। इसीसे कहानियों का रूप-रस उन्हें अधिक दिया है। इस प्रकार प्रेम-कथ्य जैसे बड़े बड़े कहानीकार के विपरीत उनकी कथा है। प्रेमकथ्य जीवन के प्रति उन्मत्तित है माधुर्य है इसलिये जीवन परकृते हैं। विद्यालय बनाकर वह नहीं बनते। कहानी में जीवन जैसा झलक जाता है उसी पर से वह सिद्धान्त धारण करते हैं। जैनेन्द्र सिद्धान्त के अनुसार जीवन कहते हैं। जो जैनेन्द्र के लिए धारणा है वह प्रेमकथ्य के लिए प्रथम था। फलतः उनके साहित्य में संबंध और कहानी की रूपरेखाएं एक ही गई हैं और विषय के संबंध में मन में संका बनी ही रहती है कि वह अनुभूत है कि कल्पित। जैनेन्द्र की घटपट जाया-जैसी जीवन की वास्तविक स्थिति का ध्येय बराबर बनाने नहीं रख पाती। उनकी घटनाएं और उनके पात्र जीवन से प्रसृत जैसे मान मन की सृष्टि जैसे लगते हैं, और बहुत कुछ अनुभूत धारणा सम्राट रहता है जो पाठक का घटपट ही करता है।

स्वयं जैनेन्द्र ने 'कहानी क्यों लिखते हैं' का उत्तर देते हुए कहा है "वह कहानी जो एक भूमि है निरंतर समाधान देने की कोशिश करती रहती है। कहानी उस समाज के प्रयत्न का एक उदाहरण है। वह एक निश्चित उत्तर ही नहीं देती पर वह समझता रहती है कि समाज उत्तर इस रास्ते से मिले। वह मुश्किल है, कुछ मुश्किल होती है। और पाठक अपनी विनम्र बिरा के सहारे उस मुश्किल से ले लेते हैं। कहानी क्या पु० १७५। इस दृष्टिकोण से कहानियों में कहानीकार दुनिया को और ध्येय धारण करने की समझने का प्रयत्न करता है और उनके रास्ते तथा समाधान ही बताते हैं। कहानी की कार्यक्षमता उसकी व्यक्तता शक्ति में है। वह अर्थोक्त के कुछ मुद्दों पर जो प्रति से सभी सार्थक है। जैनेन्द्र में जैनेन्द्र कहानी में बुद्धि-तन्त्र का धारण करते हैं। कैबल मनोरंजन या पात्रविषय मात्र नहीं अनुभव और उनके प्रश्नों तथा समस्याओं को समझने का प्रयत्न ही कहानी के भूमि में रहता है। परन्तु समाधान एक भी हो सकता है और अनेक समाधान भी संभव हैं। घट कहानीकार जैनेन्द्र की दृष्टि में समाधान अपना मुख्यताम नहीं है। प्रश्न को उठाना और भीतर के बोध को बाहर करना ही कहानीकार का काम है। मैं और मेरी दुनिया कीविक विचार में जैनेन्द्र ने जो निगाह है वह उनकी प्रारंभिक कहानियों के निर्माण-समय और उनकी मर्त्य-विश्वा पर प्रकाश डालता है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि उनका और उनकी दुनिया का संबंध दूरी का नहीं है घटित उन संबंध के मूल धारण है। बुद्धि की भूमि पर वह बराबर नहीं करते हैं। प्रश्न बौद्धिक है तो कहानी के रूप में उन्हें जो समाधान भूमि है वह निर्यात घटोडित है। दस दृष्टि में वह अपनी कहानियों में सामाजिक है। इस का रोग

की वह स्वीकार भी करते हैं। कहते हैं "रोमाण्टिक होना मुझे स्वीकार है। इसमें कदां भीर कृति का संबंध भारतीय ही रहता है। रोमास का संबंध सजीव है कृत्रिम नहीं। जोर विभाग का संबंध बकर कृत्रिम हो जाता है। उसमें सेबक भीर उसके सेब के बीच में धनाशयीयता का फसना पड़ जाता है। 'मैं भीर मेरी कृति पृ० ३३२ ।

यही शिटकोल जैनेन्द्र को 'टेकनीक' के प्रति प्रसहिष्णु बना देता है। वह चित्र को धनाशयक नहीं मानने परन्तु कर्तव्य छोटी चीज न होकर भी इतनी बड़ी चीज नहीं है कि कहानी पर छा जाय। इन्होंने कहानी का मूल तत्व माना है 'जान को कहानी को बढ़कण देती है जो लुप जाती भीर हमरे को जिताती है। 'मैं भीर मेरी कृता पृ० ३३३। धार्ये इसे ही स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं "अपने अनुभव से मुझे जान पड़ता है कि कहानी में ध्रुव वस्तु वह 'जान है। अपने प्राणों के सिवाय कहीं भीर से वह चीज रचना में गही पहुँच सकती। भीतर प्राण हो तब ऊपर रूप-सौन्दर्य की मसक का हो घाना भी दुर्लभ नहीं रहता। अद्यत में रूप-सौन्दर्य की प्रास से स्वतन्त्र स्थिति ही नहीं है। भाकर प्रकार की साध-साध साधन-सम्पदा प्राण के अभाव में कहानी को सेवा नहीं सकते। वह बल्कि तब उभटे ध्यंग भीर विदम्बना बन जाती है।" कहानी-लेखन को अपनी प्रक्रिया को उन्होंने यों समझाया है "कहानी लेखक किसी घटना को अत्य को या जान को अनुभव करता है और सहसा उसे पकड़ लेता है—वह उसके मन में बैठ जाता है। उस इसी बिन्दु से कहानी शुरू हुई और अपने माप ही बढ़ती गई। जहाँ लतम होना है वहाँ अतम हो गई 'जहाँ उठ रोका टैकनीक बिगड़ गई।" कहानी क्या पृ० ३०८।

कहानी-लेखन में जैनेन्द्र कहाँ पर है, यह कहना कठिन है। कदां भीर कौन कहानी की तुलना करते हुए उन्होंने कदां कहानी के खोर, माकता जान वेधन की प्रसंसा की है और कौन कहानी के स्पष्टिकरण की 'कैलेसिटी' 'प्रकट करने के सुन्दर सुहावने ढंग का पसन्द किया है जो कहानीकार के भीतर के प्रमोद अथवा धान्य का प्रकाशन है। जैनेन्द्र में दोनों बर्णों का बोहा-अहुत अंश है परन्तु अंग अहुत कृष्ण उनका अथवा हो गया है जो अमचन्द्र को अयेला एधि बाहु की कसा के अथिक निकट है। परन्तु जैनेन्द्र का अेध अुदरेव के अेध से अथिक विस्तृत है और उन्होंने विदम्ब देखा विज संस्मरण रूपक सभी अंश अथनामे हैं और कहानी के विकास की घायी उड रिली उनके साहित्य में हो गई है।

अेधअन्व से कही अथिक जैनेन्द्र की कहानी भारतीय कहानों के प्राचीन पीरव का पुनरुधार करती है। भारतीय कहानी की अम्भुमि रहा है और कहानी कहने की विविध विधिल भीर अनेक कवी अैलियों के निर्माण में वह अेजोड़ है। यही जैनेन्द्र की कहानी-कसा का अम है। उनके साहित्य में कहानी भारतीय अथिन है रूपक है, घटना

छठे हैं जो उपन्यास में। समाधान दोनों का एक ही है। उपन्यास की तरह कहानी को भी जैनेन्द्र प्रयोग ही मानते हैं। जीवन-चिन्ता की भूमि पर से उपन्यासों की तरह कहानियों की भी सृष्टि होती है। जीवन-चित्रण नहीं जीवन-वसन उनका ध्येय बन जाता है। इसीसे कहानियों का रूप-रूप उन्हें प्रतिक्रिया प्रिय है। इस प्रकार प्रेम-बन्ध जैसे बंधे सधे कहानीकार के विपरीत उनकी कला है। प्रेमबन्ध जीवन के प्रति उत्सर्गित है। भावुक है इसलिए जीवन परकूटो है। सिद्धांत बनाकर वह नहीं चमकते। कहानी में जीवन जैसा झलक जाता है उसी पर से वह सिद्धांत माने बैठते हैं। जैनेन्द्र सिद्धांत के अनुसार जीवन गढ़ते हैं। जो जैनेन्द्र के लिए धारम्भ है वह प्रेमबन्ध के लिए अंत था। फलतः उनके साहित्य में निबंध और कहानी की रूपरेखाएं एक हो गई हैं और चित्रण के संबन्ध में मन में अंका बनी ही रहती है कि वह अनुभूत है कि कल्पित। जैनेन्द्र की घटपट आया-सीनी जीवन की वास्तविक स्थिति का रूप बराबर बनाये नहीं रख पाती। उनकी घटनाएं और उनके पात्र जीवन से घर्षवृत्त जैसे मात्र मन की सृष्टि जैसे लगते हैं और बहुत कुछ अनुभूत प्रकृत अभाव रहता है जो पाठक को असन्तुष्ट ही करता है।

स्वयं जैनेन्द्र ने 'कहानी क्यों लिखते हैं' का उत्तर देते हुए कहा है "वह कहानी जो एक मूल है निरंतर समाधान पाने की कोशिश करती रहती है। कहानी उस लक्ष्य के प्रयत्न का एक उदाहरण है। वह एक निश्चित उत्तर ही नहीं देती पर वह समझता रहती है कि धारण उत्तर इस रास्ते से मिले। वह सूक्ष्म है कुछ मुक्त देती है। और पाठक अपनी चिन्तन क्षमता के सहारे उस मूल को से लेते हैं। कहानी क्या पृ० ३७८। इस दृष्टिकोण से कहानियों में कहानीकार दुनिया को और धर्म-तत्त्व को समझने का प्रयत्न करता है और उनके रास्ते तथा समाधान डूबता है। कहानी की सार्थकता उसकी ध्येयता शक्ति में है। वह उद्बोधन के कुछ मुक्त, मन को यति से सभी सार्थक है। संक्षेप में जैनेन्द्र कहानी में बुद्धि-तर्क का आग्रह रहते हैं। केवल मनोरंजन का वाचविशेष मात्र नहीं मनुष्य और उनके प्रश्नों तथा समस्याओं को समझने का प्रयत्न ही कहानी के मूल में रहता है। परन्तु समाधान एक भी हो सकता है और अनेक समाधान भी संभव हैं। अतः कहानीकार जैनेन्द्र की दृष्टि में समाधान अज्ञान मूल्यवान नहीं है। प्रश्न को उठाना और भीतर के बोध का आशय करना ही कहानीकार का काम है। 'मेरी और मेरी कवि' शीर्षक निबंध में जैनेन्द्र ने जो विगा है वह उनकी प्रारम्भिक कहानियों के निर्माण-तर्कों और उनकी नर्तन-विद्या पर प्रकाश डालता है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि उनका और उनकी कृतियों का संबंध ही का नहीं है। यद्यपि उन संबंध के मूल धारण है। बुद्धि की भूमि पर वह बराबर नहीं खोते हैं। प्रश्न बौद्धिक है तो कहानी के रूप में उन्हें जो समाधान मूल्य है वह निराल्प अर्थोत्पन्न है। इस दृष्टि से वह अपनी कहानियों में रोमांटिक है। इन आरोप

है पात्र है तथ्य भयना उपदेश है जीवन का वास्तविक कल्पित या संभाव्य चित्रण है संकुर है और महात्मा बट बुद्ध है। वास्तव में उपन्यास की अपेक्षा उन्हें कहानी में अधिक लक्ष्यता मिली है। यही कर्वाचित् उनका प्रकृत क्षेत्र है। उपन्यासों में वह धक्कू हैं कहानियों में बुझे-जाने। जीवन के उन सरकते हुए सखों को कुश्र और प्रेम की बटुस सहृदियों को उग्होंने कहानी की जाबूबरी से भूब पकड़ा है जिन जीवन की अनतस्पर्शी बहुराश्यों और घनेकरबी स्थितियों का वह अपने उपन्यासों में निर्वाह नहीं कर सके।

‘अपनी कैफियत’ में उग्होंने प्रेमबन्ध की कहानियों की एक विशेषता उनका ध्यबहार-धम बतसाया है। उनकी कहानियों के बीछटे घात-यास के यथाच जीवन पर से उठकर लिए गए हैं और उनके पात्र सामाजिक जीवन से ऊपर नहीं उठ पाते। समाज हीनपिता ही उनकी शक्ति और सीमा है। कमस्वरूप प्रेमबन्ध जानते हैं कि वह क्या भिग रहे हैं और क्यों निरु रहे हैं। उनकी रैलाण काफ़ी उमार पर है। इस जैनेन्द्र ने ‘कहानी गढ़ना’ कहा है और उनका अपनी कहानी का धारण कर्वाचित् कहानी “निकास केंकना है। एसी तरलता कि पात्र हाव में न धाएँ, जैनेन्द्र को प्रिय है। जीवन जैसा धक्कू है, कहानी बीसी ही धक्कू रहे। इसीमे वातावरण की कहानियों का उग्होंने सुन्दर माता है और एक ऐसी ही कहानी के भीतर धियो अपने अनुभव का बिरसपण भी किया है। ‘अपनी कैफियत’ पृ० ३४३ ४। इस भाग के धंत में कहानी के संक्षप में उनकी चारणा ऐतिहासिक बरिबेध में कुसती हुई सामने आती है। “तमी ठो जो धसम्मब की रैरा को छुनी है और जो स्पून भीतिक जपन् की सम्मबता की सीमाधों न पराशिन नहीं है वह क्या जान कास के बितने स्पून पटस को भेरती हुई गणाधियों मे धब तक जीवित बनी हुई है। पुराणों की देबता और रासन वाली कहा नियां जानक की कबाएँ और ईपम की पमु-बसियों की बालीएँ कौमर हमारै नित्य धनि क जीवन में कुम-बिस नई है। धन यथार्थता का धाबग्गन और अकसेप जिन पर जिनना कम है वह कहानी समय की छननी में छननी हुई उतनी ही खेह भी ठहरे ठो मुझे धबदर न होना।” यह स्पष्ट है कि यह हल्लिकोण कहानी को स्पून वास्त बितना और यथार्थ के बग्गन मे मुक्त कर देता है और उसे क्या एवं कपना की बीछ बना देता है। इनमें उग्हें नहीं कि जैनेन्द्र की कहानियों में बीसी गंमठन अंजिना क्य-निर्वाह लय और बोप के लेना में प्राचीन पृष्ठों को उमटा बना है। उनकी कहानियों उबनित्तों जानकों जैद-गुणलों बध्यगुमीन गाथाधों गानी-बादी की कहानियों परी-गोद की कुश्रों और माक-बालीधों को पुनर्जीवित कानी है। उनकी क्या सुदर के उद्बोधन में है स्पून की बटुरबी धाश्रुतियों न नहीं। उनकी कहानियों में बाहर भीतर की रैलाएँ बार-बार विद नई हैं और भीतर न बाहर का बरइन के प्रपल ने कनकी बना को निरचन बना दिया है।

जैनेन्द्र अपने साहित्य पर

अपने किये हो निबन्धों में" जैनेन्द्र ने अपने साहित्य के संबंध में ऐसे घट-मूत्र किये हैं जो हमारे लिए बड़े काम के हैं और बिना उन्हें धुँठिल घाव से अपनी उपसर्गियों और असफलताओं को उस्मिद्धित किया है। जैनेन्द्र के अध्येता के लिए ये स्वतः प्रायः महत्वपूर्ण हैं। जैनेन्द्र का कहना है कि वह अपने निबन्धों में अधिक सत्यता से पकड़ में आते हैं अपने कथा-साहित्य में वह प्रबुद्ध बन पड़े हैं।^१ इस प्रकार इन निबन्धों का महत्व और भी बढ़ जाता है।

पहले हम साहित्य के संबंध में सामान्य चर्चा को सँभे फिर उनकी विभिन्न रचनाओं को।

जैनेन्द्र ने अपने साहित्य के अथ पत्र का उद्घाटन करते हुए यह कहा है कि वह स्वातंत्र्य-मुक्तता पर घटफटे को संभार है जोड़-हियाय तक न भी जाए तो भी कोई हानि नहीं देखते।^२ उनके अनुसार प्रारम्भ में लिखना उनके लिए "धुँधल अस्केप और पसायन का।"^३ इसे ही स्पष्ट करते हुए वह लिखते हैं "पहला अथ मेरे साहित्य का यह हुआ कि उसने मेरी रक्षा की। मैं बचकर उसमें घरण से सका, उसने मुझे बिलाया। अपने भीतर की घातमन्तानि हीन-भावनाएँ और उनमें लिपटी हुई स्वप्न-कांक्षाएँ—इस सबको कामज पर निकाल कर जैसे मैंने स्वास्थ्य का नाम किया। जो

१ देखिए निबन्ध सीपक 'मेरे साहित्य का अथ और प्रश्न' "अपनी ईच्छित" में और मेरी इति" और "मैं और मेरी कथा।

२ "सीधा अर्थों द्वारा जो कहा गया वह निबन्ध-साहित्य तो मैं मानता हूँ मुझे पाठक के हाथों पकड़वाई में से ही वेता है। कथा में सतस्य अर्थना और अर्थ का सहारा हो और उसके बारे में हिंसा होती हो परन्तु निबन्धों में तो कांक्षी प्रत्यक्ष और स्पष्ट रूप से मैंने अपनी चारणा के अर्थ को जोता और बताया है। 'मेरे साहित्य का अथ और प्रश्न' पृ० १५।

३ वही पृ० १।

४ वही

मेरे घंवर बुट रहा घोर मुझे घोर रहा था उधी का बाहर निकालने की पठति से देखा कि मैं उतम मुक्ति वा रहा हूँ। उसके नीचे न रह कर उनके ऊपर था रहा हूँ। वो कमजोरी की घोर मुझे कमजोर कर रही थी उमी को स्वीकार करके घोर रूप घोर धाँदार पहनाकर, मैं स-कमजोर—क्या मजबूत—बन रहा हूँ। इस धनुष में से मैं कहूँगा कि साहित्य का पहला ध्येय है जीवन का नाम। अपनी संतर्गतता की स्वीकृति घोर जाति अपने भीतर के विद्रोह की छाति सनसत की समाप्ति घोर व्यक्तित्व की उत्तरोत्तर एकनितता।”

इस विचार से साहित्य एक प्रकार का केम्पारसिग है जो धारमपरिष्कार का साधन बन जाता है। साहित्यकार अपने भीतर के अभावों कुच्छत्रों हीन प्रायनाओं से मुक्ति पाने के लिए ही साहित्य-मूढन करता है और इस प्रकार साहित्य धारम-निबन्ध की प्रक्रिया बन जाता है। वह “स्व”-नितृता है अपने भीतर को बाहर लाना है।

परन्तु क्या यह धारम-दान नहीं है। यद्यपि जीनेन्द्र लिखते हैं कि ‘असक देने के लिए कुछ दे सकता है यह मेरी समझ में नहीं आता। (वही पृष्ठ १३ १४) परन्तु देने के लिए देना” यह चाहे नहीं ही देना तो यह है ही। स्वयं जीनेन्द्र कहते हैं “हमारे धारम धारम अभ्यस्त है। मेसा उसमें है पोला उसमें है। उस सबको स्वीकार करके धर्म: धर्म: उमे बाहर निकाल कर अपने को रिक्त कछे जागा—मेरे गपान में यह काम बड़ा है। दगछे धमग सजंन क्या होता होना यह मैं जानता नहीं हूँ। वही पृष्ठ १२।

इसी सम्बन्ध में जीनेन्द्र ने अपने साहित्य के दूसरे प्रमुख पक्ष की घोर इतिवृत्त किया है। वह है धारम-वाद यिसे वह भावना-बद्धि बाहने हैं बौद्धिक नहीं। उनके चरनों में “अपने साहित्य द्वारा वह (सिगक) कुछ “ए कुछ ध्येय का आदर्श की प्रतिष्ठा करता बाहना हो तो यह उसके कर्म में धर्मकत बाव नहीं है। लेकिन फिर वह इत वा उचित उसके लिए बौद्धिक प्रतिपादन का विषय नहीं रह जाएगा। धारम भावना से धारम धारम में या कि बाधना से धारम भावना में उनकी स्थिति नहीं है। तबुभी माननिबन्ध में उमे रभा घोर समाया हुआ होना चाहिए।” वही पृ० १४।

तीसरा पक्ष है “बुद्धि की दुपगनी।” “बुद्धि को निनी मोन में नहीं छोड़ सकता है। लेकिन मेरे धारम लभने बहरे में वह प्रतीति है कि बुद्धि करनी है। धारम वह यदा की गानी है। इतिवृत्तों की तरह बुद्धि भी बरार्थ के लिए है। धारम के घोर बरार्थ के साथ निबटना ही उनका रोम है। रोम में उम पूरी तरह यदा के संयुज में रन कर बनता जाता। “बुद्धि इत पर बनती है। धारम मेरे साहित्य का धारम ध्येय हो रहता है धारम घोर धारम गत्य। उमी का धारम-साहित्य रूप है धारम धारम धारम के धारम धारम धारम धारम धारम।” वही पृ० १३।

इस प्रकार लेखक ने अपने साहित्य के चार तत्व माने हैं

१ आत्म-परिष्कार अथवा आत्मोपमन्थि ।

२ भावनामिष्ठ आधार ।

३ बुद्धि की शुष्मनी ।

४ साहित्य अर्थात् समस्त चरित्र चरमत् के प्रति प्रेम ।

अन्व स्थलों पर उसकी कुछ अन्य मायवाएँ भी सामने आती हैं

१. अपने भीतर के कुष्ठ-भाव और उमार को बाखी बेकर हलका करने का प्रयत्न ।

२. सत्यानुसंधान मात्र भूमि पर से ।

३. वस्तु-चरमत् के प्रति आत्मिक विजाता को बाहर को भीतर की सहायता से पाना चाहती है और जिसमें मनोनिष्ठता है ।

४. ईश्वर-बोध ।

अपने साहित्य के मूल स्रोतों पर भी लेखक ने अपना विचार प्रकट किया है ।

वह अनुसुप्त अर्थ को बाणी देता साहित्य का धर्म मानता है और इस धर्म को ही अपने साहित्य में निभाया है । वह कहता है, "कोई सामाजिक प्रतिष्ठा मेरे पास नहीं । जो मेरा अभाव था वही मेरा सौभाग्य बना । ज्ञान और भाषा के अभाव में मैं बही कर सकता था जिसका मुझे अनुभव था । व्यक्तिगत अनुभव मैंने कहे इसलिए लोगों के मन को अपने छुपा होगा । राष्ट्र-भाव और प्राचीन भाषाएँ पृष्ठ ९४ । परन्तु यह अनुभव अन्य किम सीमाओं में बसा है यह भी हमें देखना होगा । प्रेमचन्द की तरह जीनेन्द्र वस्तुवादी कलाकार नहीं हैं । वह अपने चारों ओर से उस रूप में उस ग्रहण नहीं करते जिस रूप में प्रेमचन्द उस ग्रहण करते हैं । अपनी कैफियत बेठे हुए जीनेन्द्र ने प्रेमचन्द की उपमास मिथने की सलाह का उत्सख करते हुए कहा है कि वह प्रेमचन्द की इस सलाह को "धरे, घर के गले-रिस्तेवार जो हों बस उन्हीं को लेकर लिख दो । —लेकर नहीं बन सके । न लिख सके न लिख ही पाते हैं । वास्तव में यही से प्रेमचन्द जीनेन्द्र की कला का भेद शुरू होता है । जीनेन्द्र लम्बवादी नहीं भाववादी हैं । वह भीतर दूखते हैं विचार में भाषा में लम्प में नहीं । लम्प को भी वह भाषना और विचार में रंघ कर विचक्षण बना देते हैं । यह उनकी मजबूरी है या विधेयता है जो कहिए । फिर इसी लेख में उन्होंने प्रेमचन्द का उत्सख करते हुए बताया है वह सामनापूर्वक साहित्यकार बने थे । साहित्य उनके लिए कमी विनास का रूप न था । वह कहानी पढ़ते थे तैयार करते थे । उस विकास नहीं लेखते थे । 'साहित्य का खेब और प्रेम पृष्ठ ३४० । परन्तु जीनेन्द्र की साहित्य-प्रक्रिया ही दूसरी है । 'धंके का मर्द' कहानी की सर्वन प्रक्रिया बताने हुए उन्होंने स्पष्ट किया है कि किष्ट प्रकार एक अन्व को लेकर, कल्पना के बस पर, उन्होंने अपने भीतर से

कहानी निकाली। "बतमान पर जो बहू संबा थाया वा उसको तनिक पतीठ घोर कर घनागत की घोर फँसा कर देला कि कहानी हाथ भा गई। यह साछ है कि इस प्रकार की रचना जीवन के साथ स्वाम नहीं कर सकती। बहू भाव-सत्य ही बेपी बस्तु सत्य नहीं। साहित्य का सत्य भाव-सत्य ही है बस्तु-सत्य नहीं जो बिज्ञान और रेषामणित वा विषय है परन्तु बस्तु-सत्य पर ही भाव-सत्य को आधारित होना होगा। एवम भाव-सत्य पर सिधी रचना आकर्षक भवे ही हो उसका मेक-बण्ड दुर्बल होगा। परन्तु वैनेन्द्र का दृष्टिकोण दूसरा है। उनकी रचनाओं से यह स्पष्ट है कि उनका जीवन का अनुभव बस्तु वास्तविक नहीं है, व्यापक तो कदापि है ही नहीं। बस्तु उनके चिन्तन को उभार कर घोंग के मामले से हट जाती है परन्तु वैनेन्द्र ने अपनी इस दृष्टि को ही बना बना दिया है। उन्होंने अपनी कहानी के सम्बन्ध में जो सिद्धा है वह उनके सम्पूर्ण कथा-साहित्य पर लागू है 'कहानी इतिवृत्त ही तो है। यानी उसमें स्थिति स स्थित्यान्तर अर्थात् जीवन-गति होती चाहिए। काल का कुछ स्पन्दन कुछ तनाव कुछ अनुभव हो वही तो कहानी का रस है। यह पन्ना द्वारा अनुभव कराया जाय वा चाहे तो बिना पन्ना के ही अनुभव करा दिया जाय। कुताबे एमी भी सफल कहा गया है जिनमें दोबो तो घटना तो है नहीं फिर भी रस भरपूर है।' 'अपनी कैलि-यत पृष्ठ ३८० अपनी अन्तर्मुखी प्रकृति के कारण उन्होंने यह मान लिया है कि जिन रचनाया में वैदिकता स्वल्प घोर भावामकता ही उत्कट है उनमें स्वाधित्य भी अधिक होगा। जो अममम की रेखा को छूनी है और वा स्पून मीतिक जगत् की संभवता की सीमाओं में पराशित नहीं है वह कथा जाने काल के कितने स्पून पन्नों को भेदती हुई गताग्रियों में सब एक जीवित बनी हुई है। पुराणों की बेवठा घोर राधम वाली कहानियाँ आतक की कथाएँ घोर ईपम की पशु-नाधियों की कालीएँ वीज वर हमारे त्रिप्य प्रति के जीवन में पुन-विभव गई हैं। अतः पदार्थता का आकषण घोर अवशेष जिन पर शिक्ता कम है वह कहानी लभय की रूप-नी में घनी हुई उतनी ही श्रेष्ठ भी ठहरे तो मुझे सबरज न हाया।' वही पृष्ठ ३८४।

ऊपर के सबररण से यह निष्कर्ष है कि वैनेन्द्र अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर्मुखी घोर आतक जीवन के चिन्ते हैं। उन्होंने कवि का शेष अपनाया है। पद्य उनकी निरी नीरस हा परन्तु अत्यन्त भीतर वा उनका विषयगत भाव जगत् ही कैन्द्र में बैठे है। इसी से वह श्रेयस्कर के विन्तुम विग्रीत पड़ते हैं। श्रेयस्कर बाहर अधिक रह जाते हैं। वह भीतर कम प्रवेश करते हैं। वैनेन्द्र की सूत्र संतर्हति घोर रहस्य भावना हमारा भाव दोष देती है। इन बातों को उन्होंने ही स्पष्ट किया है 'मेमा भी मगता है कि संवर की शक्ति के रूप में तो बाहर वा शिक्ता जगत् प्राप्त होता है उनका ही वास्तव बनता है। घम्यवा वह पदव है और वास्तव पदव है। घमन अनुभव में जाने वाप मुग दुग के भाग से वर वर रूप में आ नहीं उतगा वह प्रेय की उत्तु भमगा रूगा है

धरमा पाकर वह सत्य या असत्य नहीं बन पाता। धरम की अपेक्षा में ही बाहर को मानने की माचारी जैसे रोम की तरह घुस से मुझ में बसी हुई है। जानता हूँ इसमें करण्य मेरी धारितिक और मानसिक कमजोरी है। लेकिन क्या कमजोरी को स्वीकार ही नहीं कर लेना चाहिए। मैं और मेरी कृति पृष्ठ ३२०।

वीनेत्र कला में ईमानदारी और सच्चाई चाहते हैं। कला के प्रति उनका भाव ही नहीं। परन्तु यह ईमानदारी भीतर की वस्तु है, बहिर्जगत् की सच्चाई से उसका संबंध नहीं है। वीनेत्र का ही कहना है 'देह-कास के बीसठे में देखी मोगी गई बटनाए अपने धाप में सत्य हैं भी तो नहीं। वे तो अनित्य हैं अणिक हैं। इससे उनमें फेर-फार कर देने से सत्य की भक्ति नहीं होती।' इस प्रकार तथ्य में प्रपंचा सत्य में कुछ परि वर्तन अपेक्षित हो जाता है। सच्चाई तो नाम और धर्म में पाती नहीं। ज्यों-की-त्यों बात कही नहीं जा सकती। प्रथम तो बटना ज्यों-की-त्यों पकड़ में नहीं पाती। फिर उसको सर्वथा अपनी बेतुमारी हासत में प्रकट कर देने से दूसरी दिक्कत पैदा हो सकती है। यहाँ पर जैसे छल की आवश्यकता होती है। उसी को कला कहिए तो कला कह सीधिए—कला इसलिए कि उस छल में कोई दोष नहीं है। सत्य के प्राविष्करण में वह छल सहामक होता है इससे वह स्वयं सत्य बनता है। 'मैं और मेरी कला पृष्ठ ३२६। धामे "परस" की कट्टी का उदाहरण देकर वीनेत्र अपनी बात को स्पष्ट करते हैं 'यथार्थ को घोट में रख कर कास्तिक कट्टी को समझ करने में सत्य का कोई प्रभाव नहीं देखता है। फिर भी यथानाम और यथातथ्य तो वह है नहीं। इसीलिए धापक उसे कला कहा जाता ही तो मैं समझ सकता हूँ। नाम-धाम वहाँ केवम मात्र उपलब्ध रहे जाय वहाँ उनकी पृथक प्रतीति ही मानो बिस्मृत हो जाय और अपने ही मनोराम पुस्तक के पट पर चित्र-सेख से प्रत्यक्ष हो जायें वहाँ कहा जा सकता है कि रचनाकार का छल एक कौशल है और इस माया-सृष्टि द्वारा सत्य की किञ्चित् साधना और सेवा ही होती है। वही पृष्ठ ३०२। कला की वीनेत्रीय ध्याना में भीतरी अनुभूत के प्रति कलाकार की सच्चाई ही कला बन जाती है। उनके धर्मों में "तो जिसको कहते हैं सच्चाई, वह इस कला की पहली आवश्यक धर्म हो जाती है। सच्चाई बाहर के के प्रति कहा क्योंकि बाहर तो सिर्फ धर्म है और वह प्रति सत्य बन रहा है। इसलिए उस बाह्य यथार्थ के साथ तो मनमाही स्वतंत्रता लेने में कला के लिए कोई बाधा नहीं है। वह तो प्रकृत में यथार्थ रूप में चित्रित और वस्तु में अक्षिप्त कर देखने की सुविधा करने वाली वास्तविकता है। वही "सत्य की साधना में ही यथार्थ को स्वयं की धीर उठना होता है।" वही "जगत् खड़ी है उस कल्पना और उन पुकार्य का जो उसको अपनी ऐन्द्रिय प्रतीति से उतीर्ण करके मत्मानुभूत संकल्प की धीर उठती और इस प्रकार उसे परिपूर्णता प्रदान करती है। उन्होंने अपने पात्रों

के सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर दिया है कि वे 'यवार्थ' में से आकर भी उस यवार्थ का यथावश्यक परिष्कार करके बने हैं। वही पृष्ठ ३२७।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वस्तु-जपन् के प्रति बैनेन्द्र संघयानु हैं। वह भावना का सत्य चाहते हैं जीवन स्रोत के या मूलक के भीतर का सत्य। उनके अनुसार यही भीतर का सत्य वस्तु के सत्य को उद्घाटित कर सकता है। जैसे सत्य तो निर्मम है। बुद्धि की करारेताओं में बरझा सत्य मूढत्व है। वह भावने को कब मानता है। स्पष्ट है कि यह दृष्टिकोण कलाकार का दृष्टिकोण नहीं है यह दार्शनिक का दृष्टिकोण है। कलाकार की परिभाषा देते हुए बैनेन्द्र ने कहा है 'मन्ये प्रति कलाकार सच्चा रहे। इन प्रयत्न में बाहर के प्रति मन्था रहना समस्य और महत्त घनावस्यक होता आया। मन बाहर के प्रति विनयशील और स्नेहशील रह कर ही कलाकार का मन पूरा हो जाता चाहिए। संसार पकड़ में नहीं आता इससे उसे पकड़ने का मोह ही बुरा है। वही पृ० ३२८। यह नहीं कहा जा सकता कि संसार को पकड़ने में धराम रहने पर इस प्रयत्न से हटकर धारमनिष्ठा हो जाना उपायकार के लिए कहीं तक ठीक रहेगा। परन्तु बैनेन्द्र की कलाबोधिता की गमकने के सिवा उनका इन दृष्टिकोण की उद्घोषा नहीं की जा सकेगी। उनके कला-साहित्य को हमें उनके दृष्टिकोण से भी देखना होगा उनके ही दृष्टिकोण से देखें यह बात नहीं। परन्तु सामोचक की पहली जिम्मेदारी तो लेगक के प्रति ही है।

बैनेन्द्र की रचनाओं का मुख उनके दुःख कथन का हाथ हमारे हाथ में था जाता है "ओ कुछ मेरे पास रहा है—बाहर का देगना बुद्धि का विचारना और मन का चाहना—मन कुछ पुन-मिम मन है और विनी एक धनुशुक्ति के कण के चारों धार जुड़ कर बहानी की रचना कर देता है। 'मैं और मरी कमा' पृ ३२६। बहानी बेकार है और गाय साहित्य बेकार है। धरम मन को यही की विटारी में बन्ध रूना पड़े। साहित्य में प्रकृत हो उन मन की कीड़ा को पकड़ा है उनको निर्ममण है ओ बाहर की मरी-बघो जियवी में गुन नहीं पाता है। उन कला-कीड़ा के पीछे आत्मिक ईमानदारी की बुद्धि या महा विषयक है होनी चाहिए। और भी दूरी जगत धरने तिगने में मैं यही विषय है। दीन या बुलने तब को सिखा है धरनी भावना मे उन वेद दिया है और बलना म मड़ कर फिर नबरो के प्रस्तुत कर दिया है कि विज्ञाना गुने और महानुशुति धरने। वेन बादमी धरहार की दीवारों से बाहर धरन गुनी हवा में शास्त्र का नाश करने है।" वही पृ ३१।

इस प्रकार बैनेन्द्र ने कला-बहानी और उपायान का धारमनाम का भावना माना है। धनुशुक्ति भावना कलाका और गलन क्रियात्मक विज्ञाना के हाथ उद्घेनि बाहरी प्रस्ता ३। फिर धरने भीतर टटाया है और बुद्धि में बलक बुद्धि का बराल

होते देखा है। मत में "जो है सो है" मानकर बुद्धि से पुष्कार वा लिया है और मावना को मुक्ति देने में ही बुद्धि की सफलता मानी है। इस तरह जैनेन्द्र की बुद्धि बाहिजा या बुद्धिमूलक चेतना प्रश्नों के सामाजिक राजनीतिक आर्थिक मुद्दों से न उत्पन्न कर बची-भची मौखिकता और दार्शनिकता में डूब गई है। 'कहानी क्या है' निबंध में पृ १७८-९ पर उन्होंने स्त्री और फॉब कहानी-कथा को तुलना करने का प्रयत्न किया है जिससे यह स्पष्ट है कि वह स्त्री कहानी में व्यक्तिकरण की ठंसीपिटी प्रमोद और घानन्द का समाव पाते हैं। फॉब कहानी में प्रमोद करने का तरीका बहुत ही सुन्दर, सुहावना है हम उसके साम वह जाते हैं। परन्तु स्त्री कहानी सोहेस्प है उसमें ध्येय है मावना है ज्ञान है जो फॉब कहानी में नहीं है। यह स्पष्ट है कि ध्येय या उद्देश्य का तत्व जैनेन्द्र में भी बोझ है बसस्पष्ट है परन्तु वहाँ मूल में वह है उनकी कहानी में फॉब कहानी के सेव तत्व सम्पूर्ण रूप से प्रहोत है। परन्तु जैनेन्द्र में कहानी की सोहेस्पता आत्मताम की सोहेस्पता में जो जाती है। जो उनके अपने दृष्टिकोण से बाँझनीय होकर भी पाठक या उपन्यास-साहित्य के विकास के दृष्टिकोण से बाँझनीय नहीं है। 'कहानी क्यों लिखते हैं' प्रश्न का उत्तर देते हुए जैनेन्द्र ने अपनी मर्जन प्रक्रिया पर काफी प्रकाश डाला है "कहानी तो एक मूल है जो निरन्तर समाधान पाने की कोशिश करती रहती है। हमारे अपने समाधान होते हैं चाँकाएँ हाँसी हैं चिन्ताएँ होती हैं और हमी उनका उत्तर उनका समाधान खोजने का पाने का सतत प्रयत्न करते रहते हैं। हमारे प्रयोग होते हैं। उदाहरणों और मिसालों की खोज होती रहती है। कहानी उस खोज के प्रयत्न का एक उदाहरण है। वह एक निश्चित उत्तर ही नहीं दे देती पर यह प्रसन्नता कही है कि सायब उत्तर इस रास्ते से मिले। वह मूलक होती है, कुछ सुझा देती है और पाठक अपनी चिन्तन-क्रिया के सहारे उस रूप को से सेते हैं।" 'कहानी क्या' पृ० १७८। इस कथन में हम उनके साहित्य का प्रवर्धन पाते हैं। इस सुझा घन्तबोध को विकसित करने के लिए ही जैनेन्द्र का भाषा-वैदिक सामने पाता है।

'उपन्यास-लेखक में तप बाहिर' पृ० ४१०-७। सेष में जैनेन्द्र ने अपनी बात को कुछ और स्पष्ट करने की चेष्टा की है— 'बाहरी बटती पटनाएँ यदि विचारणीय हैं तो इसीलिए कि वे कुछ भीतरी का प्रतीक हैं। भीतर की घनेछा में ही बाहर को समझा जा सकता। इसी तरह भीतर को बाहर से बिराबी बना कर देखने की जरूरत नहीं है। मानव-जाति का साहित्य बीरे-बीरे, पर निरन्तर उठी और बढ़ रहा है। उत्तम उपन्यास इसके प्रमाण हैं।" वही पृ ४१२। यह बात कुछ बोझी समझ में भी आती है। यूरोपीय साहित्य के पिछले २-२२ वर्षों के विकास से इसकी पुष्टि की जा सकती है। परन्तु जब तक हम बाहर-भीतर के पीछे ईश्वर की सत्ता की खोज करना चाहता है तो निरन्तर है वह उपन्यासकार या कथाकार के क्षेत्र से हट जाता है। मनुष्य

के सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर दिया है कि वे 'यद्यपि मैं से घाबर भी उस यद्यपि का यथासंभव परिहार करके बने हैं।' वही पृष्ठ १३७।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वस्तु-अपत्य के प्रति वैनेन्द्र संघवासु हैं। वह भावना का सत्य चाहते हैं जीवन स्यात् के या सेषक के भीतर का सत्य। उनके अनुसार यही भीतर का सत्य वस्तु के सत्य को उद्घाटित कर सकता है। जैसे माय तो निर्मम है। सुष्टि की करेखाओं में बहका सत्य मृतवत् है। वह अपने को कब खोपता है। स्पष्ट है कि यह दृष्टिकोण कलाकार का दृष्टिकोण नहीं है यह बार्थनिक का दृष्टिकोण है। कलाकार की परिभाषा देते हुए वैनेन्द्र ने कहा है "अपने प्रति कलाकार सम्भा ग्हे। इस प्रयत्न में बाहर के प्रति मर्यादा रहना असम्भव और सहज प्रभावश्यक होता जायगा। घट बाहर के प्रति बिभषनीय और स्नेहनीय रह कर ही कलाकार का धर्म पूरा हो जाता चाहिए। संसार पकड़ में नहीं पाता इससे उसे पकड़ने का माह ही कृपा है।" वही पृ १३८। यह नहीं कहा जा सकता कि संसार को पकड़ने में प्रथम रहने पर इस प्रयत्न से हृत्कर घातमिष्ट हो जाना उपायकार के लिए कहीं तक ठीक रहेगा। परन्तु वैनेन्द्र की कथाबोधिता का समझने के लिए उनके इस दृष्टिकोण की उद्देश्य नहीं की जा सकेगी। उनके कथा-साहित्य को हमें उनके दृष्टिकोण से भी देखना होगा उनके ही दृष्टिकोण से देखें यह बात नहीं। परन्तु सामोबक की पहली किम्बेशरी वा सेषक के प्रति ही है।

वैनेन्द्र की रचनाया का मूल उनके इस कथन क द्वारा हमारे हाथ में पा जाता है "जो कुछ मेरे पास रहा है—बाहर का रचना बुद्धि वा विचारणा घोर मन का बाह्यता—यह कुछ पुनर्निमन बरा है और किसी एक अनुकूलि क कला के चारों घोर मुड कर कहानी की रचना कर देता है। मैं घोर मेरी कथा' पृ० १ २६। कहानी बहार है और गारा साहित्य बेकार है। अगर मन को यही की रिटापी में बन्द रहना पड़े। साहित्य में प्रकाश ही उन मन की बीड़ा को घबराया है उगको निर्भवल है जो बाहर की गयी-अंधी शिल्पी में गुन नहीं पाता है। उन कथना-बीड़ा क पीछे घातक्यक र्मानरापी की बुद्धि वा गारा विचारक है होनी चाहिए। घोर की दूसरी उमह घाने विगत में मैंने यही किया है। बीग वा मुपने सत्य की निपा है घापी भावना से उसे मन दिया है और कल्पना से गड कर फिर सबको तेमे प्रस्तुत कर दिया है कि विज्ञाना गुने घोर महानुबुद्धि कने। तेमे बादमी व्यक्तार की बीचारों ने बाहर घातक गुनी हवा में काल्प्य वा मात्र बन है।" वही पृ० ३९।

इस प्रकार वैनेन्द्र ने कथा-कथानी घोर उपायक का घातक्यक वा गायन बाता है। अनुभव अनुभूति भावना कल्पना घोर सत्य विज्ञाना विज्ञाना के द्वारा उद्घोने बाह्यी प्रयत्न का भवर घान भीतर टटाया है घोर बुद्धि ने चारर बुद्धि को परात

होते देखा है। घट में "जो है सो है" मानकर बुद्धि से छुटकारा पा लिया है और भावना को मुक्ति देने में ही कृति की सफलता मानी है। इस तरह जैनेन्द्र की बुद्धि वाहिता या बुद्धिमूलक चेतना प्रश्नों के सामाजिक राजनीतिक धार्मिक सूत्रों से न उलझ कर बची-सूची सैद्धांतिकता और वाचनिकता में डूब गई है। "कहानी क्या है" निबंध में पृ० ३०८-९ पर उन्होंने स्त्री और केंच कहानी-कथा की तुलना करने का प्रयत्न किया है जिससे यह स्पष्ट है कि वह स्त्री कहानी में व्यक्तिकरण की उन्मीलित प्रतीति और धारण्य का अभाव पाते हैं। केंच कहानी में प्रयत्न करने का तरीका बहुत ही सुन्दर, गुहायना है हम उनके माय बहू माने हैं। परन्तु स्त्री कहानी छोड़ देय है उसमें घ्येय है भावना है जान है जो केंच कहानी में नहीं है। यह स्पष्ट है कि घ्येय या उद्देश्य का तब जैनेन्द्र में भी चोड़ा है अस्पष्ट है परन्तु वहाँ मूल में वह है उनको कहानी में केंच कहानी के घ्येय तब सम्पूर्ण रूप में प्रकृत है। परन्तु जैनेन्द्र में कहानी की सोहृदयता धारण्यता की सोहृदयता में जो जाती है। जो उनके अग्रम दृष्टिकोण से बांधनीय हाकर भी पाठक या उपन्यास-साहित्य के विकास क दृष्टिकोण से बांधनीय नहीं है। 'कहानी क्यों निकलते हैं' प्रश्न का उत्तर देते हुए जैनेन्द्र ने अपनी सर्जन प्रक्रिया पर नाशी प्रकाश डाला है "कहानी तो एक सूत्र है जो निरन्तर समाधान पाने की कोशिश करती रहती है। हमारे अपने सवाल होते हैं संकल्प होती हैं चिन्ताएँ होती हैं और हमें उनका उत्तर उनका समाधान खोजने का पाने का सतत प्रयत्न करते रहते हैं। हमारे प्रयोग होते हैं। उदाहरणों और मिसालों की खोज होती रहती है। कहानी उस खोज के प्रयत्न का एक उदाहरण है। वह एक निरिच्छत उत्तर ही नहीं दे देती पर यह धमकता कहती है कि शायद उत्तर इस पल्ले से मिले। वह सूत्रक होती है कुछ मुग्ध होती है और पाठक अपनी चिन्तन-क्रिया के सहारे उस रूप को ले लेते हैं। 'कहानी क्या पृ० ३०८। इस कथन में हम उनके साहित्य का अंतर्बोध पाते हैं। हम सूत्र धन्तर्बोध को विकसित करने के लिए ही जैनेन्द्र का भाषा-वैशिष्ट्य सामने पाता है।

"उपन्यास-लेखक में तब चाहिए" पृ ४३०-७। लेख में जैनेन्द्र ने अपनी बात को कुछ और स्पष्ट करने की चेष्टा की है— "बाहरी घटना घटनाएँ यदि विचारणीय हैं तो इसीलिए कि वे कुछ भीतर की प्रतीक हैं। भीतर की अण्डा में ही बाहर को समझ आ सकता है। इसी तरह भीतर को बाहर से दिखायी बना कर देखने की जरूरत नहीं है। मानव जाति का साहित्य बीरे-बीरे, पर निरन्तर उसी धोर बड़ रहा है। उत्तम उपन्यास इसके प्रमाण हैं।" वहीं पृ० ४३५। यह बात कुछ थोड़ी समझ में भी आती है। यूरोपीय साहित्य के पिछले २०-२५ वर्षों के विकास में इसकी पुष्टि की जा सकती है। परन्तु अब अनेक इस बाहर भीतर के पीछे ईश्वर की मत्ता की खोज करना चाहता है ता निरन्तर है वह उपन्यासकार या कथाकार क क्षेत्र से हट जाता है। मनुष्य

के कार्य-व्यापार मूलतः मनोनिष्ठ हैं, फिर चाहे उन्हें प्राइवीय कुष्ठ या काम-भेदना का विकास हम मानें पशु काय है ही नहीं भावना ही एक मात्र सत्य है यह प्रतिपाद है। फिर जब इस प्रतिपाद में ईश्वर पुनः जाता है तो बड़ी कठिनाई होती है और समझना-समझना संशय हो जाता है। किस मूल से जैनेन्द्र उपन्यास की काय-कारण श्रुतियाँ न ईश्वर को प्रतिष्ठित कर देते हैं यह कहना कठिन है। इसके कथा-लेख में रहस्यवाद की सृष्टि होती है। लुप्तता कम है उलझता ज्यादा है। जैनेन्द्र 'दुनियाँ में बहुत कुछ घटित हो रहा है। उसको घटना कहते हैं। वह क्यों घटित हो रहा है चायन उसके कारणों को मानना कह कर हम चीन्हे सफ़े। बुद्धि कार्य के कारण की तोज़ चाहती है। मानसी मधीन मही या मधीन है तो मन बासी मधीन है। उनके द्वारा जोन वाले व्यक्ति-व्यापार का उलझे मन की प्रकृत भावना से सीधा सम्बन्ध है। जगत् के मनोभाव ही जगत्-कर्म में प्रस्तुति होने हैं। घटना यदि कार्य है तो भावना कारण। उन कार्य-कारण की सूक्ष्म श्रुतियों को पकड़ना ज्ञान का मध्य है। पूरी तरह तो वह समझ की पकड़ में आ नहीं सकती। क्योंकि धर्म में कार्य कारण में ही आता है। इसी से कहना होता है कि सब का प्रतिम नियम और प्रतिम नियता ईश्वर ही है पर उन ईश्वर को कुरप्रियम्य प्रतीति न रहने हुए भी उनके अति-कारिक रहस्य में प्रकाश में और कल्पना से समझ में लाने की आवश्यकता है। जाने धनधाने मनुष्य का यहाँ पुण्याचं है और पुनः पुनः के भीतर बाणी द्वारा और कर्म द्वारा वह बड़ी कल्पना बना आ रहा है। तो ही उपन्यास में यही टटाना है कि जगत् जगत्-व्यापार और मनोभाव के बीच कौनो निष्ठ और मही और गहरी काय-कारण श्रुतियाँ बँटाई गई हैं। दूसरे धर्मों में कहाँ ता सत्य का गहल मनुभवान बहाँ मिलता है। प्रतिम सत्य का जिनता मानिक उपलान जिन रहना द्वारा मुझे विनै उतना ही उनके प्रति में कृतज्ञ होना है। 'उपन्यास-जैनेन्द्र में तपः साहित्य, पृ० ४३४।

यह निश्चय है कि उपन्यास के पात्रों को लेकर या घटनाओं के मूलों में ईश्वर की धरनारणा की कोई अनिश्चय आवश्यकता नहीं। जब तक उपन्यास में मनोनिष्ठता और मनोवैज्ञानिकता का प्राधान्य है और भी कुछ ताब है जैसे ब्रह्मानुभव का प्रभाव आदि। पशु इन मानसी ज्ञानी चीन्हे के पीछे किमी "ईश्वरता" की माँग क्या हो ? जैनेन्द्र से उपन्यासों को हम विपुल मनोविज्ञान प्रकृत मनोविज्ञान के माध्यम पर नहीं परण मानें। कारण कि वह मनोविज्ञान पर मयात नहीं करने घपरा या कहिए कि यह पात्रों की मूल प्रेरणा में प्रकृतियों के मूल न मात्र का उन्हें आब विपुल में परिभाषित "ईश्वर" की सीधा जान देने है। जिन उनके उपन्यासों में परलोकमन अतिपादकता मही है। कभी कभी उनका कार्य-व्यापार प्रकृत रहस्यवाद और अज्ञान बन जाता है। उनके विपुल धारणा उनके विपुल पढ़ते हैं। जगत् धार-विपुलधरणा अतिव्यक्त या जाती है और व पकड़ में मही आते। मनोविज्ञान ता आगत विज्ञान है।

विज्ञान यानी २+२=४ । परन्तु जैनधर्म साहित्य को मनोविज्ञान से बढ़ा ही रखना चाहते हैं, यद्यपि वह मनोविज्ञान की उद्देश्य भी नहीं कर सकते । फलतः उन्होंने २+२+ईश्वर=२ धर्मों की रचना की । इस ईश्वर को मानवैश्वर्यपूर्ण मूर्तों के पीछे या धर्मों या बीच में प्रतिष्ठित करने से निम्न-देह जैनधर्म को सुविधा हा जाती है और वह धर्मोद्धरण का मुहूर्त बन कर अपने 'अहं' का अस्तित्व बन कर डालने में जैसा न जानता हुए भी या कम जानने हुए भी वह सब जानने में क्योंकि वह ईश्वर को जानता है या क्योंकि ईश्वर का कोई नहीं जानना और न जानने में ही सम्पूर्ण और बड़बान है । इसीलिए जो मनीषिक जैनधर्म में प्राकृतिक काम करना का कृष्ण रक्त है उनका समाधान छोटे पड़ने में और ईश्वर को लेकर उन्मत्तकार उन्हें छोड़ने या नगण्यता का दृष्टि से देख सकता है । इस ईश्वर के माने में धर्मार्थों और पापों का विभक्तन और विचक्षण विस्तार देने में उपायकारण का सुविधा होती है और वह सामाजिक उत्तरदायित्व में भी बन जाता है । यह नहीं कि जैनधर्म सामाजिक प्रश्नों से परिचित ही नहीं है, या उन्हें उठाने नहीं है । वह उन्हें बड़ी शक्ति से उभारते हैं सामान माने हैं मन्त्रिण हम प्रश्नों का उर्ध्व-सम्पात समाधान न देकर वह समाधान के रूप में "ईश्वर" देना है जो सब कुछ होकर भी यानी समाधान होकर भी धर्मोद्धरण है और जिसकी बहुमूर्त्यता औपन्यासिक समाधान के लिए निर्मूलकता ही रहेगी । जो जैनधर्म मानव-वैज्ञानिक मूर्तों को स्वाभाविक परिणति न बनकर उन्हें "ईश्वर" में समाप्त कर देते हैं या सामाजिक प्रश्नों को सम्पूर्ण में बुझा देते हैं यह जीवन का कोई उपाय हमारे पास नहीं है । यह पलायन है या सामान्य धर्ममूलक धर्म से कुछ धर्मिक धर्मोद्धरण या बुद्धिमूर्तों होना पर भी बुद्धि प्रवृत्तता का धर्मोद्धरण या कर्माकारिणा के प्रति विशेषी धर्मोद्धरण या दाननिकता का सब कुछ भी कहना कठिन है । कारण एक हा सकता है और अनेक कारण हो सकते हैं । परन्तु कदाचित् उन कारणों के मूल में जान की कोई सुविधा हमारे पास नहीं है न हमसे कोई लाभ है । जैनधर्म के साहित्य में जो है, जो धर्मोद्धरण रूप से है उसे लेकर हमें करना होगा । उनकी सामान्यताओं को छोड़ कर हम उनके साहित्य के मन्त्र में केवल प्रतिष्ठित हो सकेंगे ।

(२)

अपनी प्राथमिक रचनाओं के सम्बन्ध में जैनधर्म ने हमें अपनी धार से बहुत कुछ दे दिया है । इसी में उनके साहित्य का "मूल" मिल जाता है । मन्त्र की ये प्राथमिक रचनाएँ १८०० में प्रकाशित हुई हैं । ये रचनाएँ हैं अथ धर्मोद्धरण, धर्म का मेह, धर्मोद्धरण यानी और धर्म । इन प्राथमिक रचनाओं के सम्बन्ध में लेखक न इस प्रकार कहा है

प्रामाणिक रूप में बहुत कुछ कह सकेगा। पर मैं इतना जानता हूँ कि उसके सत्यबोध की व्यर्थता मेरी है और बिहारी की सफ़लता मेरी भावनाओं की है। और कट्टो यह है कि मैंने मुझे व्यर्थ किया और जिसे मैं अपनी समस्त भावनाओं का बरबाद देना चाहता था। यानी यकाबंध की परती से उठकर उन सब चित्रों में जिन्होंने मिलकर 'परत' की कथा का रूप दिया मेरी मावनाएँ और बाएणाएँ ही घनायास भाव से बुनती गई हैं।" बहो पृ० ११।

'कट्टो' से माप-बीती का हलका सा संबंध है। कट्टो मेरे जीवन के निकट रही हैं। विविध पृ० ३६६।

सुनीता

'सुनीता से मेरे जीवन का सम्बन्ध नहीं वह बुद्धि से कल्पना के आधार पर लड़ी की गई है। विविध पृ० ३६६।

प्रश्न "वहाँ तक संबंध है कि पुरुष के समक्ष मारी एकाएक धरना मग्न प्रदर्शन करे? सुनीता ने मयबज ऐसा किया या उसकी बसित बिच संबंधित भावना का यह प्रकटीकरण था?"

उत्तर "एकाएक ता नाम होता होता ही नहीं है। नम्रता नाम की बीज है तो भीतरी। हम सभी अशुद्ध-अशुद्ध रूपों पहले बंटे हैं तो क्या हम बीबीच पड़े ठेके रहते हैं। हम सब के भीतर नम्रता मौजूद है। बाहर के वहाँ स्नान-मर में क्या नम्रता से हम धरादिष्ठ हैं। हमने रूपों को अधिक महत्व दिया धरीर को कम। इमीनित नम्रता का प्रश्न उठता है। उपम्याम भी समाज है पर दोनों की मर्यादा में निम्नता है। उपम्याम के नायक और समाज के व्यक्ति में निम्नता है। पात्र में मानविकता और भावना समादा-समादा होती है धरीर की मर्यादा कम। वहाँ तक सुनीता का प्रश्न है—"इतनी सखी जिन्दगी है और क्या उसमें सब नहीं आधारण रहने। और धर 'सुनीता' नम्र भी हूँ तो उनमें किसी के लिए धम क्यों? वह ता पुस्तक में है। सुनीता का नम्र होना किसी व्यक्ति की नहीं प्रतीक की नम्रता है।"

प्रश्न : "विन्नु सुनीता तो हमारे समाज की प्रतीक है फिर उसकी नम्रता हमारे की नम्रता नहीं।"

उत्तर "उपम्याम के पात्र हमारी संकीर्णताओं में सीमित नहीं। वे हमारी ही धरती धरतन भावनाओं के प्रतीक हैं। वे हमारी धरतना के प्रतीक हैं हमारे मनाओं के नहीं। विविध पृ० ३६८-३६९।

"एक धामोचक में रवि बाहु के 'पर और बाहर' का चित्र दिया। मुझे हमसे सुती हुई। दिन हुए मैंने वह पुस्तक पढ़ी थी। सब मेरा निधना मारण्य न हुआ था।

मुझे सब भी उसकी याद है। जिससे वह जो 'भर और बाहर' में है वही 'सुनीता' में भी है। वही समस्या है। प्रगतिमाने ऐसा नहीं हो गया है जान-बूझकर ऐसा हुआ है। 'किन्तु पर और बाहर' की समस्या तभी तो बनी जबकि वह जगत् की समस्या है। उसे उस रूप में रचि बाहू से पहले भी लिखा गया उन्होंने भी लिया और पीछे भी सोच सये।

समस्या सदा तिक्त है। जगत् में मूस पस हो हैं स्व और पर। स्व शानी में। मैं प्रकृत्य भोक्ता। भोक्ता मानकर अपनी भोग-बुद्धि के परिणाम के अनुसार मैं 'पर' को फिर दो भागों में बाँट जानता हूँ। पहला जो मेरा है दूसरा जो मेरा नहीं है। इसी स्वान पर समस्या सड़ी होती है। जिसे मेरा माना उन पर मैं क्या बाहूता हूँ या मेरा नहीं है उससे विरोध मानता हूँ। इस भाँति मैं भीता और बढ़ता हूँ। यही जीवन की प्रक्रिया है।

प्रथम में 'स्व' और 'पर' का विवेक माना है। जीवन की सिद्धि उनके भीतर प्रवेश अनुभूति में है। परन्तु प्रवेश कहने ही से तो सम्पन्न नहीं हो जाता—उसी के लिए ही साधना तपस्या याग-यज्ञ। जाने-अनजाने प्रत्येक "स्व" इसी सिद्धि की ओर बढ़ रहा है।

"मैं" और 'मेरा' इन दोनों को मिटाकर व्यक्ति अपना घर बसाता है। उस घर में व्यक्ति अपना किसर्बन देता और शेष विश्व से बाहरण सेता है। बाकी दुनिया में से कमाता है पर में खर्च करता है। जगत् से लड़ता है, घर में प्रेम का शान करता है। घर उसके लिए हाट नहीं है। इस "घर" का ही नाम विकास क्रम से परिवार पकर समाज जाति राहु प्रादि होता है।

इसलिए अगर समस्या को साम्यवित्तक विज्ञान की राहु से नहीं सम्बन्धित कला और हृदय की राहु से प्रकथ करना है तो उसका नहीं तिक्त रूप होना मैं मेरा परता और बाहरी।

घर नहीं एक और तत्व श्रान्त्य है। जिस में अपना मानता हूँ प्रकृत्य मेरी सम्पत्ति, मेरी शौक प्रादि वह भी अपने में निजत्व शून्य नहीं है। जसमें भी स्व-भाव है, अपनापन है। फिर जो जो जितना मेरा बन चुका है उसकी निजता कुछ मेरे निजत्व अनुगत होती रहती है। इसीसे समस्या के निजत्व में मानव-संबंधों की प्रवेधा मेरे प्रकृत्य स्वत्व का प्रतीक बन जाती है यत्नी। यत्नी पर का केन्द्र है। वह "मेरी" है पर स्वर्भ भी है। अनुगत है पर जड़ प्रसार नहीं है—घाँत-करस है और तसमें भी स्पष्टत्व है। इन स्वामी और यत्नी के साथ ही किसी करर उनके बीच में घाता है तीसरा व्यक्ति जो 'पर' का प्रतीक है। वह भी एकदम अपरिचित नहीं है। अपरिचित कहे ही सकता है मना प्रत्युत संघट है, और वह उनकी सम्मिश्रित इकाई 'साम्यत्व' से स्वतंत्र है यद्यपि आविप्त है।

कवि रवीन्द्र ने "पर" में बाह्य का प्रवेश किया। 'पर' इससे विमुक्त है। बचल है। वहाँ 'बाह्य' संकीर्ण के रूप में समित्त है, पर प्रबल है। पर की विमुक्तता यहन होती जाती है। मानो बाह्य के बचके ग पर टूट जाएगा। बाह्य का पक्ष ही दुर्निवार है। सर्वशक्ति है। समस्या मोरतर से मोरतर होती जाती है। तब क्या होता है। जिनसे समस्या बंध हो जाती है। संकीर्ण समाप्त कर जाता है। पत्नी मुड़कर पति के प्रति लम्बा प्राणिकी बनती है। घोर छिद्र परलोक में प्रविष्ट होती है। ऐसे माना निर्णीत होता है कि "पर" को बाह्य के प्रति निरन्तरतापी पर विमुक्त होकर ही अपने को निष्पन्न करना होगा।

कवि की सेवनी की समझ ही क्या ? वह अनुसनीय है। पर मेरे मन का समाधान नहीं मिला। "पर" सम्यन्-मात्र ही अपने को 'बाह्य' के प्रति बुद्ध्याप्य और प्रति-बुद्ध बनाकर बैठ और उस 'बाह्य' को सर्वथा बाह्यपुत्र और निषिद्ध बनाए रखे क्या यह समाधान है ? क्या यह विधि है। यहाँ धर्म कहाँ है ? यहाँ तो नय है। प्रेम कहाँ है यहाँ तो अप्रेम भी है। यही होना ही तब तो समझ ही क्या हुई। ऐसा कृष्ण समाधान क्या बिना प्राप्त यह-सिद्ध स्थिति-बद्ध समाधान नीति में से भी नहीं प्राप्त हो सकता।

सो मन के इन तर्क के धर्मोप का भी "सुनीता" के अन्त में प्रभाव है। मैंने 'सुनीता' में अपनी बुद्धि के अनुसार बुझाहमपूर्वक भी समस्या को टुकड़ करके बनाया है। मैंने इनमें अपने को बचाया नहीं है और वहाँ तक मैं उसके साथ चला हूँ वहाँ तक समस्या में चलना चाहता हूँ।

दोनों लक्ष्य का प्रवृत्त रूप में क्या परस्परानुवासीय ही नहीं है। मैंने समस्या के निष्कारण में भी नरनुकन भिन्नता देनी पड़ी रही है। "बाह्य" को निरे साक्ष्य के रूप में 'पर' के भीतर नहीं प्रविष्ट किया है। हृदयमन्त्र स्वयं अपने माग में धमुरे पर के बोध में मुक्त नहीं है और वह जैसे एक पुकार के उत्तर में और एक निषिद्ध के निर्देश पर ही एक रोड बनाया है "पर" के भीतर ही पड़ता है। पड़कर वह वहाँ स्वभावानी लक्ष्य ही ही नहीं अपने से विषय हाकर ही जो है ही है।

कवीन्द्र का पर विन्द है और "बाह्य" भी विन्द है। वह पर आत्मपुत्र है। मानो "बाह्य" उनके निरन्तर भी बनाबिष्ट है। "बाह्य" का साक्ष्य ही वहाँ एक रोड परस्परानुवासीय बनाया है। वह संकीर्ण विन्द है। परन्तु विन्द अपने स्वयं के साक्ष्य का धरमान यहन है। मानो महापुरुषत्व ही वह ही ही नहीं। पर की रानी का लीन की साक्ष्य निष्पन्न ही है। उसे संकीर्ण प्रोक्षित है। आत्मनिष्पन्न है और अपुत्री कर्मने को ही उन भीर विन्द ही है। लीन दग तरह कुछ पति धान्य धरमान ही होता है।

तदनुभूत धिन्मता मुनीता धीर शक्ति मधुरानी में है । मधुरानी धीर में मातो स्वामन-मार्ग पर बसकर धर्म में प्रायश्चित्तपूर्वक प्रतिनिष्ठा म पुनः प्रतिष्ठित होती है । सदीय का मार्ग बर्ब होता है और मधुरानी की माहनिद्रा मन्म हाती है । संदीय क लिए पनापन ही मार्ग है क्योंकि मधुरानी धम पतिपरायणा है । मुनीता की प्रतिपत्त जलता इतनी बुझाव्य किसी स्वाम पर नहीं हुई है कि प्रायश्चित्त का सहाय उसे दर कर हो । प्रति में उसकी निष्ठा उसे हरिप्रसन्न के प्रति धीर भी स्नेहनीय धीर उचय होने का बल देती है । मार्ग म ही उचयी धीर मुनी है धीर धर्म तक जो उसने किया धीर उचये हुआ है उनमें वह निष्ठा मोहोब मही है । एक स वह ज्ञानक है धीर पुहली धर्म से श्रुत नहीं है । उन "धर" में धर्म तक इनका स्वास्था है कि हरिप्रसन्न की हृद्यन् स्मृति में दूर रहना उनका लिए जरूरी नहीं है । प्रश्रुत हरिप्रसन्न क प्रति सदा वह "धर" इनका श्रुत भाषेया धीर उसकी मात्र रक्षेया । ममत्त में "धर" धीर "बाहर" में परम्पर सम्मुक्तता ही में देखता है । उनमें कोई निदानगत पारस्परिक विरोध देखकर नहीं बल पाता । "धामोचक के प्रति" पृ० ११५-१२२ ।

जैनग्रन्थ ने अपनी कृतिओं में "मुनीता" क संबन्ध में ही सब स अधिक लिखा है । वास्तव में "मुनीता" इनकी सबसे अधिक धामाधित्य धीर विवेचित्य पुस्तक रही है । जिन तीन प्रमुख पात्रों को लेकर कथा की रचना हुई है, धीरान्त हरिप्रसन्न धीर मुनीता उनके पारस्परिक संबंध बहुत कुछ मधुरान्त रह गए हैं । उदाहरण के लिए हम श्रीकान्त धीर हरिप्रसन्न के संबंध को ले सकते हैं जो "धरे-बाहरे" स धरितरिक्त एक नई जीवन्मूर्ति रूप देता है । हरिप्रसन्न के प्रति श्रीकान्त के धम में जो विदुष्या है या क्रोममता है, जो प्रनापन है वह क्या केवल इनलिए कि हरि कमाधार है, या उसके पीछे विवेकित कौशोर काम है या इसी प्रकार की कोई रहस्यमयी काम-धीरि है । वह उसे स्वयं अपनी पत्नी की धीर क्यों धामपित करता है । क्या इसमें स्वयं उनके किसी धाम की लुप्टि नहीं है ? यह स्पष्ट है कि "मुनीता" की समस्या का समाधान एकांत रूप से नहीं नहीं है जो जैनग्रन्थ धार्मिक धामरान्त लेकर अवलियत करत है । कृति पहले धार है, समाधान धाम में धामा है- धीर उस पर कमाधार जैनग्रन्थ भी नहीं धार्मिक जैनग्रन्थ की स्पष्ट धाम है । वह कोई धारधम की बात नहीं है कि धामोचक धीर पाठक जैनग्रन्थ के समाधान स संतुष्ट नहीं है धीर उचये इस रचना में स्वयं लेखक की धनृति धीर कुछ के धर्मन किसे है । निर्माण के बाहरी धर्मों को ही जैनग्रन्थ ने हमें धमिक दिया है उसका मीठरी रूप स्वयं उनके धमिन्मत्त स धनम्यत्त संबंधित है । लेखक की धम्य कृतिओं के परिपारध में वह मीठरी रूप धमूम्य नहीं रह जाया । इसलिए "मुनीता" के स्पष्टीकरण क लिए हमें धामर जैनग्रन्थ के धमिन्म्यत्त धरिनेयण धीर उनके धम केधमकत निर्देशों को लेकर बलता होना । धमन्त कृति-संबंधी उनके धमम्य धमूर्तुं ही हमें धमोचक इसलिए दि जैनग्रन्थ धामिन्मत्त है, धे कथ है धीर नहीं धम भी

हैं, वहाँ भी कुछ बोलनीय घबलन रहने हैं। उनके साहित्य में "घायबीठी" ही अधिक है और "बघबीठी" घायबीठी बन कर ही आकर्षक बन सकी है। जहाँ कल्पना का घाव है वहाँ मन-रस ही अधिक है जो अक्षयवदन की प्रतिबन्धिता कहा जा सकता है। रवीन्द्रनाथ से घपनी भेंट का उत्सोह करते हुए कई संस्करणों में लेखक ने "मुनीठा" संबंधी घपने हृष्टिकोण की बिच्छिष्टता की उभार है परन्तु अभी जहाँ वह घपने व्यक्तित्व को बरकर बचाते रहे हैं और इच्छा कम यह हुआ है कि रचना और भी प्रबल होती गई है। कुछ आलोचकों ने "मुनीठा" की परिस्थिति को नाभीबारी आदर्शवाद की बरत सीमा कहा है परन्तु नाभीबारी बाठाबरण में सिपी जाने पर "मुनीठा" ने ठाढ़्य का नापी के प्रति रूढ़मय आकर्षण ही अधिक है। आदर्शवाद बाद का आरोप है।

त्यागपत्र

ग्रन्थ 'क्या 'त्यागपत्र' की मूलान का जो एक सुसंस्कृत उच्च परिवार में पत कुटी है संबंध एक कोपसे बाने से जोड़कर घाप स्वाभाविकता से दूर नहीं जा पड़े हैं।"

उत्तर स्वाभाविकता क्या ऐसी बीज है जिसकी सीमामें का कुछ पठा हो। स्वाभाविकता नाम की बीज की सीमाएं नाव नहीं। इसारी कल्पना वहाँ तक जाती है जहाँ अपने भी जाने जाता है। उपम्यास स्वाभाविक बनने के लिए नहीं है वह तो एक प्रभाव पैदा करने के लिए होता है जिसकी रचना इसलिए स्वाभाविक बनाई जाती है कि वह घापने मन पर छोड़ी बैर के लिए उठर जाए। विविध पृ० ४०३।

साहित्य रूप से भी उन्होंने घपनी रचनाओं पर विचार किया है। वह कहते हैं "घपनी रचनाओं की विविधता पर मैं घपनन नहीं हूँ। न उनमें कोई ऐसा विशेष दगता है। ही विविधता तो देगता ही है और सबका मुख्य भी घापता है। "एक टाइन" और "उत्तराधिक" में स्वाक-भेद और मुख्य-भेद तो है ही। पर बेरी घपेला ने तो दोनों में एकता ही मय है।—यह स्वीकार करना होता कि मैं घपनी किन्हीं रचनाओं में आक्षेपण अधिक है वहीं बीज-जमीराक विमय।—"रचना और जीवन" पृ० २३३।

इस के संबंधों में यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि बैनेन्द्र के घपने साहित्य में संबंधित बरतन उनके हृष्टिकोण को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण हैं परन्तु उन्हें उनके साहित्य पर घपित मात्र नहीं समझा जा सकता। उन्होंने घपनी प्रारम्भिक रचनाओं के संबंध में बहिर-परिस्थितियों का निर्देश किया है परन्तु संपूर्ण रूप से घपने घप्यवन और मानसिक घानीयन को वह सामने नहीं ला सक हैं। इसी में या विवरण हमें उनके विरता है वह अमृग है और उनके घापार पर ह्य रूप भी निरिचन नहीं कर सकते। उदाहरण-रचना बैनेन्द्र की "व्याह" सीनिक कहानी बेगोन की "नैहरन"

(पड़ोसी) कहानी की मूम संवेदना लेकर चलती है और यह संभव है कि यह कहानी उस समय लेखक के सामने रही हो। इस कहानी की नायिका अप्रत्याशित रूप से अपने पड़ोसी से विवाह कर लेती है और जब परिवार के दबावों को प्रकट करने के लिए उसका भाई उसके गए घर पहुँचता है तो उसे ऐसा भावबल और पुला-मिसा पाता है कि अपनी अस्वीकृति का उसे भी नहीं करता और स्वयं अपने को बिराहा रता हुआ मीट जाता है कि उसने अपने जीवन के इस पहलू को अभी तक उचित महत्त्व नहीं दिया। जीवन का व्यंग्य बेलोव की कहानी में बिलनी तीव्रता से उभरता है जगती यही संवेदना लेकर जैनेन्द्र की रचना में नहीं। उसमें कैमोर का रंजक रोमांस ही अधिक सामने आता है विवाह और प्रेम की नैतिकता का प्रश्न अस्पष्ट ही रहता है। जो ही इसमें संवेद नहीं कि जैनेन्द्र के साहित्य की समझने के लिए हमें स्वतंत्र हृदि विकसित करनी होगी और स्वयं लेखक के दृष्टिकोण से हम अधिक सहायता नहीं ले सकेंगे। उनके बस्तुओं को हमें उनके व्यक्तित्व और उसकी बहिः प्रकृति पर परतना होगा और उनमें से उपयोगी तत्वों को खोज करनी होगी। उप-धाराओं में "त्यागपत्र" और "कस्याणी" को छोड़ कर अन्य रचनाओं के मूल मूलों और प्रभावों से हम थोड़ा-बहुत परिचित हैं। कहानियों में जैनेन्द्र वैचित्र्य की मूम पर अधिक नहीं बसे हैं। उनमें उनका व्यक्तित्व अधिक जुटा है। सब तो यह है कि साहित्य-धर्म लेखक के जीवन की एक अत्यन्त व्यापक मूम को लेकर सामने आता है और उसमें उसके व्यक्तित्व चरित्र और अचचेतन के साथ उसके अध्ययन और अनुभव का विस्तृत संसार भी रहता है। प्रथम किछी भी लेखक के मूल्यांकन में हमें उसके अपने मंतव्यों को अछूत ही स्वीकार करना होता है। जैनेन्द्र के अपने साहित्य के संबंध में उद्घारों की भी यही स्थिति है। उन्हें हम अछूत ही स्वीकार कर सकते हैं। जहाँ उनसे अन्य प्रमाणित संबंधों की पुष्टि होती है वहाँ वे हमारे लिए विधेय उप-योगी हैं। अन्यथा हमें उन्हें छोड़कर चलना होगा।

पिछले पृष्ठों में हमने कुछ विशिष्ट रचनाओं पर जैनेन्द्र की अपनी सम्मति दी है और कुछ अन्य रचनाओं की सर्वनात्मक प्रेरणाओं को उभारा है। यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र का अधिकतर साहित्य एक विधेय सजन-शक्ति को लेकर उपस्थित होता है। उसमें प्रमुखता अनुभूति के तत्व की है बस्तुगत अनुभव की नहीं। किछी विधेय अनुभूति को केन्द्र में रखकर वे उसके चारों ओर अल्पनात्मक की सृष्टि करते जाते हैं और इसीसे उनकी रचनाओं में बस्तु-सत्य संभाव्य से भिन्न कर एकाकार हो गया है और बहुधा मन-कल्प की प्रधानता हो गई है। मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण की धीमी-सादी भाषा-भाषी रसायनों में उनका साहित्य इसीलिए नहीं बंध पाता क्योंकि उनमें कल्पनात्मक प्रसार और वैचित्र्य का प्रायः अपेक्षाकृत अधिक है। यह स्पष्ट है कि लेखक का व्यक्तित्व प्रेमचर के व्यक्तित्व की तरह—

नीचा और मुलना हुआ नहीं है, उसमें विरोधी और इन्कारक तत्वों का प्राबल्य है और उसकी सज्जम श्रिया जो उसके प्रबलतन को विधेय रूप से उभार कर सामने लाती है उसके साहित्य को विषम और इन्कारक बना देती है। उसके साहित्य की कोटि ही प्रबलतन के साहित्य की कोटि से मिलती है। इस विभिन्नता को स्वीकार करके ही हमें उसका मूल्यांकन करना होगा। अनेत्र की अपनी साहित्यिक मास्यताएँ और उसकी अपने साहित्य की परल हमें उनके व्यक्तित्व से उनके साहित्य का संबंध-मूल जोड़ने में सहायता दे सकती हैं। इसी ही उनकी सार्थकता है परन्तु उनके दृष्टिकोण और उनके व्यक्तित्वनिष्ठ तत्वों को समझने में हमें उनसे बहुत कुछ महत्वपूर्ण भी मिल सकता है। हमें सचेत नहीं।

जैनेन्द्र की उपन्यास-कला

जैनेन्द्र की उपन्यास-कला की सबसे बड़ी विशेषता उनके उपन्यासों का सङ्कलन है। यह प्रेमचंद की तरह घनेक-कथा-सूत्रों को लेकर नहीं चलते। अपने सभी उपन्यासों में उन्होंने अपनी कथा की चित्रपटी बहुत खोड़ी रखी है और यह कुछ इने गिने पार्श्वों में समाप्त हो जाती है। अपने उपन्यासों के इस सङ्कलन की व्याख्या करते हुए स्वयं जैनेन्द्र ने यह बतलाया है कि वास्तव में यह मानव-जीवन और मानव-मनस्थान के खोजी हैं। उनका कहना है कि जो घण्ट में है वह पिछ में है प्रकृति जो समस्याएँ घनेक रूपों में हमारे सामने बिखरी पड़ी हैं वे कुछ इने-गिने पार्श्वों घबरा करिचों में समेटी जा सकती है और यदि कलाकार में समता है तो वह मूक से विस्तार को समझ सकता है।

सांस्कृतिक कलाकार होने के नाते जैनेन्द्र की उपन्यास-कला की यह व्याख्या अनुचित नहीं जान पड़ती। जैनेन्द्र का यह भी कहना है कि उपन्यासकार संकेत से काम ले सकता है और उसके लिए यह प्रासंगिक नहीं है कि वह कथा और पार्श्वों के बीच की सारी खाइयों को भरे प्रबला पार्श्वों को विरोध रंग-रूप एवं प्रकार-प्रकार दे। यही से जैनेन्द्र की उपन्यास-कला प्रेमचंद और पूर्ववर्ती उपन्यासकारों की कला से भिन्न हो जाती है। जैनेन्द्र के पास उनकी मानसिकता के प्रतीक होने के कारण केवल भिन्न भिन्न नाम लेकर हमारे सामने घाते हैं। उनका रूप-रंग इतना स्पष्ट और मांसम नहीं होता कि वे हमारे मन पर प्रेमचंद के पार्श्वों की तरह प्रसिद्ध छाप छोड़ जायें। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि जैनेन्द्र उपन्यास-कला में सांकेतिकता का धारण लेकर सामने घाये। इस विशेषता के कारण उनके उपन्यास मूक हो गए हैं और उनमें कुछ दुर्बो बला या बर्द है। नहीं-कही विभिन्न कथियों को जोड़ने में पाठक को बड़ा प्रयास करना पड़ना है और इस प्रयास के बाद भी यदि उसे मनोवीर वस्तु नहीं मिलती तो वह धोम से भर जाता है। एक प्रकार से जैनेन्द्र के उपन्यासों का सङ्कलन उनके कलात्मक पक्ष के विषय में शायक हुआ है। यह प्रबल है कि सांस्कृतिक उपन्यास-कला सङ्कलन की और बढ़ गई है और सङ्कलन उपन्यास के नाम से एक नई उपन्यास-कला भी हमारे सामने

धार्मिक है। किन्तु किसी छोटी कहानी को लेकर भी व्यापक याव यूपि विवक्षित की जा सकती है। चारुचंद्र के उपन्यासों में इसी प्रकार की योजना है और इसीलिए वे धार्मिक मोह-मिथ हो सके हैं।

जैनेन्द्र के उपन्यासों की दूसरी विशेषता उनमें प्राकृतिक विनयता का अभाव है। उनके धार्मिक उपन्यासों में हमें किसी भी प्राकृतिक दृश्य की वृत्तमूर्ति नहीं मिलती। वास्तव में धार्मिक विचार में चार्नुम-रक्षा की प्रभावता रही है और पूर्व-परिचय वाली घोर घेह उपन्यास व्यापक प्राकृतिक विनयता को लेकर बने हैं। जैनेन्द्र के उपन्यास मनोवैज्ञानिक होने के कारण मन के उदात्त तक सीमित रह जाते हैं और उनमें जीवन की रंभीनी घोर घनेकल्पना हमें नहीं मिल पाती। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उपरुक्त बस्तुओं के अभाव में जैनेन्द्र की रंभीनी रनी बन गई है और समये धार्मिक सरलता का अर्थ बहुत कम हो गया है। वह सद्बय मानव की रचना न होकर एक अतिमानव का अितन-ध्यापन बन गई है। जान पड़ता है जैनेन्द्र के अगले जीवन की छाया इसके लिए उत्तरदायी है। मनरों में सामन-गामन होने के कारण घोर धार्मिक वृत्ति की प्रभावता के कारण जीवन की व्यापक अनुवृत्ति का उनमें अभाव है। इसीलिए हम देखते हैं कि वह अगले लयी उपन्यासों में सगमय एक जैसे कथानक लेकर चलने हैं और तब मसियों एवं मगर के मनी-भूषों से बाहर नहीं जा सके।

एक तीव्र विनयता वह करुणा की छाया है जो उनके सभी उपन्यासों में व्यापक रूप से दिखाई पड़ती है। जैनेन्द्र का मानसिक संगठन कदाचित् इसके लिए उत्तरदायी है। उन्होंने रंभीनी घोर घोर की रनी का विशेष अध्ययन किया है और वही उनके उपन्यासों के अतिरंभ पर रंभीनी के धार्मिक अितन घोर उनकी मून-मरीर रंभीनी की छाया है वही उनके उपन्यासों के अंतर्गत में मरुत की व्यापक करुणा अितनमान है। वह अक्षर है कि जैनेन्द्र के कारुणिक दृष्टिकोण में बोझ या बाधिय भी है और वह चारुचंद्र की तरह हमें अंतुषी म दुरा नहीं देने किन्तु यह निश्चित है कि उन्होंने जीवन के ऐसे पलों को लिया है जो कारुणिक स्थितियों के प्रतीक हैं। जैनेन्द्र मूनन धार्मिकवादी कथाकार हैं। अपनी मूनन धार्मिकवादी रंभीनी में वह विषम सामाजिक स्थितियों को पहचान सके हैं और कथाकार के अगले हम स्थितियों के अितन का भी अरंभ करते हैं। किन्तु हम शेष में उनकी अक्षमता की अपनी सीमाएँ हैं। उनके अनेक उपन्यास के अंतर्गत अगले उनकी मनात्र-मनात्रो के अक्षम अक्षम दिखाई देती है अक्षम उपन्यास के अक्षम में वह भी अक्षम की तरह सामाजिक सीमाओं का अक्षम कर सके हैं और अक्षम का अक्षम अक्षम हो जाता है। उपन्यास के अक्षम में हम अक्षम याव या पानी को अक्षम अक्षमियों से दूर दूर पाके हैं अक्षम। उन्होंने अक्षम में अक्षम की थी। अक्षम जैनेन्द्र में अक्षमवादी अक्षम अक्षम

होती तो वह उपन्यास के पंथ में सामाजिक सीमाओं को स्वीकार नहीं करते और अपने पात्र-पात्रियों द्वारा उठाये हुए विरोह को अंतिम सीमा तक ले जाते किन्तु जैनेन्द्र भी एक प्रकार से सामाजिक क्षेत्र में समझौते के ही प्रतीक हैं। वास्तव में उनका समझौता कहीं-कहीं पराजय का समर्पण बन गया है। त्याग-जन में सुछास की धारण कुछ ठी और उसका मरम्भ-वीक्षण एक ऐसी मनोवृत्ति की सूचना देते हैं जो विरोह की धारण को सह नहीं सकती। संभवतः उपन्यासों की इस परिणति के पीछे जैनेन्द्र की वह विचारधारा है कि धाम्मपौक्षण द्वारा समाज को सुधारण का सकता है। कलाकार के रूप में जैनेन्द्र का जयम १९२८ के समय बन होता है और उनके साहित्य पर गांधीवादी साहित्यिक और धाम्म-वीक्षण विचारधारा की गंभीर छाप है। जीवन के सम्बन्ध में उनका जो दर्शन उस समय बन गया वह अभी तक उठी तरङ्ग बन रहा है। इस दर्शन का मूल मूल यह है कि मनुष्य वहाँ भी है, बहुत विचारण है। उसके लिए विरोह और भीत संभव हो नहीं है। वह जो है वह है।

इस प्रकार की विचारधारा को हम अग्रवामी नहीं कह सकते। इस विचारधारा में ऐसी शक्ति नहीं है जो अन्तःसार के पात्रों को कर्मठ और कर्मण्य बनाए। इसी लिए हम जैनेन्द्र के पात्रों की अंतिम स्थिति उनके संस्मारी रूप या क्षयी रूप में पाते हैं। सुखदा क्षयी हो जाती है और उसका मन बाहर के आलोक को प्राप्त करके भी उसे अपनी निजी वस्तु नहीं बना पाता। उसके जीवन में हम घर और बाहर का संघर्ष पाते हैं। घर टूट जाता है और बाहर की भीत होती है परन्तु इस भीत में भी सुखदा को संतोष नहीं है। उसके जीवन का संतुलन समाप्त हो गया है और वह इसलिए कि उसका विरोह उसकी धाम्मप्रेरणा न होकर एक विद्याया मान है या विद्याया पर धाम्मिष्ठ है, इसी प्रकार "विधर्म" में हम नायक को धर्म में सन्मानी के रूप में उपस्थित पाते हैं। वह भी जीवन से हाथ हुआ और एकरम टूटा हुआ व्यक्ति है। यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र जीवन के आर्थिक स्थलों को विषय रूप से उभारते हैं परन्तु इन स्थलों पर हमें यह संदेश नहीं मिलता कि हम अपने चारों ओर के वातावरण से किस प्रकार अलग उठ सकते हैं।

जैनेन्द्र के उपन्यासों की जोपी विधेयता उनकी दार्शनिकता है। उसको हम दार्शनिकता न कह कर सामाजिक दार्शनिकता कहें तो अधिक उपयुक्त होगा। इस प्रकार की विमल-व्यक्ति जैनेन्द्र से पहले हमें हिन्दी साहित्य में नहीं मिलती। वह महान् सामाजिक प्रश्नों को उठाते हैं और इन प्रश्नों के मूल तक जाते हैं। जयकी मूल-मूल विद्या का अधिक स्पष्ट और अधिक सुन्दर रूप हमें उनके दिक्कों में मिलता है परन्तु अपने उपन्यासों में ही वह मूलगत विमल को ही अपने सामाजिक विमल का आधार बनाते हैं। सामाजिक मूल विमल के साथ-साथ साहित्यिक या आध्यात्मिक विचारधारा भी बनती गूठी है और इसलिए जैनेन्द्र की सामाजिकता का रूप स्पष्ट

नहीं हो पाता। उनकी सामाजिक चेतना और प्रवृत्तियाँ बहुत कुछ धार्मिकता में डूब जाती हैं किन्तु हम यदि उनके चिन्तन के धार्मिक और सामाजिक पक्षों को ध्यान करते हों तो वह प्रबल ही जातिवादी दिखाई देते हैं। जैनेन्द्र के चिन्तन के ये दो पक्ष होने लिये-जुब है कि इनको ध्यान करना कठिन है। जैनेन्द्र ने सभी मूल सामाजिक प्रश्नों के पीछे "ईश्वर" काय्य रखा है किन्तु ईश्वर सामाजिक प्रश्नों का समाधान नहीं है और हमीमिए जैनेन्द्र के विरोधी यह कहते हैं कि उनकी प्रवृत्तियाँ एक सीमा तक पहुँच कर समाप्त हो जाती हैं और वह समाज की पदातिथि के काय्य बन जाते हैं। श्री विश्वंभर मानव ने अपने एक लेख में जैनेन्द्र पर विचार करते हुए एक सूत्र हमारे सामने रखा है। उनका कहना कि जैनेन्द्र का मूल धर्म है "ओ है सा है।" किन्तु हम जैनेन्द्र के उपन्यासों में धर्म की सामाजिक स्थिति की नृष्टि नहीं करते। उनकी शिक्षासा धार्मिक गुरुत्व है और सभी स्थाओं पर वह उपयुक्त समाधान नहीं दे पाते। किन्तु हमने उनका विचारक पक्ष दुर्बल नहीं हो जाता। उपन्यासकार दार्शनिक नहीं है। वह शिक्षासा उपस्थित करता है। समाधान उसका लक्ष्य नहीं होता। स्वयं प्रेमचन्द के उपन्यासों का समाधान का पक्ष दुर्बल है। जैनेन्द्र के उपन्यासों की भी वही स्थिति है। उनके उपन्यास हम शिक्षासा के लिए पढ़ते हैं समाधान के लिए नहीं। किन्तु वही हमारे उपन्यासकारों में सामाजिक जीवन का चित्रण महत्त्वपूर्ण होता है और सेगक का चित्रण ने मित्रता की ओर बढ़ता है वही जैनेन्द्र मित्रता को धार्मिक में रगत है और फिर शिक्षासा से चित्रण की ओर बढ़ते हैं। कमलचन्द उनके उपन्यास पढ़कर हैं और उनका चित्रण पढ़ागी बन जाता है। परन्तु वे सेगक की सीमाएँ हैं और प्रत्येक मित्र सेगक की कुछ सीमाएँ रहनी ही हैं।

एक संदर्भ पर जब हम विचार करते हैं तो पहले हमें यह देखना होता है कि जैनेन्द्र ने किन नृत्त्वपूर्ण प्रश्नों का उठाया है। उनके पहले प्रसिद्ध उपन्यास "परत" में हम उन्हें बचप्य और प्रेम का प्रश्न उठाने हुए पाते हैं। यह प्रश्न पढ़कर सामाजिक भूमि पर न घा कर बढ़ने कुछ वैयक्तिक भूमि पर उपस्थित हुआ है। जैनेन्द्र के लिए वैयक्तिक प्रश्न सामाजिक प्रश्न नहीं है वह मन का भी बचप्य है उपन्यास में नायिका एक बचप्य को ठाढ़ देती है और बिगुड प्रेम की भूमि पर चल कर विजय प्राप्त करती है। उपन्यास के पक्ष में हम बिगुड और बढ़ने को धार्मिक प्रेम-मूल में बंधा पाते हैं। जैनेन्द्र के मन में बिगुड प्रेम का बचप्य वही मन का बचप्य है और हमीमिए का उपन्यास के दृष्टिकोण चिन्तन की महाबला न रगत कर धार्मिक चिन्तन की भूमि ही बिगुड चिन्तन की भूमि है। "गुनीरा" में जैनेन्द्र ने एक पक्ष प्रश्न का उठाया है। यह प्रश्न १६ २ में "घरे-बाहर" का प्रश्न करत रबीन्द्रचन्द ने भी उठाया था। धार्मिक भागी जीवन का पक्ष मूल्य प्रश्न है। भारी धर्म ही है पर वे सीमाएँ हैं किन्तु हम सीमा का बचप्य रगत कर जब उनका लिए पढ़कर हो पाता है। धर्मक प्रश्न के बाहर न पर न दरकार

र बल्लभ दे रखा है और उसके लिए यह प्रयत्न है कि वह इस बाहर का स्वागत करे
 ग उसकी उपेक्षा करे। यह समस्या मूलतः वैवाहिक जीवन की समस्या है और इसी
 से जैनेन्द्र ने वैवाहिक जीवन की पृष्ठभूमि पर इस समस्या को उभारा है। साप्ता
 हिक "हिन्दुस्तान" में प्रकाशित एक लेख में रबीन्द्रनाथ टागोर से अपनी नोट का
 संस्मरण उपस्थित करते हुए जैनेन्द्र ने ध्यान और रवि बाबू के हरिप्रमल की तुलना
 की है। उनका कहना है कि रबीन्द्रनाथ के "घरे-बाहरे" में बाबू के आभाव से घर
 टूट गया है। १९०२ के ईश-जय के घातकोग ने तारी की गई सामाजिकता की भी
 और तारी-मुक्ति का यह प्रयत्न रबीन्द्रनाथ के सामने खड़ा था। जैनेन्द्र के सामने भी
 यही प्रश्न था किन्तु धार्मिक उद्यम में। १९२१-२२ के घातकोग ने तारी की तथा
 राजनैतिक क्षेत्र दिया था और उसके लिए यह की प्राचीनों को स्वीकार करके बंध
 खूना घटमब था। इस समस्या को लेकर जैनेन्द्र ने तीन उपन्यास लिखे मुनीता।
 (१९३२) सलदा (१९३०) और बिबुध (१९५२)। इन तीनों उपन्यासों का मूल
 प्रश्न और बाहर के संघर्ष का है। इन तीनों उपन्यासों में जैनेन्द्र इस प्रश्न
 के प्रति उत्तरात्तर उत्तर होते गये हैं। "मुनीता" में हरिप्रमल बाहर के आभाव
 का प्रतीक है। भद्रुक क्रांतिकारी और कामल कमाकार हरिप्रमल के पहुँचने ही इस
 घर में खलबली मच जाती है। किन्तु पति का प्रेम अपनी को इतना धार्मिक मिमा है
 कि बाहर का आभाव स्वयं कुटिल होकर पीछे पीछे जाता है। उपन्यास के अंत में
 जैनेन्द्र देह की प्रसारकता दिखा कर वैवाहिक जीवन को ही शुद्ध प्रेम के स्तर पर
 उन्नत देने हैं। मुनीता ने भोकांग को धरना मन दिया है। वह धारम-दान से उन्नती
 है। हरिप्रमल का उपरत धन के प्रति आकर्षण है किन्तु स्वयं मुनीता की दृष्टि में
 इस धन का धार्मिक मूल्य नहीं है। हरिप्रमल मुनीता का धन पा सकता है पर नम
 नहीं पा सकता। अंत में वह धारमकुटिल होकर भाग जाता है। इस प्रकार
 "मुनीता" में घर और बाहर के संघर्ष में घर की विजय है। अपने उपन्यास-लेखन
 के १० वर्षों के अनंतर के बाद जैनेन्द्र जब उपन्यास-लेखन की ओर लौटे तो उन्होंने
 "मुनरा" में फिर इस प्रश्न का उभारा। इस उपन्यास में उन्होंने हिंसा और धार्मिकता का
 एक दूसरे प्रश्न का भी लिया और उसे क्रांतिकारी जीवन की एक विचार पृष्ठभूमि की।
 पर मूल प्रश्न अभी घर और बाहर का संघर्ष है। यहाँ क्रांत और मुनरा का घर है।
 'मुनरा' घटने धार्मिकता का स्वातंत्र्य बाहरी है और स्वयं इस घर का तोड़ कर बाहर
 चली जाती है। मान बाहर का प्रतीक है। एक बार बाहर जाकर मुनरा को जान
 पड़ता है कि बाहर आकर अपने घटने धार्मिकता की स्वतंत्रता का अनुभव किया है।
 किन्तु यह अनुभव बड़ा तीव्र है और वह उसे सह नहीं सकती। वह सीटला काहूती
 है परन्तु सीटला धर्ममय है। अपने पति के रूप में घर का स्वरूप जो उसे प्राप्त था वह
 नष्ट गया है और उपन्यास के अंत में हम घर और बाहर के द्वन्द्व के जीवन में

की घरीर से टूट जाते पाते हैं। यहाँ भी इन बातों के रूप में एक उदार पति के दर्शन करते हैं किन्तु सुनीता के पति की अपेक्षा सुसदा के पति की यह धार्मिक उदात्ता सुसदा के लिए घातक सिद्ध होती है। संभवतः इस उपन्यास में जैनेन्द्र का यह दृष्टि कोण है कि पति का संपूर्ण प्रेम पाने पर भारी बाह्यता एकदली है किन्तु इस बहिर्जन मन की घपनी भीमार्ण है। यदि वह बाहर भीतर के बीच में ठीक संतुलन स्थापित नहीं कर सके तो वह बाहर ही रह जाती है वहाँ संघर्ष है, अकारण्य पैदा करने वाली स्थायीकता है परन्तु वह प्रेम नहीं जो जीवन का पोषण करता है। घपने तीसरे उपन्यास 'विचलित' में जैनेन्द्र मुख्य रूप से हिंसा और महिला के प्रश्न को लेकर चले हैं किन्तु अन्ततः रूप से पर और बाहर का संघर्ष भी उसमें आया है। यह उपन्यास घपनी पृष्ठभूमि में 'सुपीता' से बहुत दूर होकर भी घपने संतुल्य में उसके बहुत निकट है। इसमें हम अतीत मान के एक क्रांतिकारी पान को प्रेमी के रूप में पाते हैं। ऐन उमट कर यह उपन्यास की नायिका सुबलमोहिनी के पर घायब प्राप्त करता है जो अपनी महापाठिका रही है और जिसके प्रति उत्कण्ठ अनन्य प्रेम है। यहाँ उसे भरपूर प्रेम मिलना है और संत में वह यह समझ जाता है कि प्रेम हिंसा मान से नहीं बढ़ा है। उपन्यास के संत में हम नारी के प्रेम प्रसार का एक बड़ा सुन्दर दृश्य पाते हैं। घपने छोटे पर के भीतर ही नारी की मार्भकता है और वह उसी के भीतर से बाहर की जीवन रन देने में समर्थ है।

इस पर और बाहर की समस्या के साथ-साथ जैनेन्द्र ने सामाजिक भूमि पर नारी की स्थिति को और भी व्यापक रूप से देखा है। "त्यागपत्र" और "कल्याणी" में उन्होंने नारी-जीवन की अनेक विषय स्थितियों को उभारा है। पान नारी की नारी मार्भकता केवल-मात्र उनके तन में है। हमारे सामाजिक संस्कार नारी के विमुक्त प्रेममय और घातककारी रूप को नहीं देना पाते। पन यह है कि एक बार स्थापित होने पर नारी बराबर बिरानी ही बानी है और उनकी तन की सुदृढता के उनको बहिर्जन का मुख्य घातक जाना है। यह स्थिति "त्यागपत्र" में बिल्कुल स्पष्ट है। इस स्थिति में नारी का उद्धार करना अत्यन्त कठिन है और रूप "त्यागपत्र" में इस कठिन्य की व्यंजना है। अगनी कुमा का उद्धार न कर लाने के कारण घन में विनोद त्यागपत्र र देना है। "कल्याणी" में नारी स्वतंत्र जीवन जीना चाहती है। यह उच्च धार्मिक आन्य बने की नारी है और सिद्धिग भी है किन्तु फिर भी उनके लिए स्वतंत्र जीवन जीना अत्यन्त ही कठिन है। स्वयं कल्याणी का पति उनके आत्मविश्वास के पार्य में गदमे बड़ा बाधक सिद्ध होता है और घन में कल्याणी क बोधन स्वतंत्र कल्याणी की मृत्यु हो जाती है। इस उपन्यास में जैनेन्द्र नायिकी यह बना देना चाहते हैं कि पान कल्याणी नारी के लिए बोधन बन गया है और विचारित जीवन में भी उसे स्वयं सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

गापी के इन मूल प्रश्नों के साध-साध जैनेन्द्र स्वीय धीरे-धीरे पुस्तक की दार्शनिक समस्या को भी लेकर चले हैं। इस सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण बर्नाईया और अणुलंकर प्रसार जैसा है। 'शा' ने अपने इच्छित माटक 'बिक टु मैप्युलमाह' में इन प्रश्न को व्यापक रूप से प्रस्तुत किया है। 'शा' की मायता यह है कि गापी मूल रूप में स्वामित्व की प्राकामिणी है और यह प्रकृति उसमें इसलिए पाई जाती है कि वह परिवारों का निर्माण करे।

उनके मूल विन्तन के कारण उनकी मनोबैज्ञानिकता धर्म्य और इलाचद की मनोबैज्ञानिकता से भिन्न है। धर्म्य और इलाचद में मनोबैज्ञानिकता ऊपर से आरोपित है। वह पापों के जीवन से उतनी विकसित नहीं होती। इस प्रकार जैनेन्द्र को हम ऐसा मनोबैज्ञानिक उपन्यासकार कह सकते हैं जो जीवन की गहरी अनुभूतियों से प्रभावित है और जिसका सामाजिक दर्शन अनेक मनोबैज्ञानिक स्थितियों को लेकर चलता है।

धर्म में एक बार जैनेन्द्र की माया के संबंध में कह देना अपेक्षित है। जैनेन्द्र की माया उपवास है या उपवास इस विषय में बराबर तक चिंतन करते रहे हैं। पर हममें संदेह नहीं कि उनकी माया का धर्म्य निजी रूप है। वह उनके मूल विन्तन की बाह्य है और उसमें जो एक प्रकार की प्रतिध्वनिना प्रति-मानकता और प्रति-मानसता पाई जाती है वह इस कारण कि लेखक का धर्म्य व्यक्तित्व इन्हीं धर्म्यों से संतुष्ट है। उन्होंने प्रेमचंद की माया-सैली न उपनाकर रबीन्द्रनाथ और सगुणर की माया-सैली के आधार पर अपनी माया-सैली का निर्माण किया है, परन्तु इन दोनों धर्म्य-सैलियों की माया-सैली से वह बोझी भिन्न भी है। इसमें जहाँ रबीन्द्रनाथ की सीधकता और सूक्ष्म धर्मिकता-शक्ति पाई जाती है वहाँ स्वाम-स्वाम पर धर्म्य-सैली सीधकता और धर्म-सुरित करणा सारे में भी वह धर्म्य है। इतना होने पर भी उनके विकास का धर्म्य इतिहास है। जैनेन्द्र की माया धर्म की माया नहीं मानस की माया है। उनके उपन्यासों की धूमि बाहरी जगत् न होकर मानसिक जगत् है और इतिहास उसके लिए उन्हें नई माया का निर्माण करना पड़ा है। यह माया लेखक के धर्म्य की बहुत मूर्त है और बोझी बोलती है, पर उतका यह रूप हिन्दी के लिए एकत्रम तथा धीरे-धीरे महत्वपूर्ण है। प्रेमचंद के युग तक माया की बाहरी विषय संबंधी धर्मियों का पूर्ण विकास हो चुका था। जैनेन्द्र ने धर्म्य का विश्लेषण करने वाली माया हमें दी और इस प्रकार उन्होंने हिन्दी माया की संभाव्य सीमाओं का बहुत दूर तक विकास किया। जैनेन्द्र के उपन्यासों का एक बड़ा आकर्षण उनकी यह माया भी है।

परस्व

“परस्व” जैनेन्द्र कुमार का पहला उपन्यास है जो १९२९ में प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास ने हिन्दी के कलाकारों और समीक्षकों के सामने उपन्यास की नई संभावनाएँ प्रकटित कीं और माया-संज्ञी भाव-अधिमा मनस्त्व और विचार की नई भूमि दी। वास्तव में नई उपन्यास कला का आरम्भ इसी रचना से समझा जाना चाहिए। बिसे ‘लघु उपन्यास’ कहा जाता है वह “परस्व” से भिन्न नहीं है और प्रेमचंद के उपन्यासों की सामने रखने पर इस रचना की अतिव्यक्तिता स्पष्ट हो जाती है। आरम्भ में ही ‘विद्यक के कुछ घण्टे’ है जिन्हे द्वारा उसने अपनी नई सर्जन प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है और उपन्यास के संबंध में नई चारुता दी है। उपन्यासकार के आदर्श के संबंध में जैनेन्द्र प्रेमचंद के साथ है। वह संभाव्य को लेकर चलेते हैं यथार्थ का लेकर नहीं। इस प्रकार वह भावसंचारी हैं। वास्तव में उनके पहले दोनों उपन्यासों ‘परस्व’ और ‘सुनीता’ के आदर्शवाद ने प्रेमचंद को प्रेरित कर दिया था। “सुनीता” पढ़कर प्रेमचंद ने आश्चर्य किया था कि जैनेन्द्र व्यवहार की भूमि छोड़कर न जाने आदर्श की किस दुनिया का निर्माण कर रहे हैं। स्वयं जैनेन्द्र के शब्दों को लें “उपन्यास में सैसी दुनिया है सैसी ही चित्रित नहीं होती। दुनिया का कुछ सटा हुआ समतल कल्पित रूप चित्रित किया जाता है। वह उपन्यास किसी काम का नहीं जो इतिहास की तरह बटनार्यों का बखान कर जाता है। कम से मतलब वह दुनिया को घाने बढ़ाने और बढ़ने में जरा मदद नहीं देता। क्योंकि न वह उपन्यास होता है, न इतिहास। इतिहास का अपना मूल्य है। वह विश्व की प्रकृति के मार्ग का लक्ष्य हमारे सामने रखता जाता है। इसी तरह आदित्य के हर “प्रकार” का अपना मूल्य है। उपन्यास का काम है कुछ घाने की, कल्पित की भावनाओं की जरा सँझी विद्याना और जो कुछ घब है, उसकी ठह हमारे सामने कोमकर रख देना।” इसमें यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र वहाँ उपन्यास को भविष्य की संभावनाओं से संबंधित करते हैं, जो आदर्श स्थितियों के रूप में कल्पित होती हैं वहाँ वह यथार्थ जीवन की भी ठह-पर-तह ध्यान कर रहा चाहते हैं। इनमें से पहली बात प्रेमचंद की मायता के निष्पन्न पड़ती

है। परन्तु वह यथार्थ जीवन में बहुत सहारे नहीं उठसके। यह सबस्य है कि "निर्मला" में उन्होंने ऐसा एक प्रयास उपस्थित किया है परन्तु उनमें बहिर्जीवन को सुने की समता अधिक है अतर्जीवन में बूबने की कम। जैनेन्द्र अतर्जीवन में बूबना चाहते हैं। अतर् स्पष्ट है कि जहाँ एक घोर अहंनि सामाजिक संतर्षों में अासंकायिता स्वीकार की है वहाँ पाशों के व्यक्तित्त अीवन और अतर्जपत् की अघेइ-बुल यी अतका सक्य है। इस प्रकार वह प्रेमबंद की अपेक्षा नहीं बने अहंय को अेकर बतते हैं। वह बाहर और अीतर का एक भाग अूना चाहते हैं। परन्तु सब ठो यह है कि वह भीतर ही बूबकर रह गय हैं बाहरी अतका स माजिक स्थितियों का केवल इंगित मात्र किया है।

परन्तु प्रेमबंद से बहुत बड़ी भिन्नता उक्त समय समय में आती है जब जैनेन्द्र अतर्जवन के साथ शिक्षा के उद्देव का स्वीकार करते हुए भी जैसा प्रेमबंद मानते हैं अपनी अर्जन प्रक्रिया की अये अंय से अ्याख्या करते हैं जो अतर्जवन से अतर अठ कर अमात्मकता आगम्य रस अक्ति, एक प्रकार की आत्मानुभूति इतअम बाहरी है और शिक्षा को अघेअात्मक अंय पर नहीं। इस संस्कार के अय में अस्थित करती है। यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र अयन्यास को असा की वस्तु मानते हैं और अतका सक्य आभ-सबेदन अधिक है। वह अतर्जवन से गहरी अीब देना चाहते हैं। अतर् उनकी असा की अतर्गान्ता प्रेमबंद की अयगीअताबादी अयन्यास से भिन्न है। वह कहते हैं, "अयन्यास एक नये अजीब ही अंय से रमि और अयदेव अूर्ल अीवन का अिन हमारे अागने रकता है। अीवन के अाभाग्य अत्म और अतर्षी अुरिपियों को अुलअाकर और अोक-आनकर रक देता है। अयन्यास इस तरह, अय में स्वर्ज की अुट देकर आस्तव में अल्पना अिसाकर अयबहार से अासर्ष का अात्म और अासंअस्य स्वापित कर, और अर्तयाग पर अविष्य का रंय अड़ाकर अीवन का बहु अय अेस करता है जो अीवन से अिसता अुलता है फिर भी अनीबक है अिसके अतर्जवन यी अ्राप्त अूठा है और अिसा भी और अिनसे अूअन, एक नई अीब अूअय में अैठ जाती है और हम अरु अाग अड़ आते हैं। अने आधुन्य भी नहीं अेता पर एक संस्कार—एक नई आठ अीरे-अीरे अयर्षी आरंभ अे जाती है। वह अिसा और बहु नई अीब अयुक अय्यों और अाकर्षा में नहीं अेती अयदेअात्मक नही अेती बहुत अधिक प्रकट और अिवेकअम्य नहीं अेती और वह बहुत कम अिरलेपल और अस्तित्क की पकड़ में आ जाती है। अिन में मात्र नौ तरह बहु अारी अति में रमी रहती है। अस्तित्क की अिवेचना को पार कर अूअय की अयनुभूति में अीभी आकर अेती अुपती है कि आहे अस्तित्क अीजलाता ही रह अय अिअ आता है। अस्तित्क अतका उहैअय अूअने और पकड़ने में ही अतअय कर रह आता है अवर अक्ति का अूअ अरु की अयन्यास एक आगम्य रस एक अक्ति, एक प्रकार की आत्मानुभूति अ्राप्त अे अुफी अेती है जो तीर की तरह अयत् अक का अने, अुअि के अटल और अान की अेकर अय में अुस आय और अूअम अस्थित कर दे

नाम जो हो कट्टो कट्टा है। सत्यवन का ही बिना नाम है। परिवार से भी ही है। उपर सत्यवन के भी माँ ही है। दोनों परिवारों में बड़ी समानता थी। सत्यवन और कट्टो जब सबोध बालक थे तो साथ खेलते थे। बार वर्ष की थी तो कट्टो का विवाह हुआ और वर्ष भर बाद ही यह विधवा बनकर माँ में रहने लगी। सत्यवन से उनी तरह हिन्दी-पिनी। दोनों बड़े। सत्यवन पढ़ने के लिए बाहर गया। परन्तु छुट्टियों में वह बराबर कट्टो को पढ़ाता। कट्टो भी भावस्थ बीरे-बीरे वह सब क हुई। विधवा होने का साथ सामने थाया। परन्तु भीतर वह सब भी प्रबोध थी। इसी बीच में सत्यवन ने भी ए० पाठ किया बकालत पास की। एम० एम० बी० हुआ। परन्तु एक दिन भाग्यकता के फर में पढ़कर बकालत न करने का प्रयत्न ले लिया। पाँच में रहने सया।

1. बीच में क्या रखा है। परन्तु कट्टो तो है ही। वह पढ़ती है। उसे यह पता नहीं कि छुट्टियाँ सब हमेशा के लिए हैं। "मास्टर साहब" 'सत्यवन' को सब कहीं जाता नहीं है। विधवा होने की जड़ता कट्टो को ब्यापी नहीं है। सब उसकी अपसता से कुछते और मानुस होते हैं। कहते हैं। "यह विधवा है कमनसीब।" लड़की बाल बर्द है कि वह विधवा है कमनसीब भी होयी। मेडिकल फिर हँसने-देसने भावने-करने का अधिकार वह क्यों नहीं रखती—यह वह नहीं समझ पायी।

सत्यवन का रंग उल्लस है। वह जानता है कि कट्टो के प्रति उसकी प्रसक्ति बढ़ रही है। कट्टो जैसे सुन्दर नहीं है। रंग उल्लस साँभला है। परन्तु सत्यवन को उसकी कोयें मास जाती है जो बड़ी सुदृश्यपूर्ण और बड़ी हिबामम है। मानो साथ स्त्रीत्व ऐसकर इन माँकों में भर गया है। सत्यवन सोचता है—यह जो गया मीठा सा उहे मन उल्ल है और जो मुझे कुभाता-सलबाता है मैं उस बहुमा-बहुता कर नोटना शुरू करने हूँ तो परिणाम समिष्कर हो सकता है।

1. —क्योंकि कट्टो विधवा है।

वह जानना चाहता है और तभी एक रास्ता भी निकल पाता है। बिहारी को बिन्दी मिलती है। साथ परिवार कापमीर का रहा है। उसके लिए कुभावा है। वह जानना चाहता है—परन्तु चलते चलते कट्टो उसके हान में एक कालक में लपेट कर उठ किया हुआ ठकिये का निलाफ रख जाती है जिस पर उसका मोनोज्ञाम काड़ा गया है।

बकीस छाह्न बड़े जादवी है। परिणत के लिए उन्होंने सत्यवन को कुला है और सत्यवन के साथ वह किसी ठक को उठाना नहीं चाहते। बरिया और सत्यवन को लेकर सत्यवन के मन में एक इन्ध चलता है। अभी कापमीर के रास्ते में रेल में ही है कि छोर्ड हुई परिणत की प्यारी नीर की चौकनी करते हुए सत्य सोचता है "एक यह है जिसका समिष्प बीठा निविधत-मुझी है। बिन्दने जीवन में घाघम ही पाया

घौर बिनास ही देखा है। एक वह है कट्टो बिलने केवल 'भ' कार की मूर्ति बन रह कर बीबन काट जाना है। यह कैसा वैपम्य है ? यह फिर सोचा परब में क्या कहेगा ? क्या मैं इस वैपम्य को बढ़ाऊंगा ? या—या साम्य बढ़ाऊंगा ?" वह कट्टो के बारे में सोचता है। "क्या बुद्धियों के प्रति हम निर्दिष्टों का कोई कर्तव्य नहीं है ? क्या संसार का सारा मुख हथिया सेना धम्याय नहीं है उनके प्रति बिम्बें उसका कस भी नहीं मिल पाया है ? और कुछ नहीं तो जनकी सातिर क्या हम अपना मुख कम नहीं कर सकते ? कट्टो को इसी तरह रहने देकर मैं खुद कैसे बिसास-मर्त में डूब सकता हूँ। परन्तु धर्म में कट्टो से बदरने का एक मार्ग उठे दिखाई देता है। कट्टो बिभवा है। उसका विवाह करना होगा। वह उसके लिए बिहारी को तैयार करता है और धर्म में तप करता है कि वह स्वयं परिमा को स्वीकार कर कट्टो को बूस बापया।

यह द्वन्द्व-स्थिति है। एक ओर प्रेम परन्तु निर्बलता और न-कार स्थिति। दूसरी ओर सब कुछ, बन और सामाजिक मान्यता और भविष्य। बीच में धमी सामाजिक प्रश्न नहीं धामा है। सामाजिक प्रश्न या बिभवा का प्रश्न बाद में धामा। वह केवल स्थिति के समाधान के लिए है इसीलिए 'परब' की समस्या अभीष्ट के प्रति विरुद्धता की समस्या है। सामाजिक विद्रोह या विभवा-विवाह की समस्या नहीं है। इसमें सत्यजन की दुर्बलता और असारता ही दिखाई गई है। बिहायी तो सत्यजन को केवल समाधान के रूप में दिखाई देता है प्रतिद्वन्द्वों के रूप में नहीं। इस प्रकार त्रिकोण नहीं नहीं बनता। समस्या सत्यजन के भीतर के प्रश्न की है। जघने अपने भीतर जो सत्य की गति बाँध ली है उसकी असारता विलसना ही मेकक का उद्भव है। कट्टो के द्वारा यह पर्यायकता ऐसे रूप में दिखाई गई है कि हम चमत्कृत हो जाते हैं।

सत्यजन काश्मीर से लौटता है और कट्टो से विवाह की बात चलाता है। बिहायी की बात पठता है। कट्टो के लिए सत्यजन ही सत्य है बिहायी नहीं। वह अपने "विभवापन" को समझती है, पर उसके लिए किसी की बोध देना नहीं चाहती। वह बड़ी हुई है। सत्य कट्टो के मुख की उठ सामौकिक स्थिति को परता है। वह दौति उठ बन छा जाती है। तो उसने कट्टो को स्पर्श ही कुछ पहुचाया। वह इसका प्रति-कार करेगा। परन्तु कट्टो सत्यजन को बोधी नहीं मानती। वह इसके लिए तैयार नहीं है। वह कुछ नहीं कहती। बस वह धर्म में अपने मास्टर के पैर छटोस सेना चाहती है और पैरों को पाकर धनु-बल से उनका बूस ही बनिविचन करती है।

इन धर्मस्थापित बटना ने सत्यजन को भावना से भर दिया। उनके प्राणों में एक ज्वार उठा—भीठे रई के एक रूपान का उम्हने अनुभव किया। वह घर के कमरे में बंद नहीं रह सका। पास ही रंगी की सहर बहती है। नहीं पहुँचकर उमने प्रकृति के बीच में अपने हृदय को हलका किया। कुछ रीत सा मिला। इस महात् सीनाम्य की वाक्य वह भीतर से जैसे हस्तप्रता के बोध में बच गया। इतर कट्टो सीनाम्य के पुहाइ-

के नीचे हबकर धकेलन-बी हो गई। स्वप्न में भी जिस सीमाप्य-व्याप्ति का सङ्घर्ष उसे नहीं था वही धाज उसे इस प्रकार प्राप्त हो गया तो वह विह्वल और बेमुग्न हो पड़ी। उसके भीतर लज्जा ने जन्म लिया। कहीं कोई देख न ले। इस सीमाप्य को लेकर ही उसे भीमा है। धगधे बिन नया भी पर्वी है। वह आवेपी और अपने लिए साएनी- को बुद्धियां सात एक बिंदी दिक्कियों की दिक्किया एक तिमूर की दिक्किया। यह नया की पर्वी ही जैसे उसके लिए सीमाप्य भाई है। बड़े लड़के मा से सड़ मगड़ कर वह बस पकती है।

सत्यजन पहुँचता है तो कट्टो की माँ उसे धकेली ही मिलती है। वह सत्यजन के विवाह की बात सटाती है परन्तु सत्यजन टाकना चाहता है। कट्टो की बीबी धायपी तो क्या वह उसे उठी लच्छ प्यार कर डकेवी। नहीं वह गरिमा को नहीं धप नावेगा। कट्टो को मा से इस बर्बा का पता चलता है। वह बालों में तिमूर मार कर और माये पर बिम्बी भवाकर सचमुच सीमाप्यवती बन गई है—धबोध को है— और उठी धबोधता में सत्यजन को बिट्टी लिखने बैठ जाती है।

परन्तु सत्यजन का धमसा बड़ गया है। वह मन में बिहायी को लेकर एक समामान बना चुका है। धब बिहायी को वह क्या कहकर लमसधवेया। एक धोर धपनी बात की रखा है और दूसरी धोर धपनी हितियध की धपनी मा की धपने सब कृष्ण की रखा का लयात है। वह संकल्प-विकल्प में पड़ जाता है। इसी समय कट्टो के हाथ की लिखी कृष्ण पंक्तिर्वा मिलती है जो कट्टो के प्रति उसके भाव को फिर बरस देती है। धपनी तो वह मा के पास जाकर सब कृष्ण स्वीकार करना चाहता है—कट्टो को उसने लच्छ के मारी पलके पर रखा है। परन्तु धब कट्टो सिखती है कि मेरे लारस सोच में मत पड़ो। क्या वह उसे छू दे रही है ?

यहाँ से कथा नया मोड़ लेती है। धब बिहायी बाँव में धा गया है और उसने सत्य के धर में लुप्यन भर दिया है। गरिमा के विवाह की बात पक्की करने वह धावा है, परन्तु कट्टो की धोर भी उसको बिबाहा जापठ नहीं है। बिहायी को टुक बात जानता है। वह गरिमा का पस लेकर धाया है परन्तु सत्यजन के मुह से सब कृष्ण सुन कर वह यह भी जान लेता है कि सत्यजन धपने को लस रखा है। मा बाबू जी और गरिमा की धोर लेकर वह धपनी धात्ममानि से बचना चाहता है। परन्तु सत्य जन कर्तव्य और धर्म जैसे बड़े-बड़े धर्मों से उसकी बचान बच कर देता है। सत्यजन को इन लच्छ पकड़ा जाना रुचिकर नहीं है। उसने धब धपना मन मना लिया है। गरिमा उसे स्वीकार है। कट्टो कोई नहीं है। धाब ही वह मा से कह रेगा। बिहायी क्या इस निबन्ध से प्रसन्न नहीं है। गरिमा को लेकर तो उसे प्रसन्न ही होना चाहिए। परन्तु सत्यजन के मन का धम उसे पलकता है। फिर सत्यजन ने धपनी कट्टो से क्यों नहीं

कहा । बिहारी साठ बाठ बाहूटा है । एक बार कट्टो को बुलाया हुआ घोर उससे परिचय करना होगा ।

कट्टो घाती है । माये पर बिन्धी है घोर मांग में सिन्धूर है । सत्यजन के सिखा घोर किसी से भेंट होने की उसे धारणा नहीं है । यहाँ यह लोग है । वह एक दम बहुत सम्बा बूँबट निकाल कर बोहरी हो जाती है । परन्तु बिहारी बाठावरण को गम्भीर नहीं होने देया । वह "भाभी" कह कर कट्टो को सम्बोधित करता है घोर मटमट बनकर उसे धपनी घोर से धारणा कर देता है । दोनों को दूसरे दिन सवेरे का निमन्त्रण देकर कट्टो बनी जाती है परन्तु साय ही वह बिहारी के मन को भी लू लेती है । सत्यजन ने उसके साथ कितना बड़ा धनाचार किया है, यह धन वह जानने जाता है ।

परन्तु सत्य दूसरे दिन नहीं जाता घोर बिहारी को कट्टो का निमन्त्रण स्वीकार करना होता है । वह कट्टो की मा से धाप ही वास्तव्य का माता बोड़ सेता है घोर भोजन के बाद सत्यजन के मन की याँठ भी कट्टो के सामने लोम कर रख देता है । वह परिमा से बिहारी की बात पक्की करने धाया है । कट्टो बड़े विरवास से कट्टी है कि सत्यजन के बिहारी की बात तो पक्की हो गई है घोर उसके बून नहीं हो सकती परन्तु ऐसे स्वयिक विरवास के साथ केमने वाले सत्यजन को बिकटारता हुआ बिहारी जब सत्यजन के सविष्य की बात उठाता है घोर परिमा के साथ सत्य के बिहारी में ही सत्यजन की रक्षा करता है तो कट्टो नारी की कस्माणी प्रकृति के धनुमार बलिदान के लिये तैयार हो जाती है । परन्तु वह स्वय सत्यजन में कह लेवी बिहारी कुछ नहीं करे ।

कट्टो घाती है घोर बिहारी को भी रोक रखती है । सत्यजन को वह धपनी घोर से विरवास दिमाया बाहूटी है । दुःख उसे यह है कि उससे मांगते वह क्या करे ? क्या वह पराये से मांग रहा था ? वह तो उसकी ही थी । उसके काम नहीं पाई तो हुई ही क्या ? जो कुछ भी वह चाहता है उसमें कट्टो की बून धाम है । सत्यजन की खुशी में ही उसकी खुशी है । वह धपनी धार से उसे सूट देती है । अपने कामों में वह कट्टो की दिनती नहीं करे । वह दिनेने भायक नहीं है । परिमा बीबी धापनी तो उसे खुशी ही होगी । वह बून-बून कुछ होगी ।

बिहारी कट्टो के धनदरक को पढ़ चुका है । कट्टो का बलिदान उस लू जाता है । वह जैसे रो देता । सत्यजन लौट नहीं सकता । बात वह मयमता है परन्तु उसे पाना सविष्य भी बनाना है । कट्टो उसकी धाया लेकर लौट जाती है । माय में बिहारी को से जाती है घोर धपना घ पंके का बर्षस कंबा टिहुनी घोर सिन्धूर परिमा के लिए इसके हाथ में लौट देती है । यह परिमा बीबी को उसकी भेंट है । बिहारी भी क्या उसे कुछ नहीं चाहता । कट्टो ने कुछ-कुछ धनुमान लया लिया है — परन्तु सब उससे

पास मारील है कहीं ? वह तो निष्कृत सत्यपन के चरखों पर बिछाकर हो गया है । पहले एक या धब हो गये हैं । वह धब हो की सेवा करेगी ।

तभी एक खूबसूरत पट्टि होता है । कट्टे का धर्म भाव बिहारी को लू लेता है । उसे एक बाभलपत्र होता है । परमात्मा ने उन दो को साथ ला दिया है — धब दोनों बापएँ एक होकर बहेंगी उनका कुछ धीर काम न होगा । कट्टे की मारी-प्रकृति ने प्रजापति रूप के बिहारी के धर्मपु को टटोल लिया है । वह जब बुझी पूजा का निर्माण बन चुकी । अब उसका कुछ भी उसका नहीं रह गया । परन्तु यदि बिहारी बैबेना चाहे तो वह उसके साथ कर्मव्य-युग में बैबेन सखती है । वह फिर बैबेन्य में बैबेनी । प्रत्यक्ष होयी । बिहारी भी उसका साथ दे सकेगा । कट्टे का बाबा हाथ बड़ा बिहारी का बाबा । दोनों एक में हुए पये । “हम दोनों बैबेन्य-युग की प्रसिद्धा में एक-दूसरे का हाथ लेकर प्रारम्भ बैबेन्य हैं । हम एक हूँगे — एक प्राण दो तन । कोई हमें धुसा नहीं कर सकेगा ।” बिहारी ने बोधवा दिया । कट्टे ने कहा — ‘भाब मेरा बिबाह पूर्ण हुआ । बैबेन्य सार्वक हुआ ?’ बिहारी ने कहा — ‘मह महा शुभ्य छाभी हो हम कट्टे-बिहारी सदा एक-दूसरे के प्रति कट्टे-बिहारी रहेंगे न कम न रयावा ।’ बहूँ कथा चरम सीमा पर पहुँच जाती है । धैर कथा पाद-मुक्ति भाव है ।

गरिमा के सत्यपन की स्वीकृति लेकर बिहारी कर जोड़ता है धीर पिता से अपने आत्मिक बिबाह-व्यपन की बात कहता है । पिता सड़के की सतक जानते हैं । समझते हैं,—बिहारी सौठ भायेगा । परन्तु वह व्यावहारिक बाबनी है । सत्यपन को उन्हें नकड़ना है ।

सत्यपन-गरिमा का बिबाह सम्पन्न होता है और उस मुसुर वैनई बाठावरन्य में कट्टे उसे भरपूर स्नेह से मिलती है । गरिमा को कट्टे से ईर्ष्या हो चली थी । पहली ही निष्कृतपु भेंट में मन का वह कल्प पुन बाठा है । इसके बाद सत्यपन बाब में नहीं रह पाता । बाब की लसकाहु गरिमा के धनुकुल नहीं है । नमकव्याम उसे बुला लेते हैं धीर भीरे-भीरे अपने प्रार्थनाबाबी बोले को उतार कर वह बकासत में बैठ जाता है । उधर बिहारी सेवा-वध में लया है । परन्तु घोट-बुर्बटना होती है धीर मृत्यु रीवा पर पड़े भगवद्दयाम बिहारी को घर-बार मिल कर इस बोके को सोड़ देते हैं । सत्यपन बहूँ नहीं है । लौटने पर उसे यह समाचार मिलता है । सत्यपन को यह बात बू जाती है । गरिमा के धायह को भी धनमुला कर वह धसव मकाम लेकर रहने लगता है । परन्तु बलिदान मनी कट्टे से बच कर वह कहीं जा सकेगा । कट्टे उसके घोष की बात जान जाती है धीर जानीस हुआर रुपये उसकी सेंट कर जाती है । धंत में इस बरवारी अंभाम के मुक होकर बिहारी धीर कट्टे को अपना प्रसन्न दिवाने की बात लोचते हैं धीर कर्मव्य-युग पर बाबड़ हो जाते हैं ।

“परब” नाम में ही इस कथा की सापेक्षता रही गई है। बन और मुक्ति का जीवन का धारण किस प्रकार मनुष्य को प्रेम की साम्यवर्तिक उपलब्धि से रोक्ता है। किस प्रकार सत्य का सामग्री मन प्रसन्न की चमक से प्रदायित हो अपने धारण को धारण कर लेता है। यही ‘परब’ की धम-सिद्धि है। बिहारी सत्यपन के भीतर की इस पाँठ को जानता है। वह स्पष्ट कह देता है। “मैं तो यह कहूँगा कि तुम आत्मप्रबर्चना करते हो और उसके साथ चलने वाली जो आत्मममता है उसे अपनी माँ और बाबू की धीर गरिमा की घोट बैठ कर बचा जाना चाहते हो।” आस्था में सत्यपन का बिबना-बिबाह का नाउ आत्मप्रबर्चना मात्र है। स्वयं सेवक सत्यपन के मन को इती मापबद्ध पर नापता है। सत्यपन भगवद्भवान को पत्र लिख कर उसके हाथ में बात सौंपता है तो सेवक कहता है “जैसे मन उसका बन्धन है बड़े ही उसकी बात की समयाती जाती है। दो-दुक कहता नहीं जानता। इस बिहारी के बाव भी उसका मन डीबीडोल है। सोचता है देखें बाबू की क्या बचान देते हैं। जैसे अपना निर्लभ्य वह घाय नहीं करना चाहता — चाहता है दूसरे उसके लिए निर्लभ्य करके दे दें। मन भाया निर्लभ्य दूसरे से पाकर वह मूट उसे मान लेगा। हमें बिहारी की बात ही ठीक समती है। वह दूसरों की घोट चाहता है जिससे काम का उत्पन्नवित्त वह उन पर केक दे और कुछ अपने सामने प्रपत्नी बन कर खड़े होने से बच पाय।

जहाँ तक सत्यपन का प्रश्न है, सेवक ने इस चरित्र की आत्मप्रबर्चना को बड़ी सरकथा से धीर बड़े कौशल से उभाया है। परन्तु बिहारी और कटो में उनसे जिस धारणबाह का धुवन किया है वह ताकिक ही है, इहानीक और व्यावहारिक नहीं है। हम नहीं जानते कि कटो को बिहारी में क्या दिखता है मरना बिहारी के महान् बलिदान के पीछे उसकी चारित्रिक भूमि कितनी रीवार हुई है परन्तु कटो-बिहारी की क्या बहुत कुछ प्रबिद्धसनीय हो गई है। कटो ने मन में सत्यपन को बरख किया है स्वयं सत्यपन भी अपने मन के भीतर की धमना को जानता है इसी से वह गरिमा के इस प्रस्ताव को प्रसवीकार कर देता है कि कटो भी साथ रहे। मन में परिखीता कटो क्या उन से किटी की हो सकती है। जसय वह बिहारी के साथ प्राप्या तिक सम्बन्ध स्थापित करके ही अपनी सुरक्षा समझती है और रोमांटिक बिहारी इस धम का धिकार हो जाता है। इसमें संदेह नहीं कि कटो का आत्म-बलिदान बहुत बड़ा है, वह अपना मुहान परिमा की मेट कर देती है, परन्तु इस बलिदान से घाने बढ़कर बिहारी के साथ जीवन-यत्न लेने की साहस्यकता समझ में नहीं जाती। यह बरस्य है कि कटो बिहारी की अपने प्रति साहिक की बात जानती है और साथ ही उसे विफन

(एक तरह से सार्वक) बनाने के लिए उनमें एक धार्मिक-साहित्यिक आदर्श नक़्क़ सिखा है कि वह मन से सम्पन्न से परिणीता रह कर भी बिहारी के साथ वैभव-यज्ञ में बनेगी । वह क्यूँ है 'बो हो नया हो नया उसे मिलना जब हम के बाहर की बात है । बो नक़्क़ बुका—उसे बरलों से बाध भीच नहीं ला सकती । वह सब मेरा नहीं था गया । लेकिन "

'लेकिन' 'बड़ी व्यवस्था से बिहारी ने कहा—

"लेकिन एक बात है । घोषी हैं तो साक्षात्-बना को ऊपर सिमटिमाने देवती हैं । वह हम पर नीचे को देखती रहती है । हमारे जन्म की यह संज्ञा भी बैसे ही ऊपर को देख-देख कर बहती रहती और हँसती रहती है । मन्दा है कि ये दोनों संज्ञाएँ एक दूसरे को देख-देख कर ही जीती हैं । इस सारे अन्वय सूत्र—फिरती गणना में नया अपने वाले साक्षात् को भेद कर इनकी हँसी एक-दूसरे को परस्पर नुचन-दोम दे जाती है । दोनों का मन एक है नियम एक है । मानून होता है दोनों सत्य के समझने से इतनी दूर या पकी हैं कि दोनों एक ही उद्देश्य को जो वह पूछ करें । दूर हैं, फिर भी पास हैं । धमन है, फिर भी एक हैं । बिहारी बाबू बिहारी बाबू क्या यह नहीं हो सकता । —क्या हम भी दो ऐसे नहीं हो सकते । दूर फिर भी बिलकुल पास । मना फिर भी अभिमान । बो फिर भी एक एक ही उद्देश्य एक ही जीवन-सत्य में पिरोये हुए ।"

इस कठिन सूत्र से बिहारी बंध जाता है और सामग्य एक प्राण को उन रहने का बंध धारण करता है । क्यूँ भी क्यूँ है पात्र मेंच बिबाह पूरा हुआ वैभव सार्वक हुआ । इसके बाद के पृष्ठ कथा को परिणति देते हैं । उनमें बिहारी के उदात्त त्याग का भी परिचय हमें मिलता है जो सम्पन्न के लिए सारी पामदाय छोड़ बैठा है और साथ ही उसकी कुछ आत्मिक-साहित्यिक चरित्रिक धारणाएँ भी मिलती हैं, जैसे वैश्व की व्यर्थता के सम्बन्ध में उसका यह मत कि वह अपने धन को बटिना नहीं क्योंकि इससे धन का सूत्र बढता है । उसके जमान में पैसा ही गड़बड़ है । पैसे में ही परियम का सम्मान गप्ट कर दिया है और उसे फिरसे की भीच बना दिया ।—"बहु परिणति स्पष्ट ही प्रतिबन्धी है और धन में जब क्यूँ बन्धों के पड़ने के लिए और बिहारी हम-बैलों के लिए सेवा मात्र केरु परतुहा हुए तो इस आदर्श के बोधन की कौकी स्पष्ट बिबाह देते काली है । क्या क्यूँ से बिहारी के प्रेम (अथवा साहित्य) साध को विफल करने के लिए यह धारणाकारी अन्वय पैसा नहीं धारण किया ? इसमें बिबाह होने की सार्वकता क्या नहीं नहीं है कि वह बिहारी के साथ बिबाह-बन्धन में नहीं बंध सकती । क्या सम्पन्न के प्रति परिणीता-भाव ही उसके भीतर बंधन नहीं है, बिबाधन ही गीण है । क्या क्यूँ का आदर्शभाव उसे ही नहीं समता ।

ये कुछ प्रलभ हैं जो सामने पाते हैं। यह स्पष्ट है कि जीनेन्द्र ने कथा की परिणति में सारे सूत्र आदर्शवाद के हाथ में ले लिए हैं और जीवन की यति को प्रबुद्ध बतलाते हुए बिहारी के आत्म-बलिदान की कल्पना की है जिसके प्रकाश में कट्टो का आत्म बलिदान फीका पड़ जाता है। परन्तु कट्टो के चरित्र की भूमि विस्तारपूर्वक और समपूर्वक यकीनी नहीं है। बिहारी की जैसे ही सफल भूमि लेखक ठीकार नहीं कर सका है। फलस्वरूप बिहारी कट्टो जैसी वास्तविकता नहीं पाता। वह जैसे यत्न भासित हो। उसके सूत्र लेखक ने अपने हाथ में रखे हैं।

सुनीता

'सुनीता' (१९३२) जैनेन्द्र का दूसरा उपन्यास है। इसमें भी उन्होंने "परल" जैसे एक अप्रत्याशित रूप अकल्पित एवं अध्यात्मवर्गीय धारणा की सृष्टि की चेष्टा की है। परन्तु इस उपन्यास की श्रुतिबद्ध धारणा है। इसमें किसी भी सामाजिक प्रश्न की भाङ्ग न लेकर केवल मन के निचले तलों में प्रवेश करता है और एक अत्यंत सूक्ष्म गुणोत्कर्षात्मिका का परिचय देता है जो पाठकों को एकदम भ्रम में डाल सकती है। "परल" यहाँ भी है परन्तु वह प्रेम की परल नहीं नारीत्व की परल है सतीत्व की परल है और उपन्यास के अन्त में कम-से-कम लेखक के दृष्टिकोण से सुनीता इस परल में उलझ गई है। पिछले उपन्यास में परीक्षार्थी सत्यजन है परीक्षक है प्रेम और कसौटी कट्टो की है। इस उपन्यास में सुनीता परीक्षार्थी है, परीक्षक है नारीत्व या सतीत्व और कसौटी है हरिप्रसन्न। परन्तु कट्टो को कोई कसौटी नहीं बनाता वह स्वयं कसौटी बन जाती है। यहाँ हरिप्रसन्न को कसौटी बनाने वाला पति भीकांश है। वास्तव में वह परीक्षा जाने-अनजाने हो गई है। उसमें कोई भी छोटा नहीं हुआ है। सभी को मान मिला है। सुनीता की पतिनिष्ठा भी बनी रही है भीकांश का पत्नी-प्रेम भी अविचल है और यद्यपि हरिप्रसन्न पलायन कर जाता है परन्तु सुनीता ने जाते-जाते उसके चरणों की धुम भी है और उसकी महानता को स्वीकार किया है।

परन्तु इस उपन्यास में जो तात्त्विक कठिनाई है वह कर्माधिन् कसौटी की सत्यता नहीं जितनी तत्त्व की सूक्ष्मता की। यहाँ सतीत्व (या पत्नीत्व) नाम की जिस सूक्ष्म वस्तु की बरीक्षा है वह अतिव्यक्ति है उसे सिद्धान्त के द्वारा ही गढ़ा गया है। उपन्यासकार यह नहीं मानता कि विवाह-मात्र नारी के जीवन की सार्थकता है। हरिप्रसन्न सुनीता से कहता है—“माँजी विवाह को तुम क्या जीवन मानती हो? सबसे प्राये होकर क्या कोई अर्थव्य नहीं है? जो हो क्या उसमें तुम जीवन की चिन्ता समझती हो? मैं कहना चाहता हूँ कि माँजी तुम मूल में हो।” परन्तु सुनीता इस स्थिति को एकांततः स्वीकार नहीं करती। वह मानती है कि वह पत्नी है, फिर भी नारी है। परन्तु बाहर का निर्माण पाकर भी घर से बाहर जाना उसके लिए कठिन है। जादेनी

तो पतिनिष्ठ को साथ लेकर। "उन" को ही अपने हृदय के बीच में धोर से लीप कर तब वह कर्मक्षेत्र में घाने बड़ सकेगी। मुनीता के लिए यह "उन" ही सब कुछ है। अपने उन के बिना तो उसका एक कदम भी हथर-उथर कैसे जा सकता है। पत्र-द्वारा श्रीकांत का पालेय वाकर ही वह हृदिप्रसन्न के साथ बाहर जा सकी। अपनी बच्चा के साथ लेकर वह समय बन गई। फिर कहीं रह गया उसके लिए भय का स्वस। यह नरक का हृदिभौण है। मुनीता के मन में जो तक बिठक हूँसे हैं वे उसकी प्रीय ग्यामिक स्थिति ही नहीं उसके मन के इन्द्र को भी स्पृष्ट कर देते हैं "घोर वह पत्नी है फिर भी नारी है। कौन अपने घाय में पूर्ण है ? कौन विमुक्तता म नकार में पुरा होना चाहता है ? और उसकी उमर अभी है भी कितनी ? उसमें क्या अपत् के प्रति उन्मुक्तता सर्वथा शांत हो गई है ? वह कब बेचिन्म के प्रति विद्यासु और सामर्थ्य के प्रति उन्मुक्त नहीं रही है ? वह क्या हाड़ मांस की नहीं है ? वह पत्नी है पर नारी है। वह पति में ही नहीं स्वयं भी है। तभी तो यह प्रायःपूर्वक श्रीकांत के स्मरण और प्रतिस्मरण की उसमें प्रथम्य वेष्टा है। वह बिबका निमंत्रण हृदिप्रसन्न के हाथ उभे गिस रहा है क्या रहस्यमय नहीं है। इतने से ही नारी-हृदय उध घोर बिबे बिना कैसे रहे ? स्वयं यह हृदिप्रसन्न ही क्या रहस्यमय नहीं है। तब उस भेद को क्यों न नारी हृदय कुछ कर पा सेंगा चाहे। इन सब निमंत्रणों के उत्तर में स्वीकृति देती हुई वह उनकी घोर भल ही पड़ेगी। जब नैया की कील उधने समाप्त ही सी है तब वह कहीं भी जाय भन्केगी नहीं। निरंतर प्रायःकक पड़ी का कौन जब उसके धर्म्यतर में है स्रष्ट स्नेहपुरिष्ठ एकोमुब बीपसिद्धा जब उधने अपने हृदय के भीतर बसा ली है तब क्यों उसे धंका हो ? किसकी भावका हो ? तब क्यों वह घाय निपक सिण फिरे ? इससे वह क्यों न पायगी ? धबस्य बायेपी।' इन प्रकार नारी के सतीत्व को "परक" में सूदम कंठे पर तोमा गया है और क्यूनी हाथ उधकी ब्याख्या की गई है। नारी के लिए पर की सार्थकता है परन्तु बाहर भी उसके लिए सार्थक क्यों नहीं ? दोनों में द्वय क्यों हो ? क्या पति के बल पर नारी इस इन्द्र को समाप्त नहीं कर सकती ? पर घोर बाहर के इन प्रदत्त को जैनेन्द्र ने निजात का प्रसन्न बना लिया है और इस पर से मुनीता की कथा की धनेक प्रकार ब्याख्या की है। उन्होंने रबीन्द्रनाथ ठाकुर की रचना "बरे-बाहरे" को प्रेरणा-स्रोत माना है और बताया है कि कहीं रबीन्द्रनाथ में बाहर पर की लूक्य ही कहीं नष्ट कर सिपा है और इस प्रकार अनिष्टकर निज भी होता है कहीं "मुनीता" में पर बाहर के प्रठाइन स मुदभित ही नहीं रहा है धबिक दड़ भी हो सका है। मुनीता की पतिनिष्ठ ने उसकी ही रसा नहीं की है हृदिप्रसन्न की भी रखा हो गई है। उसके भीतर की गाँठ को निकालने का माध्यम वह बनी है। उधे यही योग्य है। हृदिप्रसन्न के पीछे छोड़े बिब को दंगित कर श्रीकांत कहता है कि "यह बिब मुनीता हृदिप्रसन्न के बिब की गाँठ है। यह वह है जिसे हम घाट कहेंगे।"

और बहुमुख्य बनस्ये। इसीलिए तो हममें बैचा है प्रतिपक्ष उनके प्रत्येक धनु में स्व
 दित नेता रहने वाला वह प्रान — वह विज्ञाना वह धा। ता जो हरिप्रसन्न के जीवन
 का जीवन थी जिसने उसे सदा यों भटकाए रखा। मान क्या मैं नहीं जानता कि यह
 नाँठ उसके मीटर से बीच निकालने में उपलब्ध तुम बनीं। हाँ तुम ! मैं इसके लिए
 तुम्हारा धिखलतक है मुनीता !” यह नाँठ क्या है और उतका क्या महत्व है इसकी भी
 व्याख्या हुई है कि “हिरन के पेट में जो नाँठ होती है उसे कस्तूरी कहते हैं। उसको
 निवे-निये वह भ्रमता रहता है, बेचैन रहता है। उसके लिए वह साप है। कस्तूरी
 हमारे लिए है उसक लिए वह नाँठ है। दुनिया उसी को कस्तूरी कहती है उसी पर
 रोमन्ती है उसी के लिए माछी है। कदाचित् भयक यह कहना चाहता है कि
 विश्वकार और क्रांतिकारी युवक हरिप्रसन्न के मीटर की काम-यंत्रि उसे मार रही थी।
 मुनीता ने इस नाँठ को खोलकर उसके साथ बड़ा उपकार किया। उन्हें उपयोगी
 बनाया। उसकी निष्क्रेय यात्रा को परिष्कारित थी। इस प्रकार मुनीता का पति-भ्रम
 साक्षित न होकर ध्येयस्कर बना। सेवक यह नहीं मानता कि जिस डंग से उसने यह
 नाँठ खोली वह धर्माधिक है या ध्येयस्कर है। वह लक्ष्य को सीधा देपता है उसके
 लिए वही मात्र सार्थक है।

परन्तु क्या वही वह बीज है जिस पर मुनीता का महत्त बड़ा है ? सच तो
 यह है कि सेवक ने ‘बदे-बाहूरे’ की समस्या को दार्शनिक भूमिका पर से देखा है
 सामाजिक धर्मना राजनीतिक भूमिका पर से नहीं। रबीन्द्रनाम के लिए यह रचना
 सौहेस्य थी। हममें यह ११ १ के क्रांतिकारी धारोमन को चित्रित कर रहे हैं और
 नारी को धर्ममयी नारी-वर्ति के रूप में उभार रहे थे। नारी के लिए भी बाहर का
 पाङ्कान भा उकता है और उसे स्वीकार कर मस ही वह धर को धर्मिणापित कर से
 परन्तु वह कर्ष नहीं है यह उसे स्वीकार करना ही पड़ेगा। धर विभुत हो बाठा है
 क्योंकि कबा कु-पात है, परन्तु उसमें नारी के तेजोमय धर्मि-रूप को कविता की सारी
 धामध्य से उभारा गया है। जेनेत्र ने ‘बदे-बाहूरे’ के से प्रसंग लिए हैं ‘कदाचित् कुप्र
 माध भी कुप्र धर्म भी जो नारी को प्रेरणाधयी बोधित करते हैं। हरिप्रसन्न की
 मुनीता को उसी प्रकार क्रांतिकारियों के बीच में जाने को उभार करता है जिस प्रकार
 ‘बदे-बाहूरे’ में विनय नभुरानी को उभार करता है। परन्तु इस प्रसंग को छोड़कर
 मुनीता की सेप क्या दूसरी ही है। उसने राजनीतिक चेतना ‘वा क्रांतिकारिता धारो-
 पित है वह केन्द्र में नहीं है। वह बाध धर्मस्मात् तो नहीं घाटी क्योंकि इन और
 लयनों की धारस्मकता का उल्लेख पीछे भी है परन्तु हरिप्रसन्न के प्रति धीकांत में जो
 धर्मता है वही उपन्यास के पूर्वार्ध में प्रतिमान हो सकी है। मुनीता बड़ी इस ध्येय
 को रूप देने में ही काम धारि है। यह स्पष्ट है कि सेवक ने मुनीता को धारमन से ही
 नाँठ और प्रेमी के बीच में रखकर यह देखा चाहता है कि प्रतिनिष्ठा नारी पति की

घोर से घातबस्त हो घीर उमी के घाघरू पर गरीब (या गरी के पीछे छिये मातृमात्र) के मार्ग पर कहीं तक बढ़ सकती है। इस प्रकार यहाँ बेरा उस प्रकार एक सुबोध घीर निर्दिष्ट इकाई नहीं बनता जैसा "बरे-बाहरे" में। यहाँ भीकांत सुनीता घीर हरि प्रसन्न का एक विभुज नहीं बनता है परन्तु यह विभुज एक विवाहिता स्त्री को लेकर है घीर उममें पनि भीकांत की अभिसंधि है। प्रसन्न यह होता है कि भीकांत की यह छु" व्यावहारिक है मनोवैज्ञानिक है। नैतिक नहीं भी सही क्योंकि नीति का प्रसन्न मूल्य है या केवल नैतिक ही है। हरिप्रसन्न की सुनीता के प्रति मामूक्त स्पष्ट है परन्तु सुनीता की घातबस्त भी उममें है या वह कबम उस पर बना कर उसके भीतर की काम प्रवि शोचने को बढ़ साधन मात्र नहीं है। वह उमके जीवन की व्यर्थता से दवाई होकर उमी उबारना चाहती है या सचमुच हरिप्रसन्न के प्रति अनुरक्त है। यह अनुरक्त तन की मांग है या मन की ?

भारत में सेकक ने इन प्रश्नों को प्रबुद्ध बना दिया है। प्रबुद्ध इसलिए कि वह सुनीता को भीकांत का प्रयोग-मात्र बना देता है उसका स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता। वह बरखर बिच में उपस्थित है। जहाँ वह नहीं है वहाँ उसके पत्र हैं। सुनीता की उसके प्रति एकनिष्ठ है। इस प्रकार "सुनीता" सेकक का प्रयोग मात्र यह जाती है। उममें जीवन रम है कलाकारिता है मनोविज्ञान है परन्तु सब कुछ मिश्रण की पुष्टि के लिए। अपने में वह कुछ नहीं है। यही "सुनीता" की विडम्बना है। कदाचिन् किसी भी प्राधुनिक कलाकृति में इतनी कसा इतनी ममज्ञता इतने जीवन रम को यों ही व्यर्थ बना कर निरर्थक नहीं किया गया होगा। पुस्तक के अंत में सुनीता मनीष की दुर्लभ अंशद्वयों पर पहुँच जाती है परन्तु हरिप्रसन्न क प्रया-र्कक जीवन को बचा कर घीर काम में लगा कर भी वह देखी नहीं बन पाती न मानवी यह जाती है। सिफस की भाँति वह अदृष्टि बन जाती है। कामना से रहित भीतर की बेरता से प्रसन्न प्रसन्न व से परे क्योंकि अंतर्द्वय से उसकी प्रतिनिष्ठता लक्षित हो जाती। काष्ठ-मुक्तिका की भाँति। प्रयोग में ही उसका जीवन है। वह पहले सत्य को लेकर हरिप्रसन्न को मार्ग पर लपाना चाहती है फिर पति के हाँगित पर स्वयं प्राये बढ़ कर हरिप्रसन्न के भीतर की पाँठ को बहुत दूर तक खोचने का प्रयत्न करती है। उपन्यास के अंत में हमें लगता है कि हरिप्रसन्न अपने को पहचान गया है। अब वह काम-काजी बनेगा व्यर्थ जीवन नहीं खोयेगा। वह जीवन की रखा करेगा उसे लेकर खेत नहीं करेगा। परन्तु क्या उमकी क्रांतिकारिता अंतन्य पायेगी या कुटिल बनेगी ? क्या हरिप्रसन्न थोड़ा कसाकर या क्षान्तिकारी बनेगा। भीकांत घातबस्त हो पर पाठक घातबस्त नहीं है। प्रसन्न बना ही रहता है कि भीकांत को हरिप्रसन्न को सार्कक बनाने के लिए इतनी दूर जाना चाहिए या या नहीं। घीर यह

भी कि सुनीता की पाठिपत्र की परत इतनी कड़ी क्यों है ? यात्रिज उसमें सार्थकता क्या है ?

एक बार धीर । जब कहानी हरिप्रसन्न के उदार की है तो वह 'बरे-बाहरे' या "अतिशय प्यारी" के प्रश्न को माण बिना क्या नहीं कही जा सकती थी ? कहानी भीतर ही है । हरिप्रसन्न को भीतर बंधन तोड़ना है । श्रीकांत सुनीता को परीक्षा में डालता है । वही हरिप्रसन्न के बंधन कोसेवी । स्वयं सुनीता सत्या को भी बरीट लाती है । परन्तु हरिप्रसन्न कठिन और सत्या प्रसन्न है । क्यों सत्या समर्थ नहीं है ? क्या नारी केवल माणिक्य को लेकर ही पुण्य को चुनौती देने में समर्थ नहीं है ? उसे एगुअंडी का उपक्रम क्यों करना पड़े ? कलाविद् हरिप्रसन्न की आत्मप्रबंधना बिल्लाने के लिए ही इस प्रसंग की सृष्टि की गई है, परन्तु वह प्रासादिक ही है और इसने सुनीता की मानता क कर में ऐसी स्थिति पैदा कर दी है जो उसे दुर्बाह बना देती है । नारी की अग्रगण्य धीर स्वाभाविक मजरा की बीहृगु खना को तोड़ कर सुनीता ऐसी साहसी कैसे बन पड़ी ? क्या उन की प्रसन्नता का यह बंग आधुनिक होठे हुए भी बीरसूत्री नहीं है ? क्या आत्मप्रबंधक हरिप्रसन्न के भीतर की नाँठ किसी अन्य उपचार से नहीं कुछ सकती थी ? क्यों धर्म के लिए नारी मान की मजरा से बेस करना संभव हो सका ?

२

"सुनीता" की कथा इस प्रकार है । श्रीकांत बलीस है । अनिर्धार्य की ए किवा एन-एन० की किवा धारी की धीर प्रीकिस कुछ थी । सुनीता से विवाह हुआ धीर विरस्ती और प्रीकिस विरस्ती-गड़ती बनने भी लगी । परन्तु हरिप्रसन्न की याव उसे सारी है जो कालिब में शान या धीर जिसके लूब जतुर, लूब कर्मण्य लूब प्रप्रमाण धीर एरुबम प्रजेय-से व्यक्तित्व के प्रति उसे बड़ा प्रकर्षण था । पढ़ाई करके हरिप्रसन्न न जाने किस कार्य में लग गया परन्तु श्रीकांत जानता है वह विवाह के बंधन में नहीं फँसा है । पर बसाने की माया से मुक्त है । संभव है वह किसी सार्थक अनिक कार्य में लगा हो क्योंकि उसके स्वभाव में ही सार्थकता थी जो उसके व्यक्तित्व को बटाठी नहीं पुष्ट करती थी ।

विरस्ती बली है । विवाह को तीन वर्ष हो चले हैं । परन्तु बीच में कोई बामक नहीं आया है धीर ब्यपति घब उन्न गये हैं । क्यों उन्न गये हैं, पाठक के लिये यह रहस्य है । सुनीता साधारण पत्नी नहीं । वह अनिद सुगरी है । सुधिसिता है पर का साध भार उठाए हुए है । परन्तु पर-विरस्ती के बीच धीर बकामत के भी बीच सुधिसित होकर भी श्रीकांत जैसे पञ्चकार्य है और सुनीता व्यवस्थाओं से जपी रह कर भी उन्नी हुई है ।

इस ऋज से छुटकारा पाने के लिये श्रीकांत हरिप्रसन्न की बात सोचता है। वह हरिप्रसन्न को उबारना चाहता है जिससे वह धनिदिष्ट जीवन में छुटकारा पाने और उसकी तरह घर बसा कर सभ्य नागरिक बन जाए। जब पड़ने में तो वे दो एक थे। सब बीच में पत्नी है। यह व्यवहार श्रीकांत को पसन्द नहीं है। तीन साल से ऊपर हो गए हैं हरि का पत्र आये। श्रीकांत उस पत्र को बूढ़ निकालता है और उस तीन साल के पुराने पत्र पर वह उसे निम्नता है। पत्नी की बात बतलाता है और विवाह एवं व्यवसाय जीवन की बात बतलाता है। जानता है बेन आना हरिप्रसन्न ने ऐसा कहा मिया है। परन्तु श्रीकांत का मन नहीं मानता कि वह भी कोई सार्वकर्म मार्ग है। वह उसे लौगता चाहता है, कदाचित् सुनीता के माध्यम से। सिखाता है 'ऐसा मामूला होगा। अगर आत्म से व्यक्ति अपने साथ और-अबररस्ती नहीं करे तो समय आता है और वह अपने को दे पाता है। कह सकते हो विवाह समाज की धृष्टि है मनुष्य के भीतर प्रकृति-रूप से वह नहीं है। लेकिन एक से दो होने की प्रेरणा प्रायः एक जान पड़ता है मनुष्य के भीतर उक्त व्याप्त है। न कहीं विवाह कहीं प्रेम-लेकिन प्रायमी अपने में अपने को पूरा नहीं पाता। दूसरे की प्रेरणा उसे है ही।' साथ ही सुनीता की शेटो भी रख देता है 'टीक विवाह से पहले बाली बहो जो पंचब की है, जिसे कह कर वह मुस्कुराया है और सुनीता मुग हुर है।—बोड़ देता है— 'अपनी बाली की तस्वीर देखो और कहा तुम्हें स्त्री के छुट्टी चाहिए। उनकी बाँसों मुझे बहुत हंग करती हैं। तुम जानते हो परबण होना मुझे कभी नहीं था। पर बहो बर न बने बहो क्या हो ? निरबण परबणता में मुक्त नहीं है। किन्तु निराठ एकाकी स्वामीन होकर कैसे मुक्त मिल सकता है यह भी मैं नहीं जानता। मुझे ऐसा माहूम होता है कि प्रायमी को समर्पित होना होगा। ताड़ के पेड़ की तरह ऊँचा तन कर मकेल सके रह सकते हैं प्रायमी की सिद्धि है यह मैं नहीं मानूँगा।' साथ ही प्रायमी मनोस्मिति भी बता देता है कि वह बकासत करता है, और वह बंधापी सुनीता। भी कुछ-कुछ साथ देती रहती है। लेकिन उन दोनों का कुछ प्रावृत्तिक सम्बन्ध नहीं और वह उसे रिक्त नहीं सकता। वह चाहता है कि जिनकी में कुछ नये बंग का प्रवेष्ट होता रहना चाहिए और हरिप्रसन्न कुछ नई बाबु अपने साथ उस पर में लायेगा।

पत्र मीन आता है परन्तु हरिप्रसन्न की खोज जारी रहती है। पर के निरा-नन्द में ऋज कर दोनों प्रकृति वीर्यवशा की सोचने हैं और घंटे में कुछ न क मकधुर पर अपने को प्रयाग में पाते हैं। बहो संगम जाने के लिए नाव पर मकार श्रीकांत को चित्तारे की भीड़ में हरिप्रसन्न विचार देता है। हरिप्रसन्न भी बतलाता है पहाण आता है। दोनों और न मोर बनती है परन्तु इनाहाबाद में हरिप्रसन्न के बरे का पता लगाने पर यह मामूला होगा है कि वह रिक्त बनना गया। किसी घाने पर भी कई महीने बीत जाते हैं पर हरिप्रसन्न की कोई मोर-मकर नहीं मिलती। एक

एहें हो मुम सीखे नहीं मानोने ।" ह्यपि किम्प के बार ह्यिप्रसन्न को घर ले जाना चाहते हैं, वह नहीं तो सकता है परन्तु ह्यिप्रसन्न मानने की तैयारी में है और किसी छोड़ने की बात कर चुका है ।

घर सखा की केवल घाड़ है । सुनीता ह्यिप्रसन्न की चुनौती स्वीकार कर लेती है । स्त्री का यह चुनौती भर का घाँ की कहरना है—कि स्त्री घाबेटक है, पुरप घाबेट (सुनीता सोचती है 'सेक्सि नहीं ह्यिप्रसन्न निष्पन्न निष्कल नहीं होने बिना जानना । वह नहीं है इसके लिए । मैं जब घनापाठ उसकी धामी बनी हूँ तो देखती हूँ कि वह प्रयोजन-युक्त बातों रिक्तों से भी युक्त बरबाटी और कारबाही होकर चला रहा है ।" वह सोचती है स्त्री फिर किसलिए है, यदि पुरप को प्रयोजन बान कलदान से निमोचित नहीं करती । क्या स्त्री इसलिए है कि पुरप को अपने से निरलेख रहने से और महाप्रकृति को बंध्या ? क्योंकि दुनिया को देखना नहीं होना है क्योंकि उठको लड़ना कर हरिबामी हो उठना है, इसीलिए न । पुरुषों के इस पवत् से बिबाता ने हम रिक्तों को नहीं रखा है ? नहीं नहीं ह्यिप्रसन्न को बुझा-ही बुझा कुटा-ही-कुटा एक-ही-एक कैसे रहने बिना जानना । अपनी स्त्रीत्व से साधार बनी वह देखती है कि परप पुरप का धर्मीयित वह नहीं । निष्कलता ही बगत् का निष्कर्ष नहीं है तकार बार नहीं है । मृत्यु यदि सख है तो समी, जब बग्न उतके घाने है । बग्न-बुवक ही मृत्यु की नकली है ।" सुनीता ह्यिप्रसन्न का कहरा के द्वारा बिबाता चाहती है परन्तु सखा की बात कदाचित् मन की धनता है, धारमप्रबंधना है । वह जानती है कि वह ह्यिप्रसन्न को अपने ही स्त्रीत्व से बाँध सकती है । यह नहीं जाहृति ही उसे सखीत की उभ तरंग से भर देती है जिसे न सीकांत उबभ पाता है, न सखा । एकाएक बीजल में प्रकाश और धान्द की बाढ़ घा गई है । गाये का प्राकृतिक पुष्प-प्रिया रूप बाप उग्र है । वह विरतन चुनौती बन गई है ।

घर की बार ह्यिप्रसन्न सीखा सामान के साथ घर घा टपकता है परन्तु सिपटे पुसिन्के को खालने पर भीकांत को रिवास्वर मिलता है । यह ह्यिप्रसन्न का ब्राधिकारी रूप है । भीकांत रिवास्वर और कालूसी को धनमारी के ऊपर के कायनों के डेर में खिता केना है । घर हिंसा-बहिता का भी प्रसन्न उठता है । भीकांत कहता है कि घाबु के परिपाल के लिए नरहत्या कैसे की जाननी जब मनुष्य किसी को बुष्ट ही नहीं उह्रा सकता । वह कहता है "मुझे तो बीजता है कि मानव-सम्बन्धों के बीच में यदि किसी और ने भी रिवास्वर प्रविष्ट होने बिना जाता है तो उन वनस्पुंकी होने से नहीं रोका जा सकेगा । तब रिवास्वर घाबु का नाथ और बुष्ट का उधार नहीं करदे मवंका इनका तुम्हें भास्वाहन है ।" परन्तु ह्यिप्रसन्न धारवस्त है । उसका कहना है, "रिवास्वर को हाथों में लेकर रंगी में स्फूर्ति बायी है भीकांत । भीति कुप

कहे और नीति तो सदा ही विषादास्पद है परन्तु प्राणों की स्मृति को कैसे एकदम बस्वीकार किया जा सकता है ?

प्रथम भीकांत का प्रयत्न और भी कड़ा हो जाता है। वह हिंसा के मार्ग से हरि प्रसन्न का लीगामे के लिए मुनीता को भी बांधी बनाने को तैयार है। सप्या भी उसमें प्रहासक हो सकती है। हरिप्रसन्न के मन में जो सबघाही घबघाह है उस बह दूर करना चाहता है। उसके भीतर हरिप्रसन्न के लिए पीड़ा उठती है 'इमको क्या कहीं भी रख प्राप्त नहीं है ? ऐसा कर्मव्य व्यक्ति, क्या उम कर्मव्यता में रख-बाध नहीं है ? क्या सब काम इसका अपने को बन्ध से बचाने के लिए है ? ऐश कर्मशील व्यक्ति में यह सर्वघाही घबघाह कैसा है ?' मन बहुसामे के लिए हरि एक कलात्मक चित्र बनाना चाहता है और भीकांत उसके लिए आवश्यक सामग्री जुटा देता है। चित्र कई दिन तक चलता है। वह रहस्य है। उसका केन्द्र में धूलजामयी मारी है। इसीलिए चित्र का तीर्थक रखा गया है 'भा तू।' परन्तु बनन के बीच बहुत कुछ घपट बट जाता है। हरिप्रसन्न एक बल के मेता के रूप में सामने आता है और वह भीकांत और मुनीता से बल के लिए ही लगे लेने में सफल हो जाता है। वह कहता है कि ये ही रूपे चित्र बेचकर उन्हें प्राप्त हो सकेंगे। इन बीच के पृष्ठों में हरिप्रसन्न के प्रति भीकांत के मन में स्नेह उमड़ पड़ता है और निरोध की सीमा तक पहुँच जाता है।

भीकांत साहौर आ रहा है। परन्तु हरिप्रसन्न भी क्या कायगा वह ज्ञान को कहता है परन्तु भीकांत चाहता है कि मुनीता उम किसी प्रकार रोने लगे। भीकांत जब चला जाता है तो मुनीता प्रम्यामन की मुबिबा खुटाने में लग जाती है। परन्तु पहले ही दिन मुनीता सदा स्नाता है घाब कपड़े पहरे है —कि हरिप्रसन्न आ जाता है। तस्वीर समाल्य हो गई है यही सूचना देना है, परन्तु किस बचकन। कपड़े पहरे कर मुनीता बैठक में जाती है और वहाँ परे-बाहरे के सम्दीप की तरह हरि प्रसन्न उसके सामने प्रस्ताव रखता है कि वह घाये बड़कर उसने बल के मुबकों का नेत्रण करे। वह मारी की चिरंतन माया-मूर्ति से प्रेरणा लेना चाहता है। पति वह यह है कि मुनीता को जब कुछ वेकर भी उसे रोचना है। मुनीता तैयार है। साहौर से भीकांत का जो पत्र घाया है उसमें भी यही निबिष्ट है 'तुमसे कहता है कि उसकी किसी बात पर बिगड़ना मत। मुनीता तुम मुझे जानती हो। जानती हो कि मैं तुम्हें प्यत नहीं समझ सकता। तब तुमसे मैं चाहता है कि इन कुछ दिनों के लिए मेरे कपाल को अपने में तुम बिलकुल दूर कर देना। सब पूछो तो इमी के लिए मैं य प्रति रिक्त दिन यहाँ बिठा रहा हूँ। हरिप्रसन्न में किन्तनी धमता है लेकिन उम क्षमता से साम दुनिया को क्या मिल रहा है ? मैं यही चाहता है कि यह धमता उमकी व्ययं नहा जाय। हमारा प्रयत्न हा कि वह नमात्र के लिए उपयोगी बने। यह ममम्ना कि मैं नहीं हूँ तुम हो और तुम्हारे लिए काम्य कर्म काई नहीं है। हम नीति निविद्य कर्म भी कोई

नहीं रोया। कर्म में से अपने को बौद्ध हृद्य बनाकर करवाना ही तो इष्ट है। इसके लिए निःशब्द बड़ी साधना की आवश्यकता है। फिर भी यह सुम कर सकती हो। परन्तु हृदयस्थान को सामाजिक बनाने से भी बड़ी बात है। उसकी कलाकारिता के सुख प्राप्त करने की बात बर्बोद कलाकार मन्कता न रहे, उद्घोष न रहे, किसी प्रयोजन में नियंत्रित कर दिया जाय तो वह बड़ी सक्ति बन जाता है। नहीं तो वह अपने की ही जाता है। हृदयस्थान की प्रतिमा के बीच की वह सुनीता की सहाय्यपुष्टि के बस से विहित करना चाहता है। हृदयस्थान जीवन में कुछ प्रयोजन संपन्न करने प्राय बड़े प्रादुर्भाव से और वह प्रादुर्भाव समाज को उठाता हुआ और फलता हुआ बीजे।

उस दिन सत्या सुनीता को बार से जाने का प्रायश्च करती है परन्तु सुनीता टाम देती है और रात के निम्न पहरों में तिनेमा से होती हुई, हृदयस्थान के साथ बीच में बैठकर जंगल में जाती है जहाँ मुक्तों का एक कुटने जाता है और गरी-घातक के रूप में सम्मर्चना होती है। परन्तु टीक जंगल में पहुँच कर हृदयस्थान को कठोर का संकेत मिलता है और वह हलबेलन हो जाता है। पुनिस को पता लग गया है और साथी निरपत्ता हो रहे हैं या प्राण दे रहे हैं। उसे बचाने के लिए संकेत कर दिया गया है। परन्तु वह अपने को बचाएना नहीं। वह स्पष्ट सुनीता से कह देता है कि मृत्यु सामने है उसे उतने दिनों भी नहीं बीता है जिसे उँगलियों के पोर हैं। वह जला।

सुनीता की शक्ति के बीच में सुने पत्थर पर अपनी बाँधों पर मुना कर वह नीव को सुनाना चाहता है। सुनीता भी कम्पारं हो उठती है। वह इस मुक्त को बचाएगी — स्नेह देकर, सब कुछ देकर उसे हिंसा के मार्ग से विरत करेगी। वह यह जान गई है कि बीकाठ ताहोर से लौट आया है। हृदयस्थान को भी मामूम है। गाड़ी के नीचे बबले-बबले वह बचा है। परन्तु सुनीता पति के प्रायश्च का ही तो पालन कर रही है। उसके भीतर मित्रत्व भी जागता है। वह पत्नी है पर गरी भी है। वह पति मय ही नहीं है स्वयं भी तो है। वह हृदयस्थान के रहस्यमय घंटा। ल एक पहुँचकर उसके स्नेह-सूत्रों को सम्पुल कर देना चाहती है।

हृदयस्थान को अपने से बहुर लज्जा पड़ता है। एक बार तो वह लड़कर छलन हो जाता है। सुनीता को छोड़कर वह बचा जाता है। परन्तु सुनीता भी जाती है और छिपकी खिली में हृदयस्थान का कामासक्त मन उसे फिर उस छोटी हुई समतायती गरी की ओर मोड़ता है। लैलक ने हृदयस्थान की इस प्रासक्ति और पद्यय की कथा को पुन लेंकर लिखा है। वहाँ यह विहित करके ही यह जाता तो कलाबिद् कथा सार्थक हो जाती। परन्तु सरल कलाकार की लेखनी संयम का लीन तोड़कर वह बनी है। हृदयस्थान के लिए सुनीता सब न सुनीता-भीकाठ है न मापी। वह केवल गरी है। प्रकृति है। वह प्राय पुत्रप है। उसकी गरी में विरतन पुत्रप का प्रकृति के प्रति आसक्ति बाध प्रकृति है। उठा है। हम उस सबस्त क्लानिकर कथा को उपस्थित

महौं करेगे जो बिप की तरह भाकर्यक है। भाग कर सुनीता हठचेतन नहीं होती। उसका नारी-देव बाधत हो जाता है। वह पतिनिष्ठ की पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। जानती है यह उन की भावित है। तो वह हृत्प्रियमन्न को उन ही देती वह से-से यह साहस उसमें होना चाहिए। पुछने पर जब हृत्प्रियमन्न कहता है कि वह उसे चाहता है तो 'तुम मुझे चाहते हो। यह मैं हूँ।' कहती हुई अपनी चेतना पर पड़ी पर्त-की पर्त खलना-शक्तियों को खोलती बसती है। चाँही गई जम्बर उठत और घट को हठचेतन करती हुई वह बाड़ी भी फल गई और बके हुए इन आबरवों के नीचे सुनीता का मात्र नारीत्व रह बना जो आत्मसमर्पण नहीं जानता जो पतिनिष्ठा जानता है और कामनामय प्रेमी के लिए चुनौती है।

हृत्प्रियमन्न भावा भावा भागा। भीतर की पाँठ खुल गई। कामना के गहरे रंग उड़ गए और अपनी क्षुब्धता उसकी समझ में आई। वह पटास्त हो गया।

सुनीता जब आस्वस्त है। बस उसने पहन लिए हैं और हरि से बाधा से लिया है कि वह अपने को नष्ट नहीं करेगा मारेगा नहीं। पुछने पर,—कि जिससे वह क्यूँ वह घासी कर लेगा हृत्प्रियमन्न तैयार नहीं होता। सुनीता बासी "नहीं नहीं वह सफ़ोगे। हृत्प्रियमन्न ने सुनीता की धाँसों में ही देखते हुए कहा 'नहीं भाभी नहीं।

सुनीता का घर तक पहुँचा कर हृत्प्रियमन्न लौट जाता है। भीकांत अभी सौटा नहीं है। सत्या भीबाई के बहिर्गमन की बात जानती है। वह भीकांत को पकड़ रखती है लेकिन भीकांत पता बना सेवा है कि घर बर है। दूसरे दिन जब वह पहुँचता है तो सुनीता आस्वस्त है। उसके मुख पर लज बभू का मान है। भीकांत के प्रेम के आश्रेण से वह रक्षित हो जाती है। भीकांत भी इस भाव में स्वास्थ्य-ताम करता है। हृत्प्रियमन्न तस्वीर छोड़ गया है। इस तस्वीर में उसके मन की पाँठ स्पष्ट है। भीकांत सुनीता का हठब है कि वह नाँठ जब खुल गई है। इस पाँट को उसके भीतर से बीच निकालने में सुनीता उपमन्त्र बनी है।

सुनीता पति को बघसाती है कि उसने अपने को बचाया नहीं परन्तु वह आश्लेष भी प्रगट करती है कि पति ने उसे इस कड़ी परीक्षा में डाला। परन्तु भीकांत का प्रेम फिर पस्तबित हो उठा है। हृत्प्रियमन्न की ओर से वह आस्वस्त है। वह कहाँ गया है जब उसकी यह चिन्ता नहीं है। भीकांत की सुनीता के प्रति पुनर्जावित भावित और सुनीता की ब्याज-बीड़ा के साथ प्रेम समाप्त होता है।

संक्षेप में यह सुनीता की कहानी है। परन्तु प्रेम की समाप्ति पर भी प्रश्न रह जाता है कि हृत्प्रियमन्न क्या केबल भीकांत-सुनीता के निराश्रय जीवन में लहर उठान का मात्र माधन नहीं था और क्या भीकांत की इस निराश्रय स्थिति के पीछे हीन कामत्व तो नहीं है या यौन-संपन्न बनना नारी को सम्पूर्ण रूप से पाने की प्रयोज्यता? क्या एक तीसरे व्यक्ति को बीच में माकर कुठिन रीति को पुनर्जावित करन का यह

ध्यायोग्य नैतिकतापूर्ण है ? हम यह नहीं मानते कि उपन्यासकार का नैतिकता के प्रति कोई दायित्व है, परन्तु केवल काम-सम्बन्धी मनोविज्ञान पर प्रकाश डालने के लिए कोई कहानी क्यों गढ़ी जाये ? क्या कुछ ठीक और समित व्यक्तित्व की रस लेकर लिखी गई कथा ही उपन्यासकार की कला की परीच है ? "सुनीता" में श्रीकांत का मना विज्ञान किसी भी प्रकार स्वस्थ नहीं कहा जा सकता । हरिप्रसन्न के प्रति उसकी बिन्दा मित्रता की सीमा का प्रतिबन्धन कर जाती है । वह प्रथम रति की सीमा तक पहुँच जाती है । पत्नी से पत्नीत्व तक के बलिदान की धाधा करना प्रतिबन्धी वर्तमानों के लिए सजब बात हो परन्तु व्याहारिक बगल की वस्तु वह नहीं है — कल्पना-सोक में भी उसकी सार्थकता नहीं है । वह स्पष्ट ही मनोवैज्ञानिक बुद्धिमत्ता है । यह प्रथम है कि बुद्धिमत् चरित्रों में सामान्य की कल्पना गई बात नहीं है परन्तु फिर उसे प्रार्थना का आश्वासन क्यों दिया जाय ?

और सुनीता को क्या कहा जाय ? वह प्रारम्भ में हरिप्रसन्न से निर्यात है, बाद में वह पति श्रीकांत के हृदय पर ग्राह्यती है और उसे प्रसन्न करने के लिए हरिप्रसन्न की ओर बढ़ती है । इसमें उसकी पतिविष्ठा की पराकाष्ठा दिखाई गई है । परन्तु विवेका वाले हृदय में क्या वह केवल साधन-मात्र साधिका नहीं ? क्या स्वयं उसके मन में एक चेतन में पति के प्रति लोभ नहीं है ? क्या वह स्वतंत्र जीवन जीने की बात नहीं उठाती ? वास्तव में ऊपर का चरम परिशेष पति-परायणता मारी का है परन्तु भीतर भीतर वह प्रयत्न-शील भी है । इस हृदय को मेसक ने प्रार्थनावाद के मीचे बसा दिया है । सुनीता क्या नहीं जानती है कि वह अपने कई निपट स्वतंत्र रीति से कुलीनी बनकर हरिप्रसन्न को प्राकृत्य कर रही है । फिर इसमें केवल मात्र और केवल मात्रपति की प्रणना हुआ क्या आत्मप्रवचन नहीं है ? वास्तव में श्रीकांत और सुनीता दोनों प्रवचन-प्रस्त हैं । अपने वैवाहिक जीवन की अपूर्णता को वे हरिप्रसन्न की ओर में छिपाता चाहते हैं । आत्मप्रवचन की कई तरह लेकर उपन्यास रखा किना गया है, इसीलिए वह आस्पष्ट और प्रकृत्य है । अतिम हृदय तो मात्र पाठक की नैतिकता सम्बन्धी मात्र नाशों को धक्का देने के लिए है । यदि वह भीतर से घायल होता तो सज्जाधीन शार तीव्र भावी को परचालाव की ओर ही घासे बढ़ाता वह आश्वासन और आत्ममर्त्री नहीं बन पाती । स्पष्ट ही यह हृदय धारोपित है । हरिप्रसन्न के अक्षयचतन मन में किसी काम की ओर ध्यान के लिए क्या किसी अन्य अधिक उर्ध्व उपाय से काम नहीं लिया जा सकता था ?

३

इस कथा को आर्थिक भूमि पर देखें ।

चार चरित्र प्रमुख रूप से सामने आते हैं श्रीकांत हरिप्रसन्न सुनीता और सत्या । इनमें सत्या केवल सामन मात्र है । वह पृष्ठभूमि में ही अचिक रही है । वहन

सुनीता हरिप्रसन्न को बाँधने के लिए उसका उपयोग करना चाहती है। इसलिए उसका चरित्र थोड़ा ही सुना है। परन्तु उसकी रूप रेखाएँ स्पष्ट हैं। योग तीन चरित्र ही कथा बनाते हैं। कथा बहिर्जगत् के चरित्र की कथा नहीं है मानसिक ही अधिक है। यद्यपि उसे पात्रों के भीतर से देखने में ही उसकी उपादेयता है। इस तरह कथा भी अधिक पढ़ने में प्रायेण घोर पात्र भी पढ़ने नहीं रहेंगे।

पहले भीकांत को लेंगे। भीकांत में चार्पित्रिकता क्या है? भीकांत की चार्पित्रिकता प्रमुखतः हरिप्रसन्न और सुनीता को लेकर है। परन्तु इनके सिवा भी वह अपने में कुछ है, जो बहुत सुना नहीं। उसके चरित्र के इन तीनों बिन्दुओं को जोड़ना होगा।

हरिप्रसन्न के साथ भीकांत का कैसा सम्बन्ध है। भीकांत का वह कामिज का साथी रहा है। जब उसने उसे अपना सम्पूर्ण मन दिया है। धरती में वह हरिप्रसन्न से बड़ा है परन्तु संतुल्य है हरिप्रसन्न की तरह बहिर्मुख नहीं। वह अनुप्राणी और अनुप्राणीत है। स्नेह का मोटा हरिप्रसन्न प्रदान और प्रेषणीय। कथाचित् प्रकृति-वीच्य के कारण ही स्नेह का माहा जुड़ा है। फलस्वरूप हरिप्रसन्न मास्तरुति-प्रसन्न बनता गया है और भीकांत में उसके प्रति धार्मिक भाव उमड़ता गया है। प्रारंभ में ही लेखक ने दोनों मित्रों की चार्पित्रिक विशेषताओं को स्पष्ट रूप से उभारा है जैसे 'हरिप्रसन्न बहुत धार्मिक रहता था उद्यत प्रसन्न हलका और स्वीमिंग। यह कर, यह कर सब इसी में दिखता। किसी का धामार न मानता। भिसनसार था और बहुत तरह के काम जानता था। भीकांत अपने में रहता था। मानो कर्तव्य उसके सामने से प्रतिक्षण घोसल हो जाने की भेदा में है, इसके प्रतिक्षण उसे अपने सामने भरपूर देखते रहने की भेदा में रहना चाहिए। बर्न उसके लिए तर्क का विषय नहीं था। वह कम बोलता था किम्विमतता था अपने ऊपर दूसरे के स्वर्ण हुए पैसे का ख्याल रखता था। व्यायाम में नियमित था और लड़ना उसक लिए बर्तव्य न था। वह कृपण से कहीं अधिक धरता था। 'हरवारि। हरिप्रसन्न के चरित्र में लेखक ने धार्मिकी या 'बाँडर मस्' की मोक्या की है और सुनीता द्वारा उसके बाँधने का प्रयत्न प्रसन्न ही हुआ है ऐसा कहा जा सकता है क्योंकि वह उसके चरित्र का केन्द्रीय उपादान था। परन्तु प्रसन्न यह है कि भीकांत सुनीता के प्रति उन्मुख क्यों नहीं हो सका? क्यों केवल तीन वर्षों में उसका वैवाहिक जीवन आकर्षण और मोह जो बँटा? क्यों वह सुनीता को संतुल्य रूप से ग्रहण नहीं कर पाता? भीकांत यदि धर्मेता हुआ और चासी हुआ तो सामने हीबार एकदक देखते हुए एक साथ लेता है और उठकर टहलन मगता है? क्यों बार-बार हरि उसे याद आता है और अपना-उसका एकदक याद आता है? क्या इसमें कोई मन का खेल नहीं है? मनोविज्ञान में जिसे "उपेनिगम" कहते हैं (स्वकीय रति जिसमें पर्यौन के प्रति धृष्ट-भाव भी रहता है) वही क्या उसमें नहीं है?

साधोबत नैतिकतापूर्ण है ? हम यह नहीं मानते कि उपन्यासकार का नैतिकता से प्रति कोई साहित्य है परन्तु केवल काम-सम्बन्धी मनोविज्ञान पर प्रकाश डालने के लिए कोई कहानी क्यों पढ़ी जाये ? क्या कु उठ और दमित व्यक्तित्व की रख लेकर लिखी गई कथा ही उपन्यासकार की कला की परख है ? "सुनीता" में भीकांत का मना विज्ञान किसी भी प्रकार स्वस्थ नहीं कहा जा सकता । हृदिप्रसन्न के प्रति उसकी विमता मित्रता की सीमा का प्रतिफलण कर जाती है । वह अनेक रति की सीमा तक पहुँच जाती है । पत्नी से 'पत्नीत्व' तक के बहिर्दान की धारा करना प्रतिवारी तकवारी के लिए संभव बात हो परन्तु व्याहारिक जगत् की वस्तु वह नहीं है — कल्पना-भोक में भी उसकी चार्पकता नहीं है । वह स्पष्ट ही मनोवैज्ञानिक बुर्बधता है । यह धरस्य है कि बुर्बल चरित्रों में नामकरन की कल्पना गई बात नहीं है परन्तु फिर उसे आदर्शवाद का आचरण क्यों दिया जाय ?

और सुनीता को क्या कहा जाय ? वह प्रारम्भ में हृदिप्रसन्न से विरक्त है बाद में वह प्रति भीकांत के इवित पर नाचती है और उसे प्रसन्न करने के लिए हृदिप्रसन्न की ओर बढ़ती है । इसमें उसकी पतिनिष्ठता की पराकाष्ठा दिखाई गई है । परन्तु विनेमा वाले हृदय में क्या वह केवल साधन-मात्र साधिका नहीं ? क्या स्वयं उसके मन में धर-केतन से रति के प्रति जोम नहीं है ? क्या वह स्वतन्त्र जीवन जीने की बात नहीं उठती ? वास्तव में ऊपर का छत्र परिवेष पति-परायणता नापी का है परन्तु नीतर नीतर वह प्रणय-प्रायिनी भी है । इस हृदय को मेजरक से आदर्शवाद के नीचे क्या दिया है । सुनीता क्या नहीं जामती है कि वह अपने ठई निपट स्वतन्त्र रीति से जुनीती बनकर हृदिप्रसन्न को धाकट कर रही है । फिर इसमें केवल मात्र और केवल नामपति की प्रेरणा हुआ क्या आत्मप्रवचन नहीं है ? वास्तव में भीकांत और सुनीता दोनों प्रवचन-प्रस्त हैं । अपने वैवाहिक जीवन की अपूर्णता को वे हृदिप्रसन्न की घोट में खियाला चाहते हैं । आत्मप्रवचन की कई तरह लेकर उपन्यास लड़ा किया गया है इसीलिए वह धस्यट और धभुम्भ है । अठिम हस्य ठो मात्र पाठक की नैतिकता सम्बन्धी मात्र नामों को झकझोरने के लिए है । यदि वह भीतर से धारा होता तो धजराधीन प्रार-ठीव नापी को परजाताय की ओर ही धाने बढ़ाता वह आस्वस्त और धारमबर्नी नहीं बन पाती । स्पष्ट ही वह हृदय धारोपित है । हृदिप्रसन्न के धरकेतन मन में धिरी काम-धनि की झकझोरने के लिए क्या किसी धस्य-धनिक धस्य-धपाय से काम नहीं लिया जा सकता था ?

३

इन कथा को चार्थिक धूमि पर लेखें ।

चार चरित्र प्रमुख रूप से धामने धाने हैं धीकांत हृदिप्रसन्न सुनीता और उल्पा । इनमें उल्पा केवल साधन मात्र है । वह पुच्छधूमि में ही धनिक रही है । बहल

सुनीता हरिप्रसन्न को बाँधने के लिए उसका उपयोग करना चाहती है। इसलिए उसका चरित्र थोड़ा ही सुना है। परन्तु उसकी रूप-रेखाएँ स्पष्ट हैं। खेप तीन चरित्र ही कथा बनाते हैं। कथा बहिर्मुख के कर्तव्य की कथा नहीं है। मानसिक ही प्रतिक्रिया है। प्रत्येक उस पात्रों के भीतर से बहने में ही उसकी उपादेयता है। इस तरह कथा भी अधिक पढ़ने में प्रायेगी और पात्र भी प्रकट नहीं रहेंगे।

पहले धीकाँठ को लेंगे। धीकाँठ में चारित्रिकता क्या है? धीकाँठ की चारित्रिकता प्रमुखतः हरिप्रसन्न और सुनीता को लेकर है। परन्तु इनके सिवा भी वह प्रपत्ते में कुछ है जो बहुत सुना नहीं। उसके चरित्र के इन तीनों बिन्दुओं को थोड़ना होगा।

हरिप्रसन्न के साथ धीकाँठ का कौसा सम्बन्ध है। धीकाँठ का वह कामिज का साथी रहा है। तब उसने उसे प्रपत्ता सम्पूर्ण मन दिया है। प्रवृत्ता में वह हरिप्रसन्न से बड़ा है, परन्तु प्रथम वह है हरिप्रसन्न की तरह बहिर्मुख नहीं। वह प्रपत्तापूर्ण और प्रपत्ताहीन है। स्नेह का भोका हरिप्रसन्न प्रधान और अपेक्षाहीन। कथावित् प्रकृति-वैषम्य के कारण ही स्नेह का नासा हुआ है। फलस्वरूप हरिप्रसन्न प्रथम-प्रति-प्रसन्न बनता गया है और धीकाँठ में उसके प्रति भारी भाव समझता गया है। प्रारंभ में ही लेखक ने दोनों मित्रों की चारित्रिक विशेषताओं को स्पष्ट रूप से उजागर है जैसे "हरिप्रसन्न बहुत ठाका रहता था उलट प्रसन्न हुआ और स्त्रीमिम। यह कर, वह कर सब इसी में बिसठा। किसी का आमार न मानता। मित्रनसार था और बहुत तरह के काम जानता था। धीकाँठ अपने में रहता था। मानो कर्म्य उसके सामने से प्रतिधरुण घोकम हो जाने की चेष्टा में है, इससे प्रतिधरुण उसे अपने सामने भरपूर देखते रहने की चेष्टा में रहता चाहिए। बर्न उसके लिए ठरक का विषय नहीं था। वह कम बोसता था कम निमता था अपने ऊपर बूखे क कर्न हुए पैसे का समान रसता था। व्यायाम में निममित था और सड़ना उसके लिए असंभव न था। वह कुपम से कहीं प्रतिक्रिया था।" इत्यादि। हरिप्रसन्न के चरित्र में लेखक ने प्राचारीय या 'बाइर कस्ट' की योजना की है और सुनीता काय उसके बाँधने का प्रयत्न प्रथम ही हुआ है ऐसा कहा जा सकता है क्योंकि वह उसके चरित्र का केन्द्रीय उपादान था। परन्तु प्रश्न यह है कि धीकाँठ सुनीता के प्रति उन्मुख क्यों नहीं हो सका? क्यों केवल तीन क्यों में उसका वैवाहिक जीवन धारण और मोह हो बैठा? क्यों वह सुनीता को सम्पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं कर पाता? धीकाँठ यदि बनेना हुआ और सानी हुआ तो सामने बाइर एकटक देखते हुए एक साँस लेता है, और उठकर टहलन मपता है? क्यों बार-बार हरि उसे याद आता है और प्रपत्ता-उसका एकत्र याद आता है? क्या इसमें कोई मन का क्षम नहीं है? मनोविज्ञान में विद्वे "उरेनिगम" कहते हैं। (स्वतंत्र प्रति विषय पर्योन के प्रति प्रसा-भाव भी रहा है) वही क्या उठने नहीं है?

क्या हरिप्रसन्न के बीच में घाने के कारण ही वह मुनीठा को अपने मन के घारे बम से नहीं पकड़ सका है ? यह स्पष्ट है कि उसके मन का धम ही इस निर्धारण का उत्तर बाकी है ।

धीकाँठ हरिप्रसन्न को घर माना जाहता है । हरि का प्रयकारपूर्व भविष्य उसे काटता है । वह उसका प्राकारापन सह नहीं सकता । बाटों और से उपेक्षित और उपेक्ष्य बन कर वह रहा है और धीकाँठ धमी ठक जुना बहड़ा है । मुनीठा के सौम्य की ओर से वह उसे बाधेगा यह उसकी कल्पना है । उपन्यास का प्रारंभ धीकाँठ द्वारा हरि का निवे पत्र से होता है परन्तु उस पत्र में धीकाँठ की पकड़ भी है । हरिप्रसन्न के लिए उसकी प्राकृतता मित्रता की स्वामाभिक सीमा से आगे बढ़ जाती है । यह बय-संधि की भावाकलता है जिसमें पुरति की सूक्ष्म भाव वह रही है । पत्नी मुनीठा का बिज भेज कर वह हरिप्रसन्न को अपने लिए पाना चाहता है । यदि वह मन की धमना से प्रतापित नहीं है तो वह यह क्यों लिखता है कि उसमें और मुनीठा में आंतरिक भेज नहीं है और वह उसे रिखा नहीं सकता बीलता । वह उसे वह भी बतलाता है कि मुनीठा बहुत सुन्दरी है और हर साम एक-से-एक बढ़कर प्रासिध्मि प्राप्ति युवा लीय भेदान में घाने जाते हैं । इस प्रकार वह हरिप्रसन्न के भीतर की काम प्रथि को उकसाना चाहता है । उसके द्वारा वह अपने जीवन का नया रंग पर में नई बाहु माना जाहता है । इस प्रकार हरिप्रसन्न उसके लिए एक छाव छावन और छाष्य दोनों है । उनके बय संधि मन की रिक्तता को वह भरिया और पत्नी के प्रति उसकी प्रासक्ति स्वयं धीकाँठ को पत्नी की ओर उन्मुख करेगी । यह द्विमुखी योजना इस पत्र में स्पष्ट है जो उसके मन को नंगा कर देता है ।

बाद में जो होता है उससे इसकी पुष्टि होती है । घर-भाए सोए हुए हरिप्रसन्न को वह कुपके से र्मडी की बाहर धोड़ा देता है और उससे ऊपर चल कर पास सोने का पायड़ करता है । हरिप्रसन्न बिचान-लिखा रहता है और धीकाँठ के मन में उसके प्रति नितुष्णा बनी ही रहती है । वह उसके बिचकत् और आविकारी जीवन के प्रति मुनीठा को धाकपित करता है —उसे केवल व्यक्ति हरिप्रसन्न का ही उदार करना नहीं है, उसे कलाकार हरिप्रसन्न का भी उदार करना है और छाव ही उसे अति के जूनी और द्विधामय मार्ग से भी हटा कर उपयोगी जीवन में लगाना है । परन्तु ये दोनों बाटें बुद्धिवादी ऊहालेह (रिचनभाइवेधन) हैं, नीतर उसके मन में हरिप्रसन्न के प्रति जो धारिता है वह और भीज है । वह धातमप्रबंधक है । फलतः हरिप्रसन्न के व्यक्तित्व आकर्षण को न मानकर वह उसके बिचकौ और अतिकारी के व्यक्तित्व की प्राइ भेजा जाहता है । वह मुनीठा को पूरी छूट देता है । बाहौर से जो पत्र भेजता है उससे स्पष्ट है कि वह पत्नी के पत्नीत्व को भी बचाना नहीं चाहता । जाहता है कि हरिप्रसन्न उमरे । परन्तु इस उमरने के पीछे हरिप्रसन्न के व्यक्ति के

प्रति उसकी प्रशन्न भावना क्या नहीं है ? अंत तक हरिप्रसन्न के प्रति उसका भावना भाव बना रहना है और उसे फिर बुझाने का बहाना भी ढूँढना चाहता है । यह हरि प्रसन्न को लेकर भीकांत के विद्वेष्य मन का एक क्रोधा है । परन्तु दूसरा क्रोधा भी है जो मुनीता से स्नेह माँगता है और उसे अपने को देना चाहता है । हरिप्रसन्न है इसलिए यह क्रोधा मुनीता के प्रति पूरा हुआ नहीं है । हरिप्रसन्न जब जाता जाता है तो उसके प्रति का विद्वेष्य भाव मुनीता की ओर झुक जाता है । मनोविज्ञान की भाषा में इसे 'ट्रान्स्फेरेंस' कहेंगे । 'ट्रान्स्फेरेंस' का अर्थ है किनी वस्तु या व्यक्ति के प्रति रागद्वेष भाव या प्रवृत्ति को किनी ऐसी अन्य वस्तु या ऐसे अन्य व्यक्ति के प्रति संवा लित करना जो मोक्षता के भाव-क्षेप में उस वस्तु या व्यक्ति से संबंधित है । इन प्रकार हरिप्रसन्न की विफलता में ही भीकांत की प्रशन्न विषय है । अब उसके स्नेह का आधार एकमात्र मुनीता रह जाती है । ता मुनीता के प्रति उसके मन का धारण सौटता है । यह जान कर कि हरिप्रसन्न जाता गया है वह बच से बड़ कर दोनों हाथों से मुनीता को उठा लेता है और बड़ी धारणता में उसे बाँध लेता चाहता है । मुनीता शक्ति रह जाती है । कहती है, मैं तो सब तुम्हारी हूँ । फिर दि धि मेरे लिए प्रेम का यह बाधन कैसा ? और ऐसा भीतर क्यों छोटे हो ? मुझे तनिक संभलने भी तो दो ।" परन्तु मन की म्नाति भी धिरी है जो मुनीता की किमसता उसकी धामा को देख कर मिट जाती है । वह अपने से ही जैसे सजा कर, पल कर जा जाता है । एक ही क्षण में उसे घट्टुठ स्वास्थ्य-साम होता है ।

हरिप्रसन्न की विवकारिता और जातिकारिता क्या उसकी धारणति (नार सिद्धिगम) का ही धंग नहीं है ? धारणत व्यक्ति धारणतिक रूप से धरण में डूबा रहता है और अपने से बाहर जाने से डरता है । मनोविज्ञानिकों का कहना है कि ऐसी मनोस्थिति में धारण ही यौनाकर्षण का विषय है । हरिप्रसन्न की मनोस्थिति भी कुछ ऐसी ही है । परन्तु मुनीता उसके भीतर काम की पाँठ को उभार देती है और उसमें उसे धरना बिच स्पष्ट दिखाई देता है । मुनीता की मन्ता उसे धरती धारणमीकता का पता बन्देती है । वह धारणमीक है इसी से जातिकारिता है । वह जात्यबद्ध है इसी से कर्माकार है । वे दोनों उसके लिए पूर्ण रूप से ढर्यमुवी (मनविमेषन) नहीं हो सके हैं । भीतर की काम-धरि लुप्तने पर अब कदाचित् वह इन दोनों में धरना धारणदान निविधय रूप से दे सकेगा । इस प्रकार बाहर स उम्पुक हरिप्रसन्न भीतर की काम धरि से बँबा है और उसकी भीतर मुक्ति में ही उसका कल्याण है । उसी तरह भीकांत भीतर भीतर हरिप्रसन्न से बँबा है और इसीलिए वह पत्नी मुनीता का पूरा रूप स नहीं बन पाया । यह बँबन होने में ही कल्पित का कल्याण है । इस प्रकार मुनीता में जन्म पत्रों की कल्याण-योजना है और इसी से वह किती के लिए भी बुग्यात नहीं है । कदाचित् इसी कल्याण-प्राप्ति के विचार से पावों में परस्पर कृतमता प्रकाशन की योजना

है। हृदयमन्त्र और सुनीता परस्पर एक दूसरे के चरण छूने हैं और भीकांत भी सुनीता के लिए कुछ कम कृतक नहीं है।

सुनीता की चरित्रिकता क्या है? बहुत कुछ तो वह हरिप्रसन्न का बाहर माने का सम्बन्ध-भाव है। उसमें निश्चयता कम पायी है। परन्तु जब निश्चयता पायी है तो वह गारी के लिए पुरुष या पति से स्वतंत्र जीवन की माँग करती है। वह तन की आसक्ति को महत्व नहीं देती और पत्नीत्व की सूक्ष्म व्याख्या कच्छी है। बार के उपन्यासों में इस धारणा के सूत्र और बी गहरे और सूक्ष्म होने लगे हैं। परन्तु सूत्र पति-वीकांत के ह्रास में रहने के कारण सुनीता का बिरोह विवाहित गारी का घर से बाहर जाने का प्रावीण्य नहीं हो सका है। उसमें बिरोह की भाग नहीं वह भीट कर बार-बार पति की ओर देखती है और उबर से आश्चर्यजनक पाकर ही हृदयमन्त्र की ओर बढ़ सकी है। यदि उसके मन में हरि के प्रति विद्वेषणा है तो वह उसे भेटन क गहरे तन में उतार देती है और पति के पक्ष की भाड़ मैठी है। इस प्रकार उगने अनिर्दिष्ट, ईश्वरमय और रहस्यमय चरित्र का आयोजन होता है। वह चुसकर अपने कम से सामने नहीं धा सकती है। धा सकती तो कबा का रूप ही बूझा होता।

यह स्पष्ट है कि 'सुनीता' नाम देने पर भी उपन्यासकार ने भीकांत को ही केन्द्र में रखा है। समस्या बीकांत और सुनीता दोनों की है। दोनों का जीवन निरानन्द है। दोनों परस्पर एक-दूसरे को पाना चाहते हैं और अंत में हरिप्रसन्न के माध्यम से पाते हैं। परन्तु भीकांत ही समोच्चक है। उसकी समस्या भी बोहरी है और कबा के सूत्र भी उसके ह्रास में हैं। वह तटस्थ दृष्टा लगने पर भी तटस्थ नहीं है। उपन्यास के अंत में उसे ही सबसे अधिक ध्यान-भाग हुआ है। भीकांत के अंतर से देखने से 'सुनीता' के कबा के पर्व गहरे घुसते हैं और उसकी रहस्यमयता रहस्य नहीं रहती। धाता-धर्मों ने सुनीता को केन्द्र मान कर ही बोसा ज्ञाया है।

'सुनीता' की मनोवैज्ञानिकता का एक परत स्वयं निश्चय को लेकर भी है। "प्रस्तावना में वह निश्चय है "सृष्टि सृष्ट को खिपाये है। मुझे भी अपने इन पात्रों के पीछे खिपा मानें पर सृष्टि सृष्ट को ही व्यक्त करती है और यह पुस्तक मुझे व्यक्त करने को बनी है। फिर भी सृष्टि ही तो बीकांती है। सृष्टा कहाँ बीकांती है?" परन्तु निश्चय का धारण है कि बहुपुस्तक के किन्हीं एक पात्र में न होकर सब में बिखर गया है। उसके धर्म है "पुस्तक में उसे हुए मुझको पाठक जैसे जाहें, समझें। मैं किसी पात्र में अनुपस्थित नहीं हूँ और हर एक पात्र हर दूसरे से मिल है। उनकी सब भावें मेरी बात हैं। फिर भी कोई बात मेरी बात नहीं है क्योंकि मेरी कहाँ ने तो उनकी है।" यह तो स्पष्ट है कि पात्रों में हम बैनेन्द्र को जसी रूप में नहीं पा सकते बिना रूप में वह हैं। पात्रों के अनुकूल उनके रूप का बिछट होना धर्मसम्बन्ध नहीं है। परन्तु फिर भी यह स्पष्ट या सफ़ा है कि रचना में भेटक किस रूप में धरना किन्हीं अर्थों में है।

क्या वह श्रीकांत में है? या हरिप्रसन्न में? या सुनीता के 'पत्नीत्व-भाव' में जो 'भूरस्य बाध' की तरह मूकम बना दिया गया है। प्राक्सिरवह कहाँ है? 'परल' में उमने अपने का सम्बन्ध में दिखाया है अपने संभाव्य रूप को बिहारी में रखा है। सम्बन्ध की दुर्बलता एक तरह उपायकार की ही दुर्बलता है यद्यपि बिहारी के रूप में उमने का भाव भी चित्रित है। क्या 'सुनीता' में पति जैनेन्द्र है जो अतिशयोक्ति के प्रति विद्वेष्यता मात्र से ऊपर उठ कर निरानन्द साम्यत्व जीवन में एक महत्त्व माना जायें हैं। श्रीकांत की दुर्बलता सेतक की दुर्बलता किन घण्टों में है? पत्नी धर्म की यह गई व्याख्या क्या केवल सैद्धांतिक है या जीवन के ऊपर से होकर घाई है। पाशों के भीतर न लेनाटक तक पहुँचने का कोई स्पष्ट साधन हमारे पास नहीं है। इन्हीं से सेतक के 'प्रस्तावना' भाग प्रथम से ही हमें संताप करना पड़ता है। किन घण्टों में यह रचना संवत्सिक रही है? इनका समाधान कदाचित् नहीं हो सकेगा। परन्तु यह स्पष्ट है कि सेतक अपने को बचाना चाहता है—कि उरा पर दृष्टि न पड़े। इन्हींलिए सृष्टा और सृष्टि की बात उमने उठाई है। बाध में स्वयं सेतक द्वारा की गई 'सुनीता' की अनेक व्याख्याएँ दीकाएँ—भी इस दिशा में हमारी सहायक नहीं हैं। सचटी क्योंकि उनमें बुद्धि का विकास ही अधिक है और खोलने से अधिक दिवाने की चेष्टा है। 'बरे-बाहरे' को लेकर एक बड़ा प्रश्न खड़ा कर दिया गया है परन्तु स्पष्ट ही 'बरे-बाहरे' 'सुनीता' में अधिक नहीं है। वह केन्द्र में तो नहीं ही है। वह तो कथा के उत्तर में धाया है। और उसके बिना भी श्रीकांत-हरिप्रसन्न सुनीता की कथा यही रह सकती थी। इन साम्य दृष्टि के केन्द्रीयभूत करने के कारण सेतक अविशेष पक्षों को साफ बचा गया है।

४

इसमें संदेह नहीं कि 'सुनीता' में हिन्दी आलोचकों और पाठकों को जैनेन्द्र की सामर्थ्य का पता लगा था। वे धूम्य रूप से कदाचित् जैनेन्द्र के अतिशयोक्ति घाटपबाध पर, परन्तु फिर भी जैनेन्द्र की धौनव्यासिक कथा की समाधानार्थ उनके सामने घाई थी और उन्होंने उन्हें स्नेह की दृष्टि से देखा था। कुछ प्रसंग होने पर भी तब जैनेन्द्र धूम्य नहीं थे। वह अभी सापेक्षिक नहीं बने थे और मूकम यथामत को भी उन्होंने साहित्य की रंजीनी देकर ही प्रकाशित किया था। बाल्य में 'परल' और 'सुनीता' में जैनेन्द्र ने भारतीय ब्रह्म-जीवन को बड़ी मूकम दंतदृष्टि में उभाया था। इन दोनों उपन्यासों में एक ही विषय था। एक मते 'मूस्य' को लेकर सेतक सामने धाया था। इस मते 'मूस्य' में मूकम सत्य का प्राण था। प्रेम की 'परल' क्या है? नारीत्व की 'परल' क्या है? उत्तर या समाधान भी उपस्थित किया गया है—कि प्रेम की परल है त्वाय और नारीत्व या पत्नीत्व की परल है अतिशयोक्ति पतिविद्या और ध्यायित

घातमन्वान । उत्तर या समामान प्राक्सवारी या मुदम का सब किमी के पस्से पड़े ऐसी बात नहीं । परन्तु इस उत्तर को जैनन्त्र ने मानसिक हलपनों और घनेक बरेसु बिचों की भूमिका लेकर उपस्थित किया था । एक ओर मूर्खता और सागुपरिवर्ती मनस्तव भूमि और सरल और स्तह्युर्ल बरेसु जीवन । वे जो उपन्यास की नई दिशाएँ थीं । पहले के लिए जैनेन्द्र रवि बाबू और चारु के श्रेणी हैं । चौधेर बामी (घान की किरकिरी) के जिस मानस-बिचिभ्य ने धारक बाबू को बमत्कृत कर दिया था वही जैनेन्द्र को प्राकपित करने में समर्थ हुआ था । अंतर इतना था कि चारु ने रवि बाबू की मूर्ख मानसी पकड़ को भावना को भूमि लेकर नया रूप दिया परन्तु जैनेन्द्र उसमें बिभक्षुता और सिद्धांत ही भर सके । उसमें मोसमता नहीं पाई वह अंतर की हरी विमा से पोषित नहीं हो सका । अतः हमें सत्य का आग्रह प्रचिक रहा काम्य का रस कम । परन्तु यह कम भय की बात नहीं कि जैनेन्द्र ने अपने उपन्यास-लेखन के लिए एक नई भूमि खोजी और उस पर घाने चलकर हिरी की कई मछ रचनाएँ की । सामर्थ्य की बात अपनी अपनी है परन्तु नई दिशाओं का निर्माण भी कम श्रेय स्कर नहीं है । इसी भूमि नितांत मौलिक थी जैनेन्द्र की अनुसूत और कल्पित ।

भर के छोटे-बड़े हबमवाही दैनिक धनुमब के बिच 'सुनीता' में मिलते जैसे उपन्यासकार पर के अन्तरात्म में प्रविष्ट है और उस बिचण में रस ले रहा है । सब तो यह है कि 'सुनीता' की कथा मानसिक तम पर ही विकसित होती है और उसमें ब्रह्मचर्य जीवन का रस भी पूरा-पूरा सग्न प्राया है । प्रेमचंद के साहित्य में बटना का बनावटोप है अरिचों का बाहुम्य है । फल यह है कि बिचण की बारीकी नहीं मिलती । मन की अतलस्पर्शी नहृदाहमी प्रेमचंद की सेवनी कम खूनी है घान-बीड़ में (उसकी बीड़ घातमन्वारी है) उसे इतनी कुरसत नहीं मिलती । प्रेमचंद बर्षा का जीवन लेते हैं परिवारों का नहीं । एहस्वी के बिच उनक साहित्य में कम नहीं है । 'बाघान' होयी की एहस्वी पर ही खड़ा है । परन्तु सामान्य जीवन के सामान्यतम अवेदन नहीं है । रमोई-बकरी-बूस्था म्पू-मुहाक में मोद पाती हूँ रसमयी प्रुहिरी उनकी कथा के बीच में प्रतिष्ठित नहीं है । याच की बिबवा की कोठरी में सभी घाने की पूजा-घामगी उसमें रंगीन नहीं बर सठती । यह दिन-दिन अणु-अणु के एहस्व जीवन का—नगर घाम का घामेखन जैनेन्द्र की सिद्धहस्तता है । प्रेमचंद में जीवन का अंधक बहुत है सब कृष घान्दोमनमम है बीबम की कविता मनमें कम है । जैनेन्द्र इस भूमि पर कवि बुद्ध रवीन्द्र के साथ है । उनमें कवि की मूठम पकड़ है और कला-मूर्खी सेवनी उनके पास है जो कम बोलती है परन्तु बोलती है तो प्यार के पहचान के बीर पीडा में भी घानन्व के स्वर मिलते हैं ।

५

जैनेन्द्र मनक्य पर चमते हैं। वह भावना को प्रधानता देने हैं बुद्धि को नहीं। इसीमे बुद्धि पर खड़ी संस्थाएँ उनके अनुसार समाज के स्थापित्व के लिए आवश्यक होत पर भी बहुत थ पस्कर नहीं हैं। विवाह इनमें से एक संस्था है। भावना तीस तीनकर नहीं चसती वह परीक्षण करती है। परन्तु समाज जैसे बस नागणिकता जैसे बस यदि जीवन परीक्षण के लिए ही ममभ किया बाम और कानून ठोकने के हो लिए। बस सब मानवता नहीं कायम है उस रीढ़ संस्था के सहारे जिसे 'कुटुम्ब' कहत है और जो विवाह पर गिरी है। परन्तु इस यथावस्था की स्वीकृति म मनुष्य के भीतर के माद-जीन को महारा ठो नहीं मिलता। वह विवाहवित्त बन जाता है। इस विद्या की श्रीकांत में मकक मे इन प्रकार गटोवा है 'धीकाल जानता है कि वह इस सहमत है। फिर भी माना भरने से पूछता है "है"। पूछता है और बुद्ध देर बार उत्तर में जैसे नीत-ही-नीतर "क्यों नहीं होइराता हुआ प्रसमत माद से उठ पडता है और तेज जान स घपने कमरे में चलने समता है।" (पृ० ३) बुद्धि भी हार भावना में है। इसी से जैनेन्द्र 'मुनीता' में भावोद्गीप्ति की योजना करते हैं और सूक्ष्म प्रतर्न भावना के बल पर हो वह विवाह की दुर्नध्य संस्था के पार जाने का उपक्रम कर सकी है। भावना के बल पर हो सूक्ष्म को पकडा जा सकता है। बुद्धि स्पुल को पकडती है परम्परा को पकडती है। इसके प्रागे उसकी सुरक्षा नहीं है।

कना में मुनीता की मनोरथा के प्रतीक-रूप में "मीरा"—किम्म को रखा गया है और मुनीता-धीकांत की किम्म के उमर मे की गई काला से जैनेन्द्र ने अपने दृष्टि कोस के लिए पाठकों को तैयार किया है। धीकांत सर्वदीमा बुद्धि की मुमिका पर से नीरा के जीवन को प्रहस्य करना चाहता है। फलतः वह उसे समभने मे प्रनमर्ष है। वह छाया की कूटा को भीतर ही ब्यथा को उपर मातता है और नीरा की वह मक्ति उसकी समभ में नहीं घाली जो उसे सब कर्तव्यों से विमुक्त कर देती है और छाया के प्रति प्रकृतवता को घोषित्य भी प्रदान करती है। यह दृष्टि समाजगत है। यह विवाह की संस्था के भीतर स साम्याय जीवन का क्षेत्र है। परन्तु मुनीता की दृष्टि दूसरी है। वह लौकिक को बुद्धिमम्मन मानती है परन्तु मानती है कि बुद्धि से परे जीवन है। उसे धर्मीविकता समाधिच भी होना होगा। वह कहती है 'धर्मीक हो कस हो सकता है तो जो लौकिक का धाधिपत्य घस्वीकार कर दे। बुद्धि घरीत जो है उसे चलने के लिए बुद्धि के पर और तक के स्टेप नहीं काम देंगे। इससे तो मैं सहमत हू कि लौकिक तो धर्मीक का बहिष्कार हो कर, पर धर्मीक उमभ मसत् म हो पायगा। नीरा इन-हीम नहीं हुई है। इसम लौकिक का निरिपठ रहना चाहिए कि धर्मीक की लौकिक पर हावी होने की स्त्रीम है। मैं समझती हूँ, लौकिक के दिगा

दर्शन मार्ग दर्शन के हेतु से धार्मिक यथा-कथा पठित होता है। बहिष्कृत तो उसे करता ही होता परन्तु जलमे जलाबनी भी मानी होगी। मीरा को समझती मैं भी नहीं हूँ पर समझती हूँ वह समझी जा सकती है। मीरा के हृदय को राणा के हृदय के प्रेम की व्यापकता से कहीं उत्कट प्रेम की व्यापकता को कारण रखना—क्या तुम यह नहीं मानते। धीकांत इसे प्रतीकार कर देता है। उसका तर्क है कि राणा के प्रति मीरा का प्रेम सम्पूर्ण है। इस पर भाव विवश स्वप्ननिष्ठ मुनीठा का उत्तर है “मैं तो इतना ही कहती हूँ कि राणा ने प्रत्याप नहीं किया। यह मैं राणा की धोर से भी कहती हूँ मीरा की धोर से भी कहती हूँ। राणा के मन की व्यापकता की व्यापकता में जिन कल्पों को खूब कहा जाये वे ऐसे जसम हो जाते हैं जैसे यज्ञ में समिधा। मैं तो राणा का भाव तो ही समझती हूँ पर मीरा के साथ भी मुझ इच्छा रख दे दो कि मैं रोना चाहूँ। मीरा के मन को जानने पर मीरा को बहने योग्य जो नहीं रक्षा जायना। वहाँ प्रत्योत्तर समाप्त हो जाता है। कुछ कहने को नहीं रहता। मुनीठा का आशय धीकांत को भी पूरा जाता है। मुनीठा स्वयं समझ नहीं पाती कि यह कह कर उसने पति के साथ स्वाध किया है या प्रत्याप। परन्तु इसके मुनीठा का भाव बाध पुष्ट होता है। जो हो इस प्रयोग में जैन ने इमित कर दिया है कि भाव-बोध बुद्धि बोध से बड़ा है और उसी में मनुष्य की सार्वक्या है। ‘बुद्धि की हार’ इस दर्शन को उन्होंने यहाँ उभारा है। यद्यपि स्वयं सूक्ष्म तर्कप्रयत्न सहाय लेकर तर्क को तर्क से कान्ते की गलती भी उन्होंने की है। अर्थात् मुनीठा बड़ी है परन्तु तर्कबद्ध धीकांत छोटा है। इसीसे मुनीठा की धोर से बहने पर उसकी लम्पता प्रकटनीय नहीं रहती धीकांत की धोर से बहने पर वह सिद्धांतमयित और सामकीय जाती है। जैन ने उपन्यास में धीकांत को प्रायही बनाकर एक प्रकार से मुनीठा पर प्रत्याप किया है उसे अपने पर छोड़ सकते तो कदाचित् मुनीठा मीरा जैसी व्यापकता का अनुभव करती और “परब की कट्टी के ‘बैबल्य-यज्ञ’ की तरह मुनीठा का ‘फलीत्य यज्ञ’ या ‘सतीत्य यज्ञ’ भी हथका हाकर प्राता क्योंकि दोनों में एक ही प्रकार की ‘आत्मा हृदि’ है।

त्यागपत्र

“त्यागपत्र” जैनम्ब्र का सबसे अधिक विचारग्रस्त उपन्यास रहा है। इसका कारण यह है कि लेखक ने इस उपन्यास में समस्त कथा को दो मन्तव्यों के बीतर से देखना चाहा है और पार्श्वों के मन को भी दो भूमियाँ निश्चित की हैं। एक सामाजिक दृष्टि व्यक्तित्व। इन दोनों भूमियों को एक साथ लेकर चलने के कारण बात कुछ उमर गई है। वास्तविकता इस बात की है कि हम इन दोनों भूमियों को भ्रमन लेकर चले और कथा और पार्श्वों की इस द्वैत स्थिति को स्पष्ट रूप से जानें।

सामाजिक मन्तव्य

जैनम्ब्र के उपन्यासों में सामाजिक मन्तव्य प्रकटित रूप से आता है और लेखक के भावों के बात-प्रतिबात एवं विचारों के उद्घापोह में उसका अधिक पता नहीं लगता। परंतु “त्यागपत्र” में यह सामाजिक मन्तव्य इतना सुस्तर है कि उसे बाँधों की ओट करना असम्भव बात है। स्पष्ट यह यहाँ भी नहीं है, परन्तु चित्तगामी अक्षर्य है। वास्तव में “त्यागपत्र” और “कल्याणी” में जैनम्ब्र ने नारी-जीवन की उन विद्वम्बनाओं को उभारा है जो व्यक्तिगत न होकर सामाजिक हैं जो “पर धीर बाहर” की समस्या जैसी सूक्ष्म नहीं है। फलतः जिनमें सामाजिक चर्च-बात बड़ी शक्ति से सामने आता है। यह अक्षर है कि कम-से-कम “त्यागपत्र” में नारी-जीवन की कल्पना प्रमोद की प्रतिक्रिया के रूप में एक व्यक्तिगत पक्ष को भी लेकर सामने आती है, और स्वयं मूणाल भी नारी की सामाजिक स्थिति के प्रश्न को व्यक्तित्व आत्मपरिष्कार (धारमपीडन) का प्रश्न बनाकर चमकी है परन्तु उपन्यास के प्राधि-अन्त से हमें कथा की समाजमुक्तता का पता चल जाता है।

परंतु यहाँ प्रश्न यह उठता है कि कथा में समाजमुक्तता कहाँ तक है और स्वयं लेखक ने उसे कहाँ तक सामाजिक प्रश्न के रूप में देखा है। प्रारम्भ में ही लेखक ने अपनी मर्यादा बतल दी है—कि “नहीं भाई पाप-पुण्य की समीक्षा मुझ से न होगी। जब हूँ बानसू की तराजू की मर्यादा जानता हूँ पर उत तराजू की बकल को भी जानता हूँ। इसलिए कहता हूँ कि जिनके ऊपर राई-रत्ती नाप प्रस्त कर पायी

को पापी कह कर व्यवस्था देने का शायित्त्व है वे अपनी जानें। मेरे बस का वह काम नहीं है। मेरी बुधा पापिष्ठा नहीं थीं यह भी कहने वाला मैं कौन हूँ ? पर प्राज्ञ मेरा भी धकेले मे उम्मी के लिए पार धामू बहाता है। इस बलकल्प सं यह स्पष्ट है कि सेलक बुधा (मृणाल) के जीवन को सामाजिक मान-संघ पर परतना चाहता है वह उनके जीवन की व्यर्थता को दर्शाता है। और इस व्यर्थता को दूर न कर सकने की स्थिति से मन जाता है। ग्लानि यह नहीं कि बुधा पापिष्ठा थी — यह कि बुधा तिल तिल कर गलती रही तो यह गद्दीबार बना रहा अपने चारों ओर खरू-खरू की प्रसिष्ठा की बीमार लड़ी करके मजबूती से बना रहा और कोई धपबाध उसको पार कर उस तक न था सका। उसका धपना अस्तित्व सामाजिक संघ का प्रतीक बन जाता है जब कि बुधा मृणाल का तिल-तिल होमने वाला जीवन आद्यत-सर्व को चुनौती है। बुधा ने सत्य जिया मतीका जमी छोड़ कर उस सत्य के जलते तैल से धपने को बधाये रहा। परन्तु धरु तक उस टैक को धो देने की शक्ति उनमें नहीं थी। धरु में मीनर की ग्लानि से मन कर उसने मानी जब एम् हवाल ने ४—४ को धपना त्यागपत्र दे दिया।

इस त्यागपत्र को ही धीरे-धीरे बत कर जैनेन्द्र ने इस व्यक्तिगत समाधान को ही महत्त्वपूर्ण बना दिया है। परन्तु प्रश्न यह है कि वह त्यागपत्र क्या ? जिस बात को सच से कुछ अवर धर्य हो गये उसको मृणाल की मृत्यु ने मरुमोर कर कैंसे अवर उठा दिया। और इस त्यागपत्र से किस समस्या का समाधान हुआ ? सामाजिक समस्या तो बही बनी रही अरिष्ठ वाली एम् हवाल या मतीका प्रमोद की वैयक्तिक समस्या भी कैंसे समाधान को प्राप्त हुई। बुधा के प्रति जिस व्यक्तिगत धवमानना को उसने धपना धनाबार माया वह क्या जमी के त्यागपत्र से धुन गई। क्या उसके पीछे प्रमोद की धपनी कुछ व्यक्तिगत धु ठाएँ नहीं थी ? क्या वह बुधा के धाके नहीं था सका। क्या इही विचार ने तो उसे त्यागपत्र के लिए मजबूर नहीं किया ?

बुधा के जीवन के सामाजिक पक्ष की कहानी इस प्रकार है। उसने सीमा के माई से प्रेम किया और मेर बुल जाने पर मिठ भी थी। क्यों सीमा के माई के प्रति उसका प्रेम सामाजिक नहीं था सकता था इसका सेलक ने इंगित भी नहीं किया है और इनको धर्य करके पाठक की सहानुभूति को खोटे पहुँचाई है। फलतः बुधा का आत्मपीडन मनोवैज्ञानिक धमि बन गया है। क्या वह सही है, क्यों वह उध समय विज्ञोह नहीं करती जब विज्ञोह करना धार्थक होता। बाद में हम देखते हैं कि बुधा का विवाह हा गया है परन्तु वह प्रमोद से स्पष्ट कह बेती है कि उसका मन बही पर नहीं है और उसे पत्र देकर सीमा के माई के पास भेजती है। पत्र का उत्तर पढ़ कर मृणाल धपने को धुन गई थी परन्तु धरु में उसने उन जत को फाड़ कर नहीं-नहीं टुकड़े कर धाले और जैनेन्द्र जीने पर प्रमोद को डाटा कि वह बही कमी नहो थाए।

यहाँ कोई सामाजिक दृष्ट न होकर व्यक्तिगत दृष्ट ही स्पष्ट है। विवाहिता नारी की सामाजिकता माथपटा और पतिभिन्ना एफ और और स्वच्छन्द प्रेम का नारी का प्रकृत अधिकार बूझरी और। बुधा की इस उक्ति में कि 'तू इतना प्रतिसमन्त क्यों है प्रमोद। तू नहीं जानता कि मेरी शारी हो गई है। यह दृष्ट मन्त्रक भाषा है। धामे बुधा अपने विम की धाम का भी बिना करती है और जाने से पहले पत्र लिख कर सीता के भाई से बर्बाई के बहाने जहर मंवाती। पत्र हिन्दी बन जाता है और हजारों टुकड़े कर डामे खाते हैं और फिर सीता के भाई का यह प्रसंग यहीं समाप्त हो जाता है। धामसे रोज फूफू पूरे इंतजाम और प्रेम के साथ बुधा को अपने घर से बात है।

पूछ पछाह के धावनी है जिनका बाबा है नि की और मरव पछाह का। उभर बुधा ने पहली बेंट में ही अपने उम कदाही उमसे कह दी है और मार का भी है। बुधा के सम्बन्धों में ब्याह के बाद मैंने बहुत सोचा बहुत सोचा। सोचकर धत मे यह पामा कि मैं छप नहीं कर सकती। छप पाप है। बुधा को बुधा ब्याहृठा को पतिव्रता होना चाहिए। सच्ची बनकर ही समर्पित बुधा जा सकता है। इस सच्ची बनने के लिए मृणाल ने सीता के भाई के पत्र और अपने उत्तर को भी पति के सामने रख दिया और ब्रंत में उसके भीतर के दानबल को जगा दिया (पृष्ठ १२ १३)। पति न उसके लिए एक कोटरी तय कर ही और उसने पातिव्रत्य के नाते दूर रहना स्वीकार कर लिया। पति जब कहता है कि वह पति नहीं है तो क्या पत्नी का पातिव्रत्य यही नहीं कि उसके स्वामित्व को मानते हुए भी अपने प्रति उत्तरदायित्व से उसे मुक्त कर दे। यह मूढम तर्क है जिसने मृणाल को धन रूप में डकेल दिया। मृणाल का समाधान कहाँ तक व्यावहारिक है कहाँ तक धीप्यासिक कहाँ तक बीजमूर्ती और कास्पनिक यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु प्रेम और परतीत्व में से एक को स्वीकार कर (या परतीत्व को स्वीकार कर) लेने के बाद पुस्य (पति) को परीक्षा में डामना क्या ठीक था? क्या पति को पति रूप में स्वीकार कर और उसका गम बारस कर मृणाल में अपने प्रेम धर्म को कु टित नहीं किया था? फिर पति के प्रति सच्ची होने का यह प्रति भाषह क्यों? क्या इसके भीतर यह प्रच्छन्न सूत्र नहीं कि कहीं भीतर प्रेम की प्रतिबाधता भी छिपी है? अनेत्र का धन्तव्य है कि विवाह नारी की धोर से आध्यात्मिक बंधन है और वह तन ही नहीं मन भी पुस्य को लेकर ही धार्यक होती है। मन दिये बिना मृणाल अपने भीतर अपूर्णता का अनुभव करती है और मन देने का धर्म है भीतर की बाग सोमकर कह देना जिसकी प्रतिक्रिया बही हुई जो मनोबैज्ञानिक की। एक और मूढम तर्कवाद या अध्यात्म भाव है तो दूसरी और मनोविज्ञान। हार्ड के "टेक" में श्री ऐमी ही स्थिति की योजना है।

यहाँ तक वो डीक। लेखक उन मन के सम्पूर्ण समर्पण को ही सतीत्व मानता है और कोठरी में रख कर भी कबाबिदू मूकाम छोटी बनी रख सकती थी यदि वह मन से पति के प्रति समर्पित रहती। धायब रही हो। परन्तु मन की कौन जानता है। लेखक यह इमित करना चाहता है कि पति के मन को कष्ट न पहुँचाने के लिए ही मुशाल ने समन रहना रबीकार किया और सतीत्व को कृपाण की धार पर चलने का यह सूझ पत्र प्रहस्य किया। बाद में परिस्थिति-बस उसने उन बेचा मन मुरधित रखा। जिसने उसके साथ कुछ भी किया उसे प्रतिशान में तन मित क्या यदि उसका यही भाव रह रहा। वह पहले कौबलेवाल के साथ रही। बाद में उठना चाहता द्रुवुदर बनी परन्तु साया बलने वर अधिवात्य को सम मान कर मीचे जाने का पत्र ही उसने स्वीकार किया और अन्त में उस वर्ग के लोगों में वा पहुँची वो समाज की जूटन है। उनकी बूझनी और बसती इम्सानियत के मरुसे ही वह भी और धायब मयी। इस स्थिति का विषय देखिये, 'वहाँ नपर की सड़ाव रहती है वहाँ वह रहती थी। यथेष्ट धनस्वा की बेस्यारी बेडार मजूर, येसेवर मिश्रयने कानून की धौल और चतुल से बच कर किये-उबड़ काम कराने वाले उबलके लोयो की वह बजह थी। बुधा नहीं कैंते या पड़ी। वह बीमार की सटिया से समी पड़ी थी। चार-पाँच ठगरेके बलेंन क एनी-मुदप भावपास थे। उनके बेहरे पर बुधा की प्रवस्था के लिए धायब और बिन्ना बिकी थी। वे परेधान मामुप होते थे पर बाव से बड़ी सापरबाही के साथ करते थे। इया-समं नहीं न थी इस तरह से उबरना मुजाल ने नहीं चाहा। प्रमोद के भाइय पर उसने कहा प्रमोद तुमर्क बहाभास्य ही पड़ा है न। बुधिष्ठिर स्वमं मए थे तो कुत्ते को गही छोड़ पये थे। यह बठा ठेरा वर किठना बड़ा है— इत सबको से जमेया। मे कुत्ते नहीं है और इतना मुझ पर बड़ा अपकार है।' यह प्रमोद के अधिवात्य पर प्रहार है। धीर की धायब कराने वर वह प्रमोद के जननर्न वर चोट करती है। पुछने पर कि 'कपमे का क्या करोगी' कहती है— क्या करोगी यह तो धमी नहीं जानती है पर पहले तो सिरे बिल का मरम मित जाकया कि मैं तेरी सहायका नहीं चाहती हूँ। किन्तु क्या जोड़ने में ठेप प्रपना भी बना है। पून क्या धीर क्या कर सब इस पड़े में सा पटका कर। मुना कि नहीं। बउये के जोर से वह गरक-कुच्य स्वमं बन सकता है ऐसा तो मैं नहीं जानती। फिर भी क्या कुछ-न-कुछ काम सा सकता है। प्रमोद (त्यागपत्रीय बच पम हवाल धमी बडीत) की समझ में यह बात बिसुब नहीं आई। उसे टाल कर उसने मुशाल की मरवस्था का मनावान करना चाहा। बुधा ने यह साङ्क कइ दिया कि बहुन-सा क्या पाने पर भी वह प्राइवट बार्ड में बोड़ कर बनी जाने वाली नहीं है। धीर प्रमोद कृष्णबन्धु हा बना धामा। भीतर की बाँके उतने बन्द कर सीं। बुधा भी धीर फिर नहीं देखा क्योंकि बुधा तो प्रनीक थी। बाहर का धार समाज को गरक भी छा था। उसने मामने के स्वार्थ को देखा धीर बच एम हवाल बना। जीनेत्र के चर्चों में यह

उसकी कापुसपता थी। परन्तु यहाँ मझेना यह बड़ा होवा है कि इस 'कापुस' का घसली रूप क्या है? क्या बुधा की व्यक्तिगत रूप से धस्वीकृति पत्नी और बच्ची की प्रतिष्ठा रखकर (क्योंकि मृणाल के प्रश्न का एक व्यक्तिगत पक्ष भी है) या प्रभिवात्य का न छोड़ सकने वाली धर्मासाधिकता से रूप में जिसने समाज में महुरी बाइयाँ डाल दी है। इन ही बच्चों को लेखक मृणाल के व्यक्तित्व में उसम्भ वैठा है। प्रश्न व्यक्तिगत है और सामाजिक है परन्तु लेखक दोनों भूमियों पर एक साथ चलने की चेष्टा करने के कारण धस्य कबाचित् असफल है। वह कह सकता है कि स्वयं जीवन में उसम्भहट है, सब कहीं स्वसुख देखाएँ नहीं है। परन्तु उपन्यास जीवन का 'फोटो' नहीं है, वह सुष्टा की दृष्टि नहीं है, बेतन मनुष्य की रचना है जो चुन सकता है, रंगों देखाओं को उमार सकता है और 'कला की जीव' दे सकता है। स्पष्ट ही ऐसी जीव जैनेन्द्र की नहीं है। सत्य का ककाल देने का उनका प्रायश्च है और इस सत्य का भी उन्होंने एक विविष्ट पात्र (बच्च एम्० ब्यास) के दृष्टिकोण से साक्षात्कार किया है। स्वयं लेखक का दृष्टिकोण कोई बुरा है यह भी नहीं कहा जा सकता। वास्तव में लेखक एम्० ब्यास में दूब मया बही बन गया और एम्० ब्यास (या प्रमोद) का सत्य उसका सत्य बन गया।

यह कहा जा सकता है कि एम्० ब्यास सामाजिक वस्तुस्थिति का प्रतीक है। समाज में सभी इतना वैतन्य ही नहीं है कि वह सत्य की जसती धांस को देख सके। फलत एम० ब्यास की विफलता स्वयं समाज की विफलता है। समाज धर्म प्रतिष्ठा सामाजिकता सुविधा बड़ा-भाइमीपन—इनके पीछे धीइता है। पुस्तक के प्रश्न में प्रमोद धपने सं प्रश्न करता है कि बुधा की माँ उससे क्यों पूरी नहीं हुई? क्यों धन उसने बहा नहीं डाला? क्यों उसकी मुट्टी मिची रही? और स्वयं ही उसने उत्तर दिया है कि वह झुझ था। कर्त्तव्य को बवाठा रखा धकर्त्तव्य करवा रखा। वह 'दुष्टिमान' था। 'मूर्ख' नहीं था। तोल-तोस कर जला और ठण्डू धपने ह्याय में रबी। धाव इस्तीफा गेठे धमय यह धुइता उमर धाई है और उसके महास्वयं और महार्थताप का विषय है। कहता है 'इसीलिए धाव जो ठण्डू है उसमें हमका तुल रहा है। धाव इस सारी बकालत के धैस और दुष्टिमता की प्रतिष्ठा के ऊपर बैठ कर सोचता है कि क्यों मुझ से धनिक मुर्म नहीं बना मया। इस सबको मैं क्या करूँ अब कि धमय पर प्रेम के प्रतिधान से बुरा मया। यह सब मेस है जो मैंने बटोरा है। मेल है, कि मेरी धात्मा की पयोति को डेँक रहा है। मैं वह सब नहीं चाहता हूँ।' बाहर की दृष्टि से व्यक्ति का उठना यही भीतर से देकने पर उसका विरला बन गया है। इसीलिए प्रडाइना है कोम है। मनुष्य सामाजिक है वहाँ सामाजिकता की माँ को वह पूरा नहीं कर पाया वहाँ वह भीतर में कुष्ठित है। उसके जीवन की यही व्यर्थता उस 'पाती' बनाती है।

मृम रूप से पाप-पुम्य की ध्यात्मा 'त्यागपत्र' में हो गई है। बुधा (मृणाल) समाज के लिए मसे ही पापिष्ठा हो और उसके पाप के कारण उसके मतीव (प्रमोद से)

सामाजिक (बैबाहिक) सम्बन्ध जोड़ना चाहे सम्य समान के लिए कठिन हो गया हो, परन्तु सूत्रम दृष्टि से बुद्धि पापिष्या नहीं है। पत्नीत्व की बेटी पर उनके 'प्रेम' का बलिदान हुआ है। परन्तु अब वह उसी सूत्रम पत्नीत्व या सतीत्व को लेकर बलता चाहती है तो उनका बाहरी जीवन समाज के लिए धर्मिक बन जाता है। बलि की मग देकर भी वह पति की गद्दी हुई तो उपकारी के प्रति तन देकर वह क्यों लालित हो गईं यह तैय्य प्रसन्न के रूप में समाज के सामने रखता है। प्रसन्न सूत्रम है धीर कथावित् समाजान् मी सूत्रम होना। प्रसन्न सूत्रम है धीर देखने वाली दृष्टि उसमें निरन्तर मूढमत्ता देखती रहती है। परन्तु यह समाजान् क्या व्यावहारिक भी होगा? तब धीरमन का बैसा विवेक करते जैनेन्द्र बसते हैं बैसा क्या समाज में रखकर सम्भव है? प्रेम मन का है धीर विवाह तन-मन दोनों का है, मन का पहले तन का बाद में। वह दृष्टिकोण तन को छोटा करता है धीर उसे इतनी सामान्य बस्तु बना देता है कि सती सारी उपकारी के प्रति इतित होकर उसे अनुचित धार से देखती है। यह स्त्रुहवीय स्थिति नहीं है। स्वयं जैनेन्द्र प्रसन्न में पढ़ जाते हैं अब प्रमोद कोयले वाले का प्रसन्न पुत्र कहता है धीर मुजाम उसे पर-मुक्य मानने से इंकार करती है।— 'प्रमोद इधे से कहती हूँ कि जब तक पास है तब तक वह पुत्र्य प्रसन्न नहीं है। मेरा सब उसका है। उसकी सेवा में मैं बुद्धि नहीं कर सकती। पतिव्रत-वर्म तो बड़ी बहूना है।' (पृ. २७) वहाँ कोयले वाले के प्रति पतिव्रत वर्म की व्याख्या की गई है। क्या यहाँ केवल तन का योग है मन का नहीं है? फिर यह पतिव्रत कैसे हुआ? धीर यह पतिव्रत हुआ तो जिससे विवाह हुआ उसके प्रति पतिव्रत क्या हुआ? कथावित् इधे से सिद्धान्त बना कि बैसा सकर तन देना वैध्यापन है। जो ही देना सतीत्व है कम-से-कम बेव्या पन नहीं है। यह स्पष्ट है कि यह प्रसन्नपति है तर्क की प्रति सूत्रम विस्तृति है जो तन्य को डोप जाती है। फलतः मुजाम के सतीत्व (पत्नीत्व) का महत्त्व कम्भी मीलों पर बढ़ा होना है धीर यह वाता है।

स्वयं लेखक ने सामाजिक मन्तव्य को बली गद्दी हाने बिना है। मुजाम कहती है— मैं समाज को छोड़ना-कोड़ना नहीं चाहती हूँ। समाज दृष्टि कि फिर हम किसके भीतर बनें? या कि किसके भीतर बिलड़ेंगे? इधेलिए मैं इतना ही कर सकती हूँ कि समाज से अलग होकर उसकी संयसाकांक्षा में दृष्ट ही दृष्टी रहूँ।' जैनेन्द्र का जीवन उनके वर्णन धीर समाज के प्रति विद्रोह की भावना के बीच में आ जाता है धीर यही बात उनका मन्तव्य को जालिकायी नहीं बनने देती। वह केवल सूत्रम बालिक या शार्थ निक ड्यापोह मान रह जाता है। कर्मांक तन के पीछे ईश्वर है जो सब की स्थिति को बनाए रखता है। बड़ी सामाजिक समाचार को भी सहनीय बनाता है। इस प्रकार मूल में जालिकायी होना हुए भी जैनेन्द्र की यह रचना प्रगतिवादी बन जाती है। पाप पुत्र्य के निरक्षर पत्र पर उनके पैर ठहर नहीं पाते। समाजान् न देकर वह ऐसा समझीता देते हैं जो मनुष्य के कर्तव्य को कुच्छित कर देगा धीर उसे साम्यलिच्छ बना देगा। स्पष्ट ही

जैनैन्द्र समाज के दो बर्ग मानते हैं एक, समाज की प्रतिष्ठा कायम रखने का जिम्मा जिस पर है। दूसरा जिस जीवन के साथ प्रयोग करने की छूट हो सकती है। इसकी बाजार-दर कुछ नहीं है मगर यह धपने को खो सकता है नये प्रयोग में धपने को सपा सकता है। समाज के स्थायित्व के लिए पहला बर्ग अनिवार्यतः चाहिए और इसी से मूणाल नहीं चाहती कि प्रमोद समाज से बिछोह कर असामाजिक बने। वह धारमरीढ़ा के द्वारा समाज को धुँड करने का क्या प्रयोवी जीवन जीती है। इसे ही मूणाल की हमस्मा का जैनैन्द्रीय अहिंसात्मक समाधान कहा जा सकता है जो जैनैन्द्र की मूकम ठकुर पद्धति पर ठीक उतर कर भी सामाजिक व्यावहारिक और स्मृत सत्य की दृष्टि से संबन्धीय नहीं है। समाज से बिछोह भी नहीं होया उसके मयल की भावना लिए नये प्रयोग में सप बना होया भाषा का जीवन जीना होया परन्तु उसका बोझ दूसरे पर नहीं डालना होया। यह लुरस्य धारा है। परन्तु क्या मूणाल इस पर बनने में समर्थ है या उसके लिए अन्यायकार ने ऐसी कोई मुमि ठियार की है, या हम नये प्रयोग की प्रयोग से धन्य और प्रयोग से धनिक कुछ सापेक्षता है ?

२

‘त्यागपत्र’ का व्यक्तिगत मन्तव्य

‘त्यागपत्र’ का व्यक्तिगत मन्तव्य मूणाल और प्रमोद (बुधा और मठीजी) के व्यक्तिगत सम्बन्धों को लेकर बनता है। यह व्यक्तिगत सम्बन्ध धर्मक प्रेम का ही सम्बन्ध है यद्यपि लेखक ने इसे छिपाने की पूरी चेष्टा की है। इस प्रेम के धारम्य में कैमोर की रहस्यमयता अस्पष्टता और भावुक शक्तिता है। कम-स-कम बहूँ तक मूणाल का सम्बन्ध है यही अनुमान ठीक सपता है। प्रमोद मूणाल से कई मास छोटा है और वह बुधा मूणाल की भावना को समझ ही नहीं पाता। परन्तु स्पष्ट धामास यह मिसता है कि मूणाल प्रमोद क प्रति धर्मक भावना को जानती है, जान कर भी उसे प्रपट नहीं करती छिपाती है और उनमें पीलाके धाई का अस्पष्ट धारण भी कछी है। कथाचित् बुधास का स्वसन नामी क कड़े अनुपासन का कस पा। प्रमोद कहता है, “बुधा का ठक का रूप सीधता हूँ तो बंध रह जाता हूँ। ऐसा रूप कब किसको बिधाता देता है ? जब देता है ठक कथाचित् उसकी झीमन भी बमूस कर सेने की मन-ही-मन नीयत ठगकी रहती है। पिताजी ठो बुधा की मोहिनी मुरत पर रीम रीम जाते थे। बुधा मनीब की बहूठ बननी थी। जब बुधा ठहाका मार कर हँसती तो मठीजा प्रमोद बेलता रह जाता।” उम समय मुझे कहानी थी परियो वा ध्यान हूँ धाना और मैं मुग्ध मास से धपनी बुधा की धार धाकट हो रहता। यह कैमोर प्रमाद बढ़ता हो गया। पठम की बात करत हुए प्रमोद का मकामक धंरु में भर कर बुधा कहनी ‘हम तुम दोनों गंग-संग पठग उड़ायेने। ऐसी उड़ायेने कि बहूठ हूर। सपथे जैषी सबस जैषी। उड़ायेने बर्तन।’ मूणाल बुधा नहीं बनना चाहनी। कहती है, “मैं बुधा नहीं बनना

बाहरी। बुधा। जि। देख बिड़िया बिड़नी ऊँची उड़ जाती है! मैं बिड़िया होना चाहती हूँ।" प्रमोद ने पूछा "बिड़िया।" बोली "हाँ बिड़िया। उसके छोटे-छोटे पंख होते हैं। पंख खोल वह आसमान में जबर बाहे उड़ जाती है। क्यों रे, कैसी नीज है। मर्ही-नी बिड़िया मर्ही-सी पूछ। मैं बिड़िया बनना चाहती हूँ।" इस रोज रज की वह मुझे बहुत पर तक धपने से बिपटावे रही। पूछने मनी— प्रमोद तु मुझे प्यार करता है। मुतकर बिना कुछ बोने मैंने धपना मंहु उमकी छाती के बातने में धीर दुबका लिया। इस पर वह बोली "प्रमोद में तुझे बहुत प्यार करती हूँ।" यहाँ बुधा स्पष्ट रूप से धीमा के भाई का आरौप प्रमोद में करमा बाहरी है धीर इसीलिए प्रमोद से बीनी कहमाना बाहरी है। वह स्पष्ट ही मीन माध है।

बुधा का बिबाह हो गया परन्तु बीधे रोज वह सीट भाई। फिर फूझ माधे धीर बिबा से धप। धप की बार लौटी ली बिन्न बी। प्रमोद मध बड़ा हो गया है। बुधा की धिम्मता के कारण को नहीं समझता पर बिन्नता का समझता है। जाने की बात को लेकर बुधा धतीने में जो बालन्तार होता है वह मीन भावना से खानी नहीं है यद्यपि वह स्पष्ट भी काहती है। बुधा साफ काहती है कि वह उसने साध रहना बाहरी है धीर पुच्छी है कि रखेबा धीर उधकी धीर ऐसे देखती है कि वह मँग खाना है धीर धन्त में उधे लीच कर धपनी योध में ले लेती है धीर उधे बेतो से पीटना बाहरी है। बुधा की इन धंम से कही बाहें प्रमोद समझ मही पाता परन्तु यहाँ बुधा की आत्मपीडन भावना स्पष्ट है जो अगुप्य बीबन का ही रूपान्तर है। बुधा ने धमी से धपना मार्ग सोध लिया है धीर इस समय बुधा नतीने में कुछ ऐसी बाहें होती है जो अणबाध का केन्द्र है धीर उन्ही में नाटकीयता ध्यहित है।

"धच्छ एक बात बता। तु बड़ा हो जानवा तक मैं बुलानेकी लो तु धायमा?"

"धीरन धामेना।"

"कैसी ली हाकत में हुई तु धायमा?"

"हाँ धामेना।"

तो मुन मैं बाहरी हूँ तु मही धायमा। तुझे बुलाऊ ली ही नहीं। काहती हू तुम सब लोध मुझे मुक्त खाना। मैं कैसी यई बीनी यती। इसके बाद मैं तुम लोधो को बिमदुम तकलीफ नहीं हू ली।"

बड़े होने पर बिमोद धत्रिजस्य भावना से धतित होने के कारण भूठी प्रतिप्य का बोध होता रहा धीर बुधा के काम नहीं धा सका। मही म्नाति 'रवानधध' के मुन में है।

बुधा के प्रति बिरोध का जन्म भी प्रमोद की धसष्ट मीन भावना का सुधक है। उमने खान लिया है कि बुधा बुधा से प्रथम नहीं है। उधे कुछ ऐसा कण हो रहा था कि केन्द्रहीन धीरुधक वह यह धबररगती नहीं होने बंधा। बुध मही ले बा

सक्ये। इन पर विभिन्न भाव न देख कर बुधा उसे बच्चा कहती है जिससे प्रमोद की विचोर-आवना प्रगाढ़ित हो उठती है। उस बोस का बाठा है घीर बह कहना है "हाँ बच्चा हू घीर मैं कुछ नहीं जानता। लेकिन एक बार तुम चुप कर बह दो कि तुम नहीं जाना चाहती हो तो मैं देख सँगा कौन फूँदा है जो स बाठे हैं। तुम क्या समझती हो कि मैं कुछ नहीं हूँ।" बुधा जब भीरे से कहती है कि उनका कोई नहीं प्रमोद उमक कण्ठ से लय कर कहता है— "मैं नहीं हूँ मैं नहीं हूँ।" बुधा उसे घालिगन में बाँध कर कहती है— "तू है भैया तू ही तो है।" इसक बाप फूँदा क धाने पर बामक प्रमात्र पुरप होने का अभिमत करता है घीर अपने बिसोन को प्रमट कर बेना है (देखिये पृ ३२३*)।

इसके बाद ही क्या प्रमोद की लांसा का विषय है। बुधा की लांसा घीर निर्वायन की बहानी पहले उधने उन्माह क साथ मुनी फिर घनी-घन उन्माह दाम्भ हो गया घीर जीवन उस कहानी को स्वीकार कर सहजगति म चलने लगा। बीड़े दिन बाद पिता का देहात्म हो गया। बह एह ए० पास करक कई इयर में पढ़ने लया। ठारण्य का धारण्य था। मुनिबसिटी जा रहा था कि बुधा बाने सांखिननयर क स्टेयन का बोई देख कर उतर पड़ा घीर बुधा को हँड निकाला। ठब बुधा कायस बास के साथ रह रही थी। ठारण्य में भावना का बल होता है। हम करना चाहत है। ब्यबहार देस कर बतना नहीं चाहते। जैनैत्र ने प्रमोद के इस भाव को यों विचिन बिना है "मुझे मामूम हुया कि उनकी बाँसें ज्वात् उतर उठनी नहीं हैं। मेरा भी इस पर बेहूब अस्य था। चाहता था कि उन्हें बतना हूँ कि मैं प्रमोद हूँ। घीर तुम भी तो बुधा बही-की-बही बुधा हो। क्या नहीं?" बह बताना चाहता है कि बह बी० ७ में पढ़ रहा है, ममी मुनिबसिटी से धा रहा है घीर उसका उद्यार कर सजठा है। यहाँ से क्या सामाजिक मोह सेनी है घीर मृणाल ठन-मन का धपना रहस्यमय कामूभा सेकर सामने धाती है जो प्रमोद की समझ में नहीं धाता कि जिनको ठन दिया उगस पैसा कँस लिया जा मजना है, यह मेरी समझ में नहीं धाता। ठन देने की बरकत में समझ मकती हूँ। ठन दे मकूपी। घायब बह अनिचार्य ह्ये। पर मना क्या? बान स्त्री का धय है। नहीं तो उसका घीर क्या बर्मे है? उससे मन मांगा जायगा ठन भी मांगा जायगा। सती का धारण्य घीर क्या है? पर उसकी बिनी—न न यह न होगा।"

इस परिस्थिति ने प्रमोद के मन में जिस दुःख को जन्म दिया बह उन्मास का प्राग है घीर ललक के बिस्तारपूरक उसे धंजिन किया है (पृ० २७-८)। बुधा के धनवाने कमरे में भ्रष्ट बगाने का प्रयत्न बुधा को सहारा देने का ही प्रच्छन्न भाव है। इसमें उसक धपने मन की बरपना है। बुधा की बह कोई महायता नहीं कर सता मन का यही पिक्कार उनके हाथ में भ्रष्ट पकड़ा देना है। इतमें ही बह धपनी रसा समझ लता है। यहाँ से ब्यक्तिगत मन बब बाठा है घीर सामाजिक मन धमर धाता है। स्वयं बुधा

उसके मन के इस छोटेपन को दूर कर हट जाती है। वह नहीं चाहती कि मुलाका उल्लेख सम्बन्ध रहे। उसके धर्मशास्त्र को वह स्थापित नहीं करना चाहती। प्रमोद इस पर कहता है 'बुधा मैं घर नहीं धाऊँगा। मैं सहायता का मन लेकर धामा बा। देखा है सहायता कोई नहीं लेता है। बस घर में नहीं धाऊँगा।'

बुधा का दर्शन यही स्पष्ट है। वह सहायता लेनी तो मठीजे प्रमोद की परन्तु जैसी धर्मशास्त्र भावना को तो हरादेगी ही। प्रतिष्ठा उसे क्यों चाहिए? कहती है 'प्रमोद सहायता की मैं भूखी नहीं हूँ क्या? तुम्हें ही वह सहायता म सुनी तो किन्तु सुनी? लेकिन सहायता का हाथ देकर क्या मुझे यहाँ से उठा कर जैसी बर्ष मैं बिटनी की इच्छा है? तो भाई मुझे माफ़ कर दो। बेशी येही धर्मशास्त्रा नहीं है। सहायता मुझे इसलिए चाहिए कि मेरा मन पक्का होता रहे कि कोई मुझे कुछसे तो भी मैं कुछनी ब जाऊँ, और इतनी विविध रहूँ कि उसके पाप के बोझ को खी लेतूँ और सब के लिए समा की प्रायश्चित्त करूँ। प्रतिष्ठा मुझे क्यों चाहिए? मुझे तो जो मिलता है उसी के भीतर सम्पत्ता पाने की शक्ति चाहिए।'

परन्तु बुधा की क्या प्रमोद में घर कर गई? मिलने का प्रयत्न किया परन्तु निम नहीं सका। बुधा का पता नहीं लगा।

इसी समय विवाह की बात चलती है और इतज्जक से बुधा ही इस परिवार में दूधर है। घर की बार मठीजा सब का पल्ला पकड़ना चाहता है और बुधा के सम्बन्ध को बटा कर अपनी प्रभावित धर्मशास्त्र वेतना को सम्पुष्ट करता चाहता है। उल्लेख छापी टूट जाती है और बुधा को एक बार फिर घर छोड़ देना होता है। परन्तु क्या सब ही प्रमोद इस विवाह-सम्बन्ध को ठीकना नहीं चाहता था? क्या बुधा को लेकर उसके मन में केवल सामाजिक इन्ध का या एक व्यक्तिगत इन्ध भी था। यहाँ भी प्रमोद की धार्मिक भीरता ही धारण करती है, कि लोग क्या कहेंगे। अन्त में बुधा के सम्बन्ध की स्वीकृति क्या एवदम सामाजिक सब की स्वीकृति है। क्या वह धरने को ही उल्लेख नहीं है।

इस प्रेम की धर्मशास्त्र के साथ बुधा के मन का सम्बन्ध भी सतिष्ठ है। बुधा मुलाका मठीजे को बिटनी नहीं चाहती। घुर गिरकर भी उसे उखा देखना चाहती है। यही क्या प्रेम का धार्मिक नहीं है? इस स्थिति को अत्यन्त नाटकीयता से बैनेत्र ने व्यञ्जित किया है। यहाँ सन्धाने बुधा के अथवा धर्मशास्त्र में अंतरने का अर्थ बोधा है (पृ ७३ ८)। वह भी स्पष्ट है कि पुस्तक के अन्त में लेखक ने अन्तर्मुख मन्तव्य को धार्मिक बनाने का प्रयत्न किया है और इस प्रयत्न में एक प्रतीकिय रहस्यमय धार्मिकवाद की सृष्टि की है। बुधा मुलाका को सात्विकता और परम सत्य का प्रतीक बनाकर यहाँ बली-बर्ष की वराक्याटा जलमें विविध की गई है। यहाँ बलिष्ठ-समिष्ट सामाजिक स्थिति से पूर्ण (समाज-बहिर्मुख) प्राणियों के लिए उनके मन की विन्दा को उभार कर उन्हें

सामाजिक नेतृत्व देने का भी प्रयत्न किया गया है। इस नेतृत्व की शोषणता उनमें कहीं तक भी मह नहीं कहा जा सकता। परन्तु पाँचालो का पवित्रता यात्री का तब धीरे धीरे धीरे का कुत्ते के प्रति त्याग मृत्युस में चरम सीमा को पहुँच गये हैं। इसे हम जलज्वर की घट्टिया की मानवीय व्याख्या कह सकते हैं। उस एक दृष्टि से प्रतिमानवीय भी कहेंगे। उनका संयोजित पक्ष को प्रतीति प्रमोद के प्रति उनका सम्पूर्ण यौन भावना को लेकर चलता है पीछे छूट गया है। मृत्यु-प्रमोद की मोन-स्वनि राधा-कण्य की स्थिति संदिल नहीं है धीरे धीरे प्रियता उसमें काट्टी है। पर धनोन्निप्रता में भी बना नहीं भीतर होने में इन्द्रिय-आश सिमटा नहीं बैठता है। राधा-कण्य के यमोपासों को माहित्य उभिक धमी तक नहीं समझ सके हैं। मृत्यु-प्रमोद को भी क्या समझ सकेंगे ? दोनों को विभिन्न युगों की शून्य-मृत्तियाँ हैं जो धरने तब त्याग धीरे भीतर की पीड़ा से हमें प्रभावित करती रहेंगी। 'त्यागव्रत' पढ़ने के बाद क्या मृत्यु-क प्रति हमारी महानुभूति नहीं जागती ? परन्तु वह महानुभूति निरिच्छ है। उसमें कण्य का स्मरण नहीं है। पसत-पाठक शून्य भी कम नहीं होता। बुद्धा के पलीक धीरे मृत्यु-प्रमोद के धारणितिक मूल्य भाव ने प्रमोद को व्यर्थ किया का धीरे पकड़ में न जाने वाली यह मृत्युता पाठक का नी सुम्भ कर देती है।

प्रस्त यह होता है कि क्या प्रमोद ने धरने को छोड़ा धीरे क्यों छोड़ा ? धरने प्रति वह सच्चा क्यों नहीं बन सका ? इसमें बोधी कौन है ? प्रमोद ? बुद्धा ? या सत्य ? उपन्यास में जो जीवन उस हमें मिलना चाहिए, वह अब नहीं मिलता तो हम बिसे क्याकरें कहनाएँ ? सब तो यह है कि पहले बुद्धा ने धरने को छोड़ा है फिर प्रमोद ने परन्तु बुद्धा के व्यक्तिगत के प्रति मेवक की महानुभूति होने के कारण वह ठीकसही बना ही गई थी यद्यपि उनकी ठीकसही इस करती की ठीकसही नहीं है। साक्षात् का बार उग्याम में मृत्यु का ही होता वह था है। परन्तु क्या मृत्यु के करिब को धरानवीय या प्रतिमानवीय बनाकर लेकर धरने को नहीं छोड़ता ? प्रतिमानवीयता पुराण-कथाओं का विषय है धारणकारी साहित्य में ही वह कुछ बुरतक बन पाई है, परन्तु धार की यथासंभवायी महास्थिति से उसका देन नहीं बैठता। सब तो यह है कि 'त्यागव्रत' में परिधिस्थितियों (पट्टाओं धीरे उसके प्रति प्रतिबिम्बों) के मूक क्षेत्र की साधनता के हाथ में है। उन्होंने जीवन की प्रकृत शून्यमयता, निरतिबाधिता धीरे मानव प्रवृत्तों की निरुत्पत्ता का चरम मय मानकर एक निराशावादी निरिच्छ जीवन-दर्शन का निर्माण किया है धीरे पाठों को उसके निमग्न हाथों में छीन दिया है। यह प्रयत्न धीरे-धीरे-मिच्छता को नष्ट कर देता है धीरे पाठक में खोव हीन अमहात्म्य की मृष्टि करता है। सामाजिक प्रतिक्रियाता धरवा जालि के सन्देह के माय (जो सम्पूर्ण बार से अन्तिम पुष्पों में अन्तिम है) इस धरवन्वतावादी निरुत्पत्तावादी (या धरवन्वतावादी) जीवन दर्शन की पट्टी नहीं बैठती। इसी से धरवाओं धीरे उनकी प्रतिबिम्बों एवं चरिषों की

कल्याणी

कल्याणी जैनदेव का परम्परागत रूप का उपन्यास है। इस उपन्यास में उन्होंने वस्तु को पुराने ढंग पर संमिथित किया है और उसमें पर्याप्त बाणकीयता रखी है। यद्यपि साहित्यिकता के इस साक्ष्य के कारण इसमें व्यक्तता और रहस्योन्मुखता भी पाई गई है। फिर भी कथा सुन्दर रूप से सज्जित है और उसे बा ही कहने लगी बिना कथा है। जो कथा है, अन्ततः से लक्ष्य को दृष्टि में रख कर। अगम उपन्यासों में वस्तु संयोजन का यह साक्ष्य नहीं है, कहीं कहीं तो कथा नाम नाम को ही जैसे 'सुनीता' में। जो होता है वह मात्र अन्त में होता है। यहाँ भी मात्र अन्त ही प्रधान है परन्तु कर्तृत्व भी है — कि कल्याणी पीठी जानी है। समस्त सब साक्ष्य और डा० मधुरानी कुछ कराना चाहते हैं जिससे स्पष्ट ही अर्थ की उपलब्धि हो। कथा १९३३-३६ की कायेस विनिरुद्धी की पुच्छभूमि संकर समती है और प्राण के प्रीतिवर (जो कभी प्राण के प्रसिद्ध नेता के) कल्याणी क इवमेव क नायेज दिवसों के विषय है। इस प्रकार कथा में कल्याणक तत्त्व काही है। वस्तु तब बरस्वर स्थित है और स्वयं कल्याणी का भाव-संवाद अर्थ ही है। उगके हृदय का सम्यक् स्पष्ट रूप से सुनाई नहीं पड़ता। वाक्य की प्रयत्न करना पड़ता है।

वस्तु को सादृश्यता देने के लिए कथा की रेखाएं घामे-पीठे कर दी गई हैं। उगके कालक्रम से सज्जित किया जा सके तो कथा इस प्रकार है। कल्याणी महत्वाकांक्षी बुजुर्गी है। इनके में डास्टी पढ़ने आई है। वहीं अथ प्रीतिवर बनने वाले मह्यप्राण (सब तत्त्व) से उगकी भेंट हो जाती है और वह अपने हृदय का अत्यन्त भाव उसे समर्पित कर देती है। वह उससे परिष्कार के सूत्र में लगी बंध जाती और बाणक जीटने पर डा० मधुरानी की पूर्णता का स्फुरण ही जाती है। डा० मधुरानी का वस्तु तब स्पष्ट रूप से सामनामक का कर्तृत्व है जो परम्परागत उपन्यासों की विद्विष्ट वस्तु है। स्वयं जैनदेव के अगम उपन्यासों में सामनामक की स्थिति नहीं है। डा० मधुरानी कल्याणी से विवाह कराना चाहते हैं परन्तु कल्याणी जैसी उच्च परिवार की उम्मीदाल और जिलाप्राप्त बुजुर्गी को (जिसका मन नहीं और बंधा है) पाना उनके लिए आशय-सुमुख है।

कलत्र वह प्रसन्न रखते हैं और उसे बदनाम कर देते हैं। प्रान्त में लोक-मर्यादा से विचल होकर कल्याणी की प्रान्त को हम कूर्त व्यक्ति को सौंप देना होता है। यह कल्याणी की दुर्बलता है कि वह कई स्थिति का सामना नहीं कर सकी या समाज की विभीषिका है, या नियति का क्रूर बक यह नहीं कहा जा सकता परन्तु कल्याणी सब मित्रों डाक्टर प्रसराणी है। परन्तु उसका संघर्ष यहीं समाप्त नहीं होता। समाज यहाँ हो जाता तो प्रान्त बहानी ही नहीं बननी।

कल्याणी बीरे-बीरे डा० प्रसराणी की कूर्त प्रवृत्तियों से परिचित हो जाते हैं। यह रामसाहब क साय कुचक में है। रामसाहब धनीर है परन्तु बदनाम है। परन्तु उनसे सम्बन्ध रखकर डाक्टरों में प्रसिद्धि हो सकती है। प्रान्त डा० प्रसराणी उनका सहारा लते हैं। एक प्रसंगाम खोना जाता है। डाक्टर की बलती नहीं इसलिए डाकरी मिस्र द्वारा बसाई जाती है।

कल्याणी क हृदय में बिरोह का जन्म होता है परन्तु वह सुनकर बिरोह नहीं कर पाती। डा० प्रसराणी के ऊपर से बने-सँबरे प्रसिद्धात्पूरु व्यक्तित्व और समाज की छत्रमामयी स्थिति के कारण पूरा प्रसन्न है। परन्तु कल्याणी अपना स्वयं जीवन जीना चाहती है। मीठर के दर्द को दबा कर रचना सब प्रसन्न हो जाता है तो वह कविता के द्वारा अपने हृदय की व्यापकता लगी है। कुछ प्रसिद्धि भी होती है परन्तु जब डा० प्रसराणी इसी को "प्रोटीगे-ज" का घुस बनाकर पत्नीप्रिय बनने का हॉय रखते हैं तो उसका सहा नहीं जाता। वह कविता की जाती फाड़ देती है और फिर कविता ही नहीं लिखती। डा० मन्नागर के बच्चों में वह अपने जीवन की स्वयंभवा प्राप्त करना चाहती है — कि हँस-बाये खेन-बूरे अपना जीवन जिये। परन्तु इससे डा० प्रसराणी में हियाँ जाग्रत होती है और वह कल्याणी के चरित्र पर धना करने लगते हैं। एक दिन वह कल्याणी से बदरवन्ती भाषण दिसाना चाहते थे परन्तु कल्याणी मटनापरक यहाँ जाकर जान-बूझकर दर-दर देनी है और बीच सहकार जूतोंसे निट सेती है। डाक्टर उम इनका मारना है कि उस दर्द सन्ताह तक मीठर पडे रहना पड़ता है परन्तु उपस्थास के प्रवस्था बनीन साहब से वह कहता है कि पत्नी मैरु गई है और रहस्य लुप्त जाने पर भी अकुण्ठित भाव से अपने को न्याय के पथ पर मानकर चलता है। अन्त में डाकरी का नाम कल्याणी को सौंप कर वह करारी जाता जाता है और कल्याणी को सौंप देने का अवकाश मिलना है। बीच में कल्याणी ने धर्म के निवाहना चाहा वह धार्मिक नरत बन गई परन्तु जब पति यहाँ भी उसके व्याख्याता बन जाते हैं तो उसकी माया भीखार कर उठती है। यहाँ पहुँची बात नारी का बिरोह दुर्गरित होता है। वैनेन्द्र क मार्गों में वह पति की योग मागी भीखार पूछ उठती है "तुम साऊ-साऊ कह क्यों नहीं देते हो कि तुम क्या चाहते हो? मुझे जित-जित कर बैचना चाहते हो — सो वह हो तो रहा है। धार्मिकी सौंप तक मेरा बिक जायगा तब भी मैं ईशान नहीं

कहेंगी। लेकिन इसके बाव तुम मुझे अपनी तरह रहने क्यों नहीं देते हो? प्रश्न तो मैं अभी अपनी सब मूर्तियाँ तोड़ देती हूँ। कम! इसके तो मुझे बँस पड़ेगा?"

प्रश्न यह है कि वह सब कन्वाली यह कैसे गई? कन्वाली कहती है प्रायः साधना शायद डाक्टर के काले दृष्टियों को छेद करके बिलाना चाहती है परन्तु मन का बिरोध छिपा नहीं रहता। ऐसा कई बार चलता है। सब सहकर कन्वाली सहने का एक दर्शन भी बना लेती है या 'त्यागपत्र' की मृगाल के दर्शन का पूरक है उसी कोटि का है। मुखाब्ध अपने को छपती है परन्तु वह सुविधित नहीं है सामान्य है। बन्वाली विद्यापत्नी है पतु वह भास्वयोग को निभा भी जाती है। जो स्त्री-स्वतंत्र्य (—कि स्त्री अपना जीवन जीने के लिए स्वतंत्र हो) उसके भीतर उमड़ रहा है उसी की लहर वह अपने को लेकर लेती है। वह समाधान का पत्ता पकड़ती है परन्तु वह ज्ञान का प्रचल है। भीतर के दर्श ने भाव का पत्ता पकड़ा है जिस पर उसका मन नहीं है। हृदय को बचा कर जसने के प्रयत्न में वह टूट जाती है। अपने इस हीन व्यक्तित्व को वह समझ नहीं पाती। वह अपने भीतर भारतीय नारी के सतीत्व के समाधान प्रार्थना को प्रकटित देखना चाहती है व निम्न पर कष्ट पाती है परन्तु पति की छत्रा का भार होने में भी वह धन्य है। नारी के समाधान और महीन रूप का इन्द्र उस भीतर-ही भीतर तोड़ देता है। उसे न स्वतंत्र्य जीवन की उपसम्पि होती है न पतिपरामर्शता की।

डाक्टर बने बने हैं। कठपौती में कुछ रोबदार करते। वहाँ लम्होने एक कागज ही रखा है जिसका पता कन्वाली को मन जाता है परन्तु वह पति नाम के प्राणी की धर्मद्वेषता को भी धाँस की घोट करके जसना चाहती है। इधर कन्वाली का भाव-बोध पति के दुर्महहार का बदला लेने के लिए एक प्रतीक की खोज कर लेता है। वह प्रतीक यतीर्षानिक कृपा की उपलब्धि है, परन्तु उससे कन्वाली के व्यक्तित्व के दुर्बल पक्ष की भी झंकी मिलती है। वह अपने मन में किसी महाराष्ट्रीय मुक्ती के प्रेक्ष का बाध पाती है। पति ने मत्ता पोत्रकर उसकी हत्या कर डाली है और वह ब्रह्मिकार चाहती है। जिस व्यक्ति ने हत्या की है उसे भी मानस प्रतिष्ठाया के रूप में कन्वाली बिल जाती है। परन्तु एक प्रार्थना की बात यह है कि वह अपने वास्तविक जीवन में ही इस व्यक्ति को हूँड लेती है और इस स्त्री की हत्या का बदला लेने के बहाने उसके प्रति प्रार्थित होती है। यह मि० देवसासीकर है विनेमा-प्रोग्राइटर, मण्डूर। पता लगता है यह इस मन्त्रा में रहे भी है। कन्वाली देवसासीकर से स्त्री हत्या का बदला लेने के लिए बट जाती है और उसके लिए अपने व्यक्तित्व यानी सतीत्व को भी बेचने को तैयार है। वह कन्वाली का उम्मार नहीं है। एक तो वह अपनी स्वतन्त्रता दिखाना चाहती है। कहती है 'मैं अपने सर्वनाथ से बरती नहीं हूँ। मुझपर स्वामी नहीं है। मैं प्रायः अपनी स्वामिनी हूँ। मैं चाहूँ तो कीन गैर गरक रोक सकता है। बूझते, सब घोर से लड़का सहारा टूट गया है और टूट्टे हुए व्यक्तित्व के सर्वनाथी और स्वनाथी दर्शन की लेकर वह चलती है।

उसकी यह स्वीकारोक्ति लीजिए, 'धर्म भी क्रिया है पर करके देख लिया है। उससे क्या हुआ ? तबियत होती है कि सब फड़ बूँ, सब फेंक बूँ। मैंने ईश्वर में विश्वास किया है। मैं उसकी राह बसी इस बड़ी तक बसी। बसते बसते मेरे सामने पड़ते हैं, यह देखसातीकर। बचकर मैं कहाँ जाऊँ ? उनके सामने धीर राह मुझे बन्द है। ईश्वर की राह पर भलीबखता भिमती है तब मैं क्या करूँ ? इससे प्रब मैं कहती हूँ कि प्रच्छा यही है। मैं भी प्रब धीर कुछ नहीं चाहती। मैं गिरानी नहीं हूँ। मेरा मन बामठा है, मैं साधार हूँ। तो मशा ही करूँगी। मैं सब भूख जाना चाहती हूँ। मैं लफ़्फ़ करना चाहती हूँ। प्रपम से सब से। ईश्वर प्रेम है धीर प्रेम प्रबचना है। इससे ईश्वर प्रबचना है।'

एक बीच में यह बिलाने के लिए कि डा० कल्याणी जग्यादप्रस्त नहीं है पास नाम के इन्सैड के बिद्यार्थी-बीबन के परिचित अन्तिकारी को संरक्षण एवं सहायता देने और पुनित की चुनीठी स्वीकार करने की कल्याणी की तत्परता दिखसाकर बनेन्द्र उनके बीबन में एक प्रार्थन-पत्र भी लाना चाहते हैं और इससे उन्हें कल्याणी की प्रगति छीमता उसके साहस उसकी देशकल्याण भावना और उच्च चरित्राभयता को प्ररक्षित करने का मौका मिस जाता है। यहाँ तक हम कल्याणी के बीबन-संबर्ष का पूरव देखते हैं।

परन्तु पुछना प्रेमी प्रीमियर बन कर बिस्मी बा रहा है और रामसाहब से मिस कर डा प्ररक्षनी बिस्मी में एक 'तपोवन' बनबा रह है जिसका उद्घाटन प्रीमियर करेंगे। गई कोठे बिस्मी में ली गई है और प्रीमियर बड़ी ठहरेंगे। इससे केड-बो साख प्ररयरे के कन्ट्रेक्टों की ब्यवस्था हो सकेगी। कल्याणी की आत्मा मने ही भिक्कारे, उसे ही इस प्रर्ष के केन्द्र में रखा गया है। उसे प्रेम की बसि ही नहीं हैनी पड़ी है उस प्रेम का ब्यवसाय भी कफना होया। पठि नाम का यह पूणित प्राप्ती उसके प्राणों का प्रेम का मतीत्व का मारी-बर्म का इस प्रकार सीसा करना चाहता है। कल्याणी के लिये यह अकल्पित है। पहले तो भावना में भर कर बह उसे त्याग तपस्मा धीर बलपना की भूमि देना चाहती है परन्तु उसे कितना गीबा उतरना होगा यह बह जानती है। पेट में धर्म है। परन्तु बिमका बह धर्म है बह पठि होने पर भी क्या भूणित नहीं है ? क्या मारी को इनीमिए यह भार डोगा डोगा कि बिबाह ब्यवस्था है और उसे एक बार स्वीकार कर लमे पर मुक्ति नहीं है ? कल्याणी भीतर डूब जाती है। उसका मन मर जाता है। उसके प्रेम की हत्या इसमें है। फिर बह पेट क शिमु को क्यों बपाये ? प्रीमियर को छनें ले क्यों ? क्या यह अपने प्रेम की मूर्ति पर धाधात करना नहीं होबा ?

प्रीमियर वाली भेंट के प्ररष को बनेन्द्र ने मुन्बरता से निमाया है। यहाँ प्रेम की ब्याख्या भी की है और लमी प्रीमियर के रूप में प्रेम के नि-बाँध परिपक्व सीम्व परन्तु उच्चैर्मुक्त (सप्लिमेटेड) नहीं समित रूप का बिजल भी उनमें किया है। एक नबा चरित्र

सामने धाटा है परन्तु यह चरित्र भी जीनेन्द्र के प्रेम-वर्धन का विकास ही है। प्रीमियर को दिल्ली में तीन दिन रहना है, परन्तु वह उठी सोझ को चले जाते हैं और बिक्रार से भर कर भीतर भीतर भीतर लालाप्रसन्न परन्तु मीन कस्याली टूट जाती है। अन्तिम तीन अध्यायों में यह कस्याली का टूटना ही चित्रित है। यह टूटना वैसा ही है जसा किसी सयप्रसन्न रोबी का पीरे-बीरे बुम-बुमकर मर जाना। बासक को कस्याली प्यम तो दे बेठी है परन्तु न वह स्वयं बच पाती है, न नवजातक।

डा. प्रसरानी और राज साहब अन्त तक कुचर्चों में लगे हैं। वे सफल हुए हैं व कदाचित् प्रीमियर ने पुगने प्रेम को ध्यान में रखकर या योंही स्वानि में भरकर कूटने भर के लिए उन्हें ठेका दिलाया विवाह है और ये दोनों उनके लिए प्रैजग्दस चुनने की तैयारी में हैं। परन्तु कस्याली की घाँसों में स्वयं अपना मूख्य बिर बना है। वह बचती मही। अपने बिक्रारपूर्ण जीवन को वह बचाना भी नहीं चाहती।

परन्तु दुनिया तो बुनियादारी की ही है और सारी कथा को भूमिका में जो पहले अध्याय के दो पृष्ठों में ही सिमट गई है जीनेन्द्र वह बतला देना चाहते हैं कि डा. प्रसरानी का कुचक ठापी है, उन्हें सब कस्याली के बच्चों को पामना है वह विवाह करने का रहे है, पर सबाया बा रहा है क्योंकि नई स्वामिनी पायेयी। यह तो दुनिया है।

इस ही कथा को जीनेन्द्र ने बड़े विस्तार से और बड़ी सूक्ष्मता से कहा है। इसमें सन्देह नहीं कि 'कस्याली' जीनेन्द्र का सबसे चरित्रसामी उपन्यास है जिसकी पुनरावृत्ति उनकी नई रचनाओं में नहीं हो सकी है। परन्तु कस्याली का चरित्र सूक्ष्म चारित्रिक मूमि पर ही समझ में आता है। इसमें सुसापन नहीं है। फलतः वह साधारण पाठक की पकड़ में नहीं आये और वह उसके सम्बन्ध में अस्पष्टता का शोषारोपण करे तो कदाचित् यह प्रसरम नहीं होना। वैवसायीकर और पाल की कथाएँ धारासंनिक कथाएँ हैं जो छोड़ी जा सकती थीं। वैवसायीकर में मनोविज्ञान की सुझीबन है कि मन की प्रति आया ही बाहर का निर्माण करती है। प्रति के प्रति हिंस-मान ने कस्याली के मन में वैवसायीकर की मूर्ति तैयार की और महाराष्ट्र की स्त्री के रूप में उसने अपनी हत्या की ही कल्पना की। परन्तु वह मनस्तत्वीय वर्धन आकर्षक होते हुए भी 'केव हिस्ट्री' वैसा है। वह प्रेमचन्द के 'कामाकस्य' के समान ही एक पतकर्म प्रजाप्य भाव-सौक का निर्माण करता है। यह अवसर है कि जीनेन्द्र का यह भाव-सौक मनोविज्ञाननिष्ठ है चर्मनिष्ठ नहीं परन्तु उसकी सिद्धि धौरग्यासिकता की वृद्धि किस प्रकार करती है यह नहीं कहा जा सकता। पाल की कहानी कस्याली के चरित्र के ईव रूप को सामने रख कर उभारी गई है। कस्याली के चरित्रत्व का ऊपरी तल है कि वह अपने स्ववसाय में सावधान है कर्तव्य में उत्तर। कर्मस्तमन कहीं नहीं है।" (पृ. ६)। परन्तु धामे बढ़ कर जीनेन्द्र इस नारी में राष्ट्रीय जावककता और अचरितीय राजनीतिक साहस का भी आरोपण कर देते हैं जिसमें कस्याली का चरित्र विचक्षण और चतकारक बन जाये।

पान्थ-निवास की एक दृष्टि यही थी है जो जैनेन्द्र की विरोधता है और जहाँ वह रुती
 एक के मूल्य और सनातन रूप की प्रतिष्ठा जममें करके उसे धमाधमा देते हैं वहाँ
 राष्ट्रीयता का एक पक्ष और जोड़ देने हैं। इन दोनों प्रसंगों के हलके पर कल्याणी की
 प्रकृष्टता कम हो जाती है और वह बहुत कुछ सामान्य मनोबैज्ञानिक सूत्रों पर आधारित
 होगी। परन्तु एक वह सामान्य गारी होगी और जैनेन्द्रकी गारी भावना की प्रतिधमता
 उनकी गारी को सामान्य बनने से रोकती है। गारी के सम्बन्ध में उनकी धनि
 भावकृष्णा और प्रतिपादार्थवादिना ही उनकी कथा का प्रमुख सबल है। यह नहीं तो
 कथा जैनेन्द्रीय नहीं है। इसीलिए यह धनपेक्षित वित्तार भी उनकी मूल्य प्रमृता
 सेखनी को स्वीकार हुआ है।

२

कल्याणी की इस कथा को हम कैसे लें? स्वयं जैनेन्द्र कथा के बीच में उसका पढ़ने
 का अपना दृष्टिकोण एक देने हैं वैसे उन्हें विरचाम नहीं है कि पाठक कथा का उनका
 संतुष्ट क अनुसार ग्रहण कर सकेगा। कहते हैं "समझ-समझ की बातें हैं। हरेक की
 समझ अपनी है। अपने से बढ़कर किसी क लिए दूसरे की समझ ज्ञाना कठिन है।
 प्रबन्ध एक के लिए दूसरे की समझ झूठ है। इस तरह सारी ही समझें झूठ हैं। यथार्थ
 यथार्थ है और तत्सम्बन्धी हमारी समझें (ज्ञान-विज्ञान) हमारे ही पर्यवे हैं। सब सब
 क लिए पार है। इसीलिए कल्याणी की कहानी कहते समय धातोचना विवेचना की
 व्यर्थता से मैं बचूँ। सब विभागी समझाव है। मैं तो घटना ही कहता हूँ। घटना में
 स्वयं सत्य की बाणी का प्रस्ताव है। उसके धातोदन में भला क्या रखा है? जिस पर
 कल्याणी का यह जीवन चरित्र नहीं है। उनके व्यक्तित्व की चारों धोर से लेकर विरल
 पथ द्वारा पुनर्निर्माण करने की मेरी इच्छा नहीं है। यह तो सब कहानी है जिसमें
 संवेदन हुआ तो मैंने भर पाया। सहामुमुक्ति न धामे मुझे क्या चाहिए? पात्र यदि चाहिए
 ता उमी को टिकाने के लिए। चरित्र लिखने की मेरी ताब नहीं। जो मर्त्य है और सब
 स्वाम्य है उसकी मूर्ति मड़ने का मैं कष्ट जगड़े तो क्यों? बस कुछ पार की बातें
 कहता हूँ कि नहीं हमारा बिल घुबाम और जममें रख का साथ खुल जाय।" इस
 धवतरण से उनकी कुछ साम्यतार्थ बलपूर्वक सामने धाती है

१—कि उन्होंने चरित्र नहीं लिखा है।

२—मेकिन उन्होंने घटना ही कही है और घटना में स्वयं सत्य की बाणी का प्रस्ताव है।

३—कि वह न उनका धातोदन चाहते हैं न उनकी धातोचना-विवेचना, क्योंकि ज्ञान
 मनुष्य का बनाना परीणा है जिसका सार ही नहीं है।

४—कि यथार्थ यथार्थ है। यथार्थ उन्होंने घटनाओं में दे दिया है। इस प्रकार
 वह उद्वेग का परम्परागत दृष्टि से देखने में हमारे सहायक नहीं बनता चाहते।
 धातुनिक पश्चिमी उद्वेगकारों में से कइयों का वही दृष्टिकोण है। उद्वेग -पदार्थ

के लिए नये नाम पड़े बने हैं और उनसे भी उपन्यासकार सन्तुष्ट नहीं बिसाई दते । स्पष्ट ही प्रत्येक उपन्यासकार की उपन्यास की अपनी परिभाषा बनती जा रही है और समीक्षा के हाथ बँधते जा रहे हैं । जहाँ उपन्यास भीतर-बाहर को एक मान कर अपना है बाहर को भी भीतर की प्रतिच्छाया मान लेता है जैसे कस्माणी बेबलानीकर में पति के प्रति अपने बिरोह-भाव को झूठ लेती है वहाँ व्यक्ति और उसके सम्बन्धित घटनाओं को असंश्लेषित बन आना पड़ता है । परन्तु इतना मानने पर भी लेखक व्यक्ति और परिस्थिति के प्रत्यक्ष सम्बन्ध को जानता है और व्यक्ति के सामाजिक चरित्र के कारण तात्कालिक समाज-स्थिति में खड़ा है ।

वैनेन्द्र ने कस्माणी के चरित्र या व्यक्तित्व की एक विशेषता (मृत्यु के प्रति उसके आकर्षण) का जस्तीक किया है (पृ. ६-६१) परन्तु इस निष्कर्ष पर कि मृत्यु का भय मानव-आत्मा के विकास का बिन्दु है वह कैसे पहुँच सके यह नहीं कहा जा सकता । यह प्रश्न है कि कस्माणी पुनर्जन्म का प्रश्न उठाती है ('मर कर धारमी की क्या पति होती है, क्या इस बारे में किसी को कुछ पता नहीं है?) और यह प्रश्न तात्कालिक और वैज्ञानिक रूप में नहीं आता एकदम निजी और तात्कालिक होकर आता है । और भी उसके प्रश्न हैं 'तो मर कर धारमी का प्रेत यहीं भटकता रहता है ? आत्मा बुराया जन्म लेती है, या न्याय के दिन की प्रतीक्षा में मरने के बाद मानव-आत्मा सोई रहती है । मैं जानना चाहती हूँ । मरने के बाद मरना क्या होता ? दुनिया को धरती तो एकदम से छोड़ना नहीं चाहती । धरती मेरी जन्म-भूमि है ।' ये प्रश्न यदि कस्माणी के भीतर के बोझ को इतिहास करते हैं तो इनमें प्रथम सार्थकता है नहीं तो इन्हें वैनेन्द्र की बाधे निकल चुकने, शीर्षवृषी अभिमान भाव समझ आया है । वह नहीं कि बुद्धिजीवी मनुष्य भावजीवी नहीं होना और वे मूलतः प्रश्न उसके मन में उठते ही नहीं । परन्तु इन प्रश्नों की अतिव्यापिक सार्थकता नहीं है ? वे व्यक्ति को मुलमूले कम है समझते प्रतिक्रिया है । स्वयं प्यार है मृत्यु भय पर विघ्नता से लिखा है और वैनेन्द्र की विज्ञाना को वही समाधान मिलना सम्भव है । परन्तु अनिश्चित मनोवैज्ञानिक समाधानों और सकारणों को लेकर उपन्यास नहीं बड़े जाते । इससे क्या क्या रस की हानि नहीं हुई है, क्या चरित्र प्रकृत नहीं बना है ? क्या घटना-भाव के आधार से उपन्यासकार की यह विम्वेशी बच जाती है जो प्रत्येक लेखक और कलाकार की विम्वेशी है कि वह जो बड़े साठ कहे को टूट बड़े ? बचावित् वैनेन्द्र अपने पाठकों के इस लोभ को समझते हैं और वह क्या के प्रकृत बकील माहव की इस बीज से स्पष्ट है 'कस्माणी में यही प्रकृत है । बार में तीन हिस्से बाट घनकही रस कर सिर्फ एक हिस्सा बहती । उस पर समझती कि समझने को काफ़ी हो गया । याता कि मरे लिए घनकही तीन हिस्सा बाट तो तय ही हो । बाकी एक हिस्सा कहने का जो कष्ट दिया जा रहा हो वह भी यों ही जाने बने ? धरती ही पठना भी घनावरण ही हो । मैं जानता हूँ कि एक सम्बन्ध

ऐसा हुआ करता है जहाँ बात भीतर से नहीं भीतर से ही एक से दूसरे को अधिक प्रतिच्छेदा से प्राप्त होती है। अम्ब वही बीजा है। उससे बीज का अन्तर भरने की अपह धीर बढ़ ही जाता है। परन्तु उन्हें मेरे प्रति क्य वह सम्बन्ध समझने की इच्छात भी ? तब बात बोल कर क्यों नहीं कही जाती है ? मन्तर्पामी है ? मन-पर्यम-जानी है ? में कौन है ? यही पाठक का पक्ष है। वहाँ समझने की चेष्टा ही नहीं है, स्वयं लेखक ही समझने का दावा नहीं करता वहाँ पाठक के हाथ में समझ के सूत्र से प्रारम्भ ? वहाँ वह किताबखरी है कि 'सम्झों द्वारा स्मृति की बेदना को टालते नहीं रहना चाहिए। वों उसे शूर्वता नूस है। अम्ब प्रतिच्छेद मूठ है। मन की तकलीफ को जब वे बघावें धीर उस तकलीफ से ही जब वे जने तब तो तब है अन्वया भिन्ना है। माया बस पहराजन है धीर तब कोई भी यथार्थता को नहीं पकड़ सकता।" वहाँ देखा यह हुआ कि मकड़ी बात क्या है। भीतर की पीड़ा ही को परन्तु वह कहीं पकड़ में तो प्रामे। वास्तव में ब्रैनेज कहानी (ब्यापक अर्थों में) में भाव-संबेधन ही देना एक भाव सार्थकता मानते है धीर वह भाव-संबेधन ही अन्वयमूलक का काव्यिक (बेसिए, पृ० ८०। "तब तो यह है कि आदमी के भीतर की अन्वया ही सब है। इत्यादि।) परन्तु यह कल्याण सध्यों का आशय म लेकर सकेतों द्वारा प्रकट हो एकदम अनिश्चित नहीं बनी रहे। उसे आनन्द मन बगाना ही अन्वयमातकार का अर्थ नहीं हो सकता। यह कल्याण का अर्थ अन्वयमूलक हो सकता है। उस अन्वया को तो आनन्दक अन्वय बतना ही ठीक हीबा। सेलक वहाँ दूसरे के आत्मपीडन में आनन्द लेने लगता है वहाँ वह परपीडन के बोधसे (धीर अन्वयः आत्म पीडन के बोध से भी क्योंकि लेखक के लिए पर ही सब है) किंच प्रकार मुक्त हो सकता है। क्या बलीम साहज के इन अर्थों में ब्रैनेज की अन्वयी अन्वयता ही नहीं बोल उठी है "पर मेरी विसात फिठनी ? मे अन्वया आदमी। इसी से यह कहानी मे बँठा। कहानी का मना क्या कल्याण ? वहाँ करने को कम नहीं है। करने से कलाप कर कल्याण में मन बँधाना यालिक की बोरी करता है। पर मेरी विसात बोड़ी को है धीर यालिक का पूरा हक यथा कर सकते से मे अन्वयी हार मान बँठा है। इससे बेचार बन कर कहानी ही कहता हूँ।" जहाँ अन्वया अन्वय तर्क अन्वयि अन्वय-सभी अन्वयि बन पये है, वहाँ केवल अन्वया क्या टोली जा सकती है ?

३

तीन अन्वय है जो "कल्याणी" में प्रयुक्ता प्राप्त करते हैं कल्याणी डा० अन्वयणी धीर प्रीमियर। इनमें प्रीमियर परोक्ष में है धीर जब साते है वा समूचे धीर इतने तेजपुत्र बनकर कि हम में अन्वयी ही पदा कर देते है। अन्वयि अन्वयी परोक्ष में रखकर ही कल्याणी के भीतर अन्वया लेंबोई जा सकती भी। इसी से उन्हें पाठ-प्रतिपाठ से ऊपर रखा गया है। उनमें अन्वया का अन्वयिमुक्त रूप हमें मिलता है। उनके अन्वय की अन्वया अन्वय-रूप में स्वयं लेखक ने कर दी है, "बीज पकता है तो मिट्टी धीर पानी के

संयोग से उसमें किस्सा भी फूटता है। किस्सा फिर बाहर की ओर संकुचित होता और पत्तियाँ बेचर हूँटा उठना है। ऐसे बह बड़ा होकर फूल और फल देना और अपने भासपास हरियाली उभा जाता है। इस भावमी की स्निग्धता में बीज पड़ा तो क्या हुआ ? क्या वह किस्सा बन सका ? संकुचित होकर लौहदार हरियाला बूझ वह हो सका ? साबर नहीं। पर सायर यह प्रकटा हुआ। महामाल हिमासय तो बूझ नहीं है। बूझ को बड़ चाहिए। परन्तु भासाय की बड़ नहीं है ? चायु बहनी है पूष ठैमनी है। ये सबको मिलती है। पर ये बड़ से बँबी है। इमी तरह निकाल भासप का सम्पाटा और सोम्य प्रेम की परिपक्वता उस पुरुष के बेहरे पर बीकती है पर उसका लक्ष्य कोई बिन्दु नहीं है वह असक्ष्य रूप से सब के लिए है। यह चरित्र बिस्वसनीय हो सकता है मनोबिज्ञान ऐसा कहता है। परन्तु इस चरित्र को सेलक के हृदय की सहायुभूति नहीं मिली है। फलस्वरूप यह रेखाचित्र मात्र रह गया है।

व्यथा का उपपत्तित रूप कस्याणी में है जिसके प्रति सेलक को अपार सहायुभूति है। सारी पुस्तक में ही कस्याणी का दमित प्रेम विस्फोटित है कहीं प्रकाश में नहीं प्रकल्पन में। असफल प्रेम की पीड़ा और दुर्बलमीय पति स्वतन्त्र जीवन जीने की इच्छा भारतीय माटी की पति के धारल के प्रति बौद्धिक निष्ठा और अपनी दमनीय स्थिति के प्रति निरंतर विद्रोह — ये तत्त्व कस्याणी के चरित्र को अदमनीय बना देते हैं। वह सख्त ही हमारी सहायुभूति या जाती है।

डा अघराणी का चरित्र जननायक का चरित्र है। उसमें पति का वह बिह्वल बूझित अग्रहण है जो पारिषकता का प्रतीक बन गया है। अर्थ ही जिसे सब कुछ है माटी का प्रेम उसकी पड़निष्ठा उसकी सख्तगीलता उसकी सब जिसके लिए त्रय-बिह्वल की बस्तु है। सचमुच डा० अघराणी का चरित्र अग्रहण होते हुए भी अकार्य से सिंचित है। उसमें व्यवहार की दुनिया की झंझरी है। वह कर्मलोक का चरित्र है। कस्याणी भावलोक की प्राणी है। इन्द्र अनिर्वाय है। इस इन्द्र में भाव को पराजय और कर्म की अग्र जोषित है क्योंकि यही अग्रिह्वार्य का — क्योंकि संसार कर्मभूमि है।

परन्तु इन तीन चरित्रों के साम-साय बीज में प्रकटा बकील साहब और जननी पत्नी है। पत्नी कम है परन्तु कस्याणी के चरित्र को उससे उच्च अंग से देखा है जिस अंग से कदाचित् उपस्थासकार कस्याणी को धारल बनाकर रिखाना चाहता है। माटकों में मट-मटी अथवा सूत्रधार और उसकी पत्नी की सोचना रहती है। जहाँ क्या दुर्बल है या चरित्र अकूझ है वहाँ यह धारलकता बड़ भी सकती है। कस्याणी को अकूझ का दुर्बल जानते हुए वैनेत्र ने यह व्यवस्था कर रखी है कि उसके चरित्र की "अनिग कमण्टरी" हमें मिलती रहे परन्तु इस व्यवस्था ने कस्याणी के चरित्र को कदाचित् रहस्यबन्धित ही किया है क्वाकि बकील साहब का अपना चरित्र (या दृष्टिकोण) बीज में जाता है। उसी के पार हम कस्याणी के चरित्र को देख सकते हैं, अग्र्यथा नहीं।

वास्तव में कस्याणी की केन्द्र में रहकर कई दृष्टिकोणों से उसे देखने की चेष्टा की गई है और किसी भी एक दृष्टिकोण पर अनेन्द्र का प्राग्रह नहीं है। क्योंकि समका बिदबास है कि मनुष्य अरिब किसी का भी नहीं जानता जानना प्रापेक्षिक होता है फलतः प्रयास ही जाना जा सकता है और यह सम्भव है कि चारों दिशाओं से उपलब्ध ज्ञान परस्पर पूरक न होकर एक-दूसरे का काट करता है क्योंकि मृष्टा की मायिक सृष्टि में सब सम्भव है। इस दृष्टि से 'स्वागपत्र की भाँति 'कस्याणी' भी तथा प्रयोग ही है। भीतर के बर्ब को बाहर निकालने का यहाँ प्राग्रह है वहाँ प्रोब ही सब कुछ है पाना तो प्रसार्बकता ही है।

सुखदा

'मुद्रा' में बौद्ध बस बर्ष बाह किर उपन्यास-कला की घोर सीटे है परन्तु वह उपन्यास-कला भावना घोर अभिर्भवना की मांगलता में उनके परबर्षी उपन्यासों 'त्याग-पत्र' और कल्याणी जैसी न होकर 'मुनीता' के समतल पर है। 'मुनीता' में स्तूयना कम है मानसिकता अधिक है। इसमें कथा को भी घापी भरकम बनाया गया है घोर अन्तिम पृष्ठों में काफ़ी तपस्वमकता है। 'मनाम स्वामी' के प्रारम्भिक अध्यायों के प्रकाशन से यह साबित हुई थी कि बौद्ध धार्मिक बीहकपन में जो आवेगें वह सुष्क बन आवेग परन्तु ऐसा नहीं है। इस उपन्यास में उन्होंने कथा का रस सुरक्षित रखा है और बिबरल भी काफ़ी सरस है।

कथा बोधी है बौद्ध की साठी कथाओं जैसी। कहानी कहने वाली सुखदा ही है ३२ बर्ष की आयु में भीतर से सम्पूर्णतः टूटी हुई यह अम-वस्तु गापी अगनी जीवन नामा मिसती है। निष्कपट भाव से वह अपनी कथा कह जाती है। यद्यपि कहानी में उसके पनि काल काव्यकारिणी के नेता हरीष (हरिषा) नाम प्रभात केवार, कोहुनी धादि घाते हैं परन्तु कथा मूलतः काल सुखदा और नाम-के निकोण को लेकर चलती है। किर भी कथा सुखदा की ही है काल और नाम तो उसके उपकरण-नाम है। उनके भीतर की घाँधी हमें नहीं मिलती। फलतः वे अस्पष्ट ही रह गये हैं। प्रभात पामी की घाँब से साठी कथा देखी जाती है और इसी से वह एकाकी बन जाती है।

कथा क मूल में स्त्रीत्व-पुरुषत्व विवाह-मैम हिंसा-अहिंसा पर और बाहर की कुछ मूल ममस्मार्पण जो कुलीता के धारम्भ होकर "सुखदा" और "बिबरल" तक चलती है। विवाह के सम्बन्ध में बौद्ध के विचार अभावित् काल के इन अध्यायों में केन्द्रित हो गये हैं। विवाह क्या चीज है, मे अन्तर सोचता है। क्या वह स्वयं को अन्त में रत बना है, स्वयं का अग्रहरण कर लेता है। समर्पण में तो सार्थकता है। लेकिन तम र्पण का तो व्यक्ति को पता ही नहीं रहता।" (सुखदा पृ ६६) बौद्ध विवाह की गापी-पुरुष के व्यक्ति के विवास का एक धार्मिक नाम है। विवाह यह इस विवास में बाधक हुआ तो उसकी सार्थकता नहीं रही। उनके उपन्यासों में यह इच्छ-स्थिति बार

बार उमारी गई है। एक घोर विवाह का बन्धन है दूसरी घोर उसके प्रति विद्रोह। विवाह के सम्बन्ध में यह परम्पराओं और मामलाओं का विरोध करते-करते गारी टूट पानी है परन्तु वह अपने व्यक्तित्व को मित्रित बनाना नहीं चाहती। यह विद्रोह ही मुक्ता के अरिभ में अविष्टाई हुआ है। उतका उवार पति (कीर्त) उसकी प्रयति में बाधक न बनकर अपनी सहिष्णु-भुति के कारण सहायक बनना चाहता है परन्तु यही पत्नी (मुक्ता) उसे समझ नहीं पाती। वह इस उदारता को पुरुष की पक्षत्वहीनता समझ कर उसमें प्रति घृणा से भर जाती है। एक घोर सामाजिकता है दूसरी घोर गारी का अपना मनोविज्ञान। कमड़ा विनोद को लेकर होता है। विनो- को मनीषात्मक भेज कर उच्च भिन्ना देनी होगी। वह बड़ा धायरी बनेया। इस "बड़ धायरीपन" की पोम जेनेत्र ने "आप क्या चाहते हैं" निबन्ध में कोनी है। परन्तु मुक्ता पति की पुंसत्वहीनता (उसके धार्मिक अटेपन) से प्रताड़ित होकर पुन में यह "आप धायरीपन" देखना चाहती है। अपनी मन स्थिति का विस्तेपण उसने इस प्रकार किया है, "मैं नहीं समझ सकती कि उस जगह में क्या चाहती थी? धायर में पीतना चाहती थी। हर किसी से बीतना चाहता थी। क्या वही हार का नाव थी वा कि बीत की चाह इतनी धायर्यक हो गई थी। वह सब कुछ मुझे नहीं मालूम। लेकिन दुर्भाग्य कतु ल के संकल्प मेरे मन में सहया चारों घोर में फूट कर लहक उठे। अपनी परिस्थिति और अपनी नियति की सब मर्मादाओं और बाधाओं को तोड़ कर ऊपर चलना होया ऊपर, ऊपर। कुछ मुझे रोक न सकेया। ऐसा मामुम होने लगा जैसे जो है सब तुच्छ है सब सून्व है मेरी सहायता के आने सब विषय हो गया है। उस समय मेरे स्वामी अहित और अहित मुझे अपकार लग धाये।" (वही पृ० ११)

इस इन्द्र को स्वयं मुक्ता के मूँह से जेनेत्र ने इस प्रकार विद्वेषित किया है "स्वामी ने प्रतिरोध नहीं किया। प्रतिरोध उन्हें करना चाहिए था। स्त्री को राह देना उसे न समझना है। बति वह उतनी नहीं चाहती बितनी स्वीकृति चाहती है। स्वीकृति में बुन्दरे का अपने पर स्वयं धायर स्थायीत्व भी चाहती है। वह न धाकर पुरुष की धार से निपट धनुयति जाती है तो हम पर स्त्री का खोम सीमा नाव जाता है।" (वही पृ० १४)

यही इन्द्र मुक्ता के मानसिक अरिभ का प्राण है। वह प्रतिरोध चाहती है बन्धन चाहती है स्वामित्व चाहती है। यह गारी का प्राकृतिक रूप है। परन्तु वह बर्न की स्वतन्त्रता भी चाहती है। प्रेम करने का स्वच्छन्द अधिकार भी चाहती है। पत्नीत्व चाह कर भी वह अपने व्यक्तित्व का सम्पूर्ण स्वातन्त्र्य चाहती है। यह सामाजिकता की पुकार है। बाहर की पुकार। घर उमक भीतर है समाज उमक बाहर है। घर और समाज किम प्रकार नाव-नाव एक ही समय में एक साथ निबई यह समस्या है। अपने मूल मनोविज्ञान में लड़ कर स्वामित्व की प्राकृत चाह को तोड़ कर गारी किस प्रकार सामाजिक मन का निर्बाह करे वा अपने व्यक्तित्व के प्रति उत्तरदायी हो जा हृदय का प्रेम

विबेदर सके कि वह स्वतन्त्र है, यह प्राचुरिक गारी की सब से बड़ी समस्या है। इस दुःख को न समझ कर गारी अपने को तोड़ मैती है। विद्रोह उनी समय तक बस सकता है जब तक पुद्गल फ़ोड़ है। जहाँ उदार है नहीं उसकी उदारता गारी के विद्रोह को बुझित कर देती है। इसी से गुग्गला काष्ठ के प्रति बृणा न कर जाती है। वह समझती है पनि की सहिष्णुता बर्माबता है भीतर संशय बना है। अनुकूल होकर वह सद्बन्ध-हस्तिनी बन जाती है। काष्ठ कहता है "तुम डरोगी (नाम से एकाग्र में मिलने से) यह मैंने सम्भव नहीं माना था। इसका मतलब है संशय मेरा अपना सबका संशय। सोचना है जाऊ घोर उम नहीं कि वह करता क्यों है? तुम्हारा मुझ से बिकाह हुआ है हर्ष तो नहीं। बिकाह में जो दिया जाता है बही घाटा है, पगामीगता किसी घोर नहीं घाटी। तुमने मुझका स्वतन्त्रता तुम्हारी धरणी है और नहीं घाने-जाने में मेरे खजान से रोऊ-टाक मानता मुझ पर धारण डालता है। मुझ से पूछा तो तुम्हें अपने में प्रतिरोध लाने की कोई भावस्मकता नहीं है। परन्तु यही उनी उचारणा में गुग्गला की हार है। वह धारधर्म में भर कर कहती है क्या कहते हो? मुझे कही जाना नहीं है और जानती हूँ कि कोई नाम उम्हें मुझ से नहीं है।" (बही पृ० २६)

कथा के पहल २२ अध्यायों में गुग्गला के (घर के) भीतर के बन्ध तोड़ कर बाहर (समाज भूमि पर) जाने का प्रयास है। मूल प्रश्न यही है बीसा "मुनीठा" में। हिंसा पहिंसा का प्रस्न कथा के मूल में नहीं बरता पृष्ठभूमि में घाटा है। धन्त में मूषपर का विद्रोह सफल होता है काष्ठ हट जाता है अपने को गुग्गला से भलग बीच नेता है पर टूट जाता है घोर गुग्गला आन्ति-बन की प्रमुप अभिभंगी बनकर भाग के "विनाय-क्या" में रहने लगती है। धन्त में जब कोहनी नरस केदार धारि उसके निकले हैं तो उसे अपनी परिस्थिति का ज्ञान होता है। गुग्गला क अध्या में "इन गारों धारमियों की इस मुलाकात से मैंने अनुभव किया कि अपनी प्राचीर को गुहम्बी की लकीर को लांच कर मैं बाहर किस क्षुभ में था गई हूँ। वहाँ जहाँ भर्माबाए निश्चित नहीं है घोर किसी प्रकार की रक्षा व्यक्तिको प्राप्त नहीं है जहाँ सबको समान व्यवसर है घोर समान संघर्ष। हर व्यक्ति स्वयं में जहाँ निब है घोर को के बीच में निहाइ नहीं है सिर्फ समानता है। मुझे इस बाहर की बुनिया का यह पहला स्वाद बिस्कुस धन्ता नहीं बना। लेकिन मानूम हुआ कि शायद मधवि तोड़ने मैंने है तो भी किसी बहाने बाहर हो रहने के बाद जब उधकी भीतर की गुरलाओं में पहुँचना सम्भव नहीं है।" (बही पृ ११६)।

गुग्गला की यह स्वतन्त्र स्थिति उले भार हो जाती है परन्तु ठाक ही एक ऐसी भी परिस्थिति आन्तिकारी समाज में था जाती है जहाँ से कथा का उतार शुरू हो जाता है। काष्ठाव के २३वें अध्याय से ही मोड़ धारम्भ होता है। नाम का नेत्र हरीष पर लुन गया है घोर वह बन्ध में लाघिन है। प्रभाव—कोहनी धारि से गुग्गला को पता चलता है कि नाम ऊपर है घोर स्वयं हरीष ने उसे मुलाया है। जनता-ऊपर को पार कर

मात के साथ सुखदा वही पहुँची परन्तु तभी सात भी प्रा उपस्थित हुए। हरिबा सात प्रप्रसन्न है। वह प्रान्दोलन को स्पष्टित करना चाहते हैं दस को ठोकना चाहते हैं। सात पर इसका नाम है उसने सुखदा को बोबर सौटिया पाँच हजार स्वया दिया किराये की भी की साथ रखा। सात जागते हैं हरिबा के हृदय में उसने प्रति स्नेह है धन वह अपनी सफाई देना नहीं चाहते। बिस स्तूल ईश की मतिकथा लेकर, जो परिधि बनाकर हरिबा चलना चाहते हैं वह सात को पसन्द नहीं। सात मारी की स्तूल बेह का ही क्रिय उपयोग नहीं चाहता उसकी मानना का भी उपयोग चाहता है महीं तो ज्ञानि मूरी ही खेगी। परन्तु दृष्टि करके भी हरिबा सात को ठोकना नहीं चाहते। वह कहते हैं "सात को चाहिए कोई जो लगाम दे। घोर लगाम देने वाला नहीं होता देने वाली होती है। इसीलिए तुम से कह रहा हूँ ठाकि वह बँबे मही तो चाहता है तो तरे।" (वही पृ ११५) उनका प्रस्ताव है कि सुखदा सात को प्यार करे। सात की उमर हो गई है परन्तु इस मामले में वह बासक है। जो बिन सुखदा को सात के साथ रहना है। हरिबा नऊनी साधु बने हैं। वह दोनों को माघीबाँद बेकर बिया करते हैं। सात सुखदा को कान्त के पास छोड़ देना चाहता है परन्तु वह बर पर नहीं है। घन्ट में दोनों फिर बिसास-कस में घाते हैं। सुखदा नारीत्व बेकर मी सात को बचाना चाहती है। वह बस के हाथ से घपने को बधा ज। परन्तु सात बिगना मही जानता। सुखदा बस जाती है। इस पर जैनेन्द्र कहते हैं, 'स्त्री का यह क्या हास है? क्या है जो उसे ऐसा धरवा कर देता है कि वह स्वयं नहीं रह जाती बस कर पानी बन जाती है? पुरुष उसे मने उसकी धार घाता है तब वह उसे इतना समझती है कि समझ को कुछ बाकी नहीं रह सकता कुछ चुनींसी मही रखती पर जब वह नहीं घाता उसमें बस्कि या तो उसे लाँच कर जाता या उससे सौट कर जाता वह कहीं किसी धनबूझ में है वहाँ जहाँ कुछ पकड़ने को मिसला ही नहीं तब स्त्री को एक साथ क्या हो जाता है? जैसे इस प्रसङ्ग प्रपमात की बराबरी करने को उसका साथ सात एक ही साथ धाकर पसड़े में मूक पड़ने को धातुर हो जाता हो। उस धनबूझ की तरफ बढ़ते हुए पुरुष का पीछा करके एक बार तो उसका मुँह घपनी घोर कर देखने की धान पर जैसे वह प्राप्त प्रण पर तुम जानी है। तब कही कुछ उसक भिए मही रह जाता। न कही बर्जन रखा है न पाप रहना है न समाज रखा है। मागो वह होती है घोर सामने चुनींसी। तब घपने में वह रह नहीं पाती घपने को मतिकमण उसे करना पड़ता है। स्त्री इस चुनींसी के जबाब पर बेबी बन जाती है जपन बन जाती है घोर स्वयं देख कर विन्मय में रह जाती है कि वह कब स्त्री मही रखी।" (वही पृष्ठ १७३ १७४)।

सात उसे छोड़ कर बस गये। स्वामी प्राए। परन्तु धारमकृष्टिटा सुखदा उनके साथ नहीं जा सकी। घन्ट में घाम के इरीब नाम प्राये। उसने सात को सब कुछ दे देना चाहा। परन्तु सात का धारमबोध आहत था। वह घटीब धारम-बस का संघष कर

सुखदा को छोड़ने पर फेंक कर कहता है "बापों बच गई तुम। धीर राखती घट्ट हास। "इस बार बच गईं" घाने मीठ मल बुलाना।"

परन्तु इस घटना के बाद सुखदा को लगा जैसे जाने क्या ऊपर से उतर गया है, छावने से हट गया है नीतर से जुल गया है। 'मातो में हककी हो घाई। जैसे मीठी बूय में लज्जती बिलती इतमाठी हल्की पून्की बरनी होऊ।' (वही पृ० १७६) धीर वैनेत्र के अनुसार यही नारी की पूर्णता है।

अपने तीन अध्याय (२० २८ २६) साक्षात् को परिचयात्ति देते हैं परन्तु सुखदा के चारित्रिक विकास की दृष्टि से वे स्वयं हैं। हरीस दम से मतमेद रज कर भी नाम को माऊ कर रठा है धीर कान्त की सहायता से स्वयं को निरञ्जार करा देता है। जैसे यह प्रामादिक हो। धीर इनाम का अपना नाम को ही मिलाता है जो सुखदा की बिकार को धीर भी अधिक बढ़ा देता है। परन्तु सात के कान्त को छुड़ाने के प्रयत्न को असफल करत हुए लेलक उसे इस औपम्यासिक रसयन्त्र से छुड़ा देता है। दल भंग हो जाता है। जोहली प्रभात की गोली से मृत्यु प्राप्त करता है धीर प्रायः सख्य भी बिकार जाते हैं। वशि घाते हैं परन्तु सुखदा उन्हें धपना नहीं पाती। वह नीतर से टूट गई है।

बसों टूट गई है क्या बचन गया है यह सुखदा के दृष्टिकोण से देखने पर ही पता लगता है। उसने पति का विश्वास नहीं जोया है स्वयं अपना विश्वास वह जो बेठी है। वह धन से पापिनी है धन से नहीं। परन्तु क्या मन ही सब कुछ नहीं है? क्या विवाहिता नारी का मन इतना स्वतन्त्र है कि पति से बाप कर अपने प्रेम का कोई केन्द्र बना सके? बना सके पर भी क्या उसका मन उसे नहीं बिकारैवा? यही वैनेत्र का सावसेवाद सामने आता है। वह नारी के लिए कर्म-बोध की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता मानते हैं। घर के बाहर भी उसकी स्थिति हो। परन्तु तब क्या घर छू नी सकेवा? "घरे-बाहरे" में बाहर के साक्षात् से घर टूट जाता है धीर नयुरानी (विमला) प्राम-विशत रूप से लोट घानी है। यह प्रयावर्तन बाहर के घातकों की पद्यय है घर की विषय। परन्तु वैनेत्र कविगुह के इस दृष्टिकोस से सहमत नहीं है। साप्याहिक 'हिन्दु-स्तान' में प्रकाशित एक लेख में उन्होंने कविगुह के समायाम से अपनी असहमति प्रकट की है। 'सुनीता' में उन्होंने क्या-क्या आदर्श रलना चाहा। घर बाहर से परास्त नहीं हुआ बाहर ही घर से पद्यमूठ ही बंध छोड़ कर मान गया। "सुखदा नारी के घर के सम्पूर्ण बन्धन तोड़ कर बाहर निकल घाई। बड़े साहस का काम उतने किया परन्तु बाहर की भीत के घट्टहास में भीतर का रदन भी किया है। वह पीली परन्तु भीतर से हार भी गई। उसने नारीत्व को बिना। पत्नीत्व बृह्णीत्व सब कुछ देकर भी वह अपना स्वतन्त्र पति नहीं पा सकी। क्यों? इसलिए कि नारी अपने संस्कारों द्वारा घर से बंधी है। उसका मनस्त्व उसे पति धीर पुत्र के बंधे है। यही नारी की प्रकृति है। अपनी प्रकृति से बंधकर वह भीत ही नहीं बनती अपने से मानने के प्रयत्न में टूट जाती है।

प्रश्न है कि क्या जैनेन्द्र ने मनीषा नारी (या प्राबुनिक नारी) के लिए पथ प्रदर्शित किया है। नहीं। वह भारतीय नारी के भावार्थ (पत्नीत्व गृहस्थीत्व मातृत्व) में ही मुख्यता मानती है। बाहर जाकर वह केवल स्त्रीत्व के बस पर कहीं बस सक्ती है? संक्षेप में "मुद्रा" नारी के बहिर्गमन की कहानी है। बाहर जाकर भी नारी मन की दहलीज नहीं खोल पाती। यही तो बिचलता है। बुद्धि जीतती है हृदय रो देता है। नारी की यही इच्छा (इ म) स्थिति "मच्छा" में उभरी है। जैनेन्द्र के परवर्ती उपन्यासों में इसी समस्या का नया रूप सामने आता है। "विचल" में विवाहिता नारी अपने मन के परिशीलित पुरुष को अपने को देना चाहती है परन्तु बीच में आती है "धनीरी" (बड़ा धारणीपन)। परन्तु नारी की अपरिचीम बरुपा उद्यता प्रथम दानुव प्रेमी जर्तन की ओमननित अकरुपा (हिंसा) को परास्त करने में सफल है। यहाँ भी पति में अप्रतिम उद्यता है माता साध "पति-वग" जैनेन्द्र के नारी जीवन के प्रयोगों के लिए ही जीता है। "व्यतीन" में नारी की उद्यम बासना की जय विजया कर धीर पुरुष के प्रति उमदी हिंस्र धारण मावना को मूर्तिमान कर जैनेन्द्र ने धा की नारी-मावना का हिन्दी प्रतिरूप खड़ा किया है। परन्तु क्या धनीता बटटी मुनीता मुद्रा धीर विचल की नायिका की कोटि की प्राप्ती है ?

२

"स्वाय-यत्र" के प्रकाशन के साथ जैनेन्द्र की उपन्यास-कला का एक युग समाप्त होता है। इस युग में जो उपन्यास उभरने लगे हैं वे एक प्रकार से सब उपन्यास कह जा सकते हैं। इन उपन्यासों में पात्रों की संख्या बहुत घाड़ी है और उनका कर्मक्षेत्र भी प्रेमबन्ध और दूसरे उपन्यासकारों के पात्रों के कर्मक्षेत्र से बहुत छोटा है। एक प्रकार से पात्र न तो किसी राजनीतिक समस्या को उठते हैं और न किसी पारिवारिक अथवा व्यक्तिगत समस्या का समाधान ही उपस्थित करते हैं। इन उपन्यासों में सामाजिक प्रश्नों की एक स्पष्ट चरित्रा धारण दिखाई देती है। किन्तु लेखक बौद्धिक मूमि पर ही अपने का प्रयत्न नहीं करता। सब तो यह है कि जैनेन्द्र के इन सब उपन्यासों में भाव मूमि की ही प्रधानता है और यह भाव-मूमि कुछ निश्चित-व्यक्तियों तक सिमट कर रह गई है। प्रारम्भ के दो उपन्यासों "परल" और "मुनीता" में धीपन्यासिक पक्ष भी बड़ी सुन्दरता से व्यक्त हुआ है और कहानी में काफी मानसिकता भी है। परन्तु बाद की रचनाओं में जैसे जैसे दार्शनिकता की प्रधानता जाती गई है जैसे-जैसे लेखक कथन संवेतों के माध्यम से धनीता बताने लगे हैं। "स्वाय-यत्र" तक पहुँचत-पहुँचत जैनेन्द्र के उपन्यासों की धीपन्यासिक-कला का ह्रास हो जाता है और अपने अप्रकाशित उपन्यास "धनाम स्वामी" में वह केवल बौद्धिक अथवा दार्शनिक लेखक रह गये हैं।

"स्वाय-यत्र" से "मुद्रा" तक का जीवन-काल १० वर्षों का व्यापक जीवन काल है और इन दस वर्षों में जैनेन्द्र ने अनेक प्रकार की सामाजिक और सांस्कृतिक

प्रतिबन्धी को समझाया है। उनके निरन्तर सम्बन्ध और उनकी टीका-टिप्पणियों का नक्सा मैं बहुत अधिक है और सब कई मरपुर इन्हीं में उनका प्रकाशन हुआ है। इन सब बयों के बाव यह धारणा की जाती थी कि वैज्ञानिक इस क्षेत्र में कोई नई चीज़ नहीं है तर्कमें प्रपचा यह भी बड़े बड़े उपन्यास से बहुत दूर और पत्नीर दर्शन की भूमि से निकट होना। परन्तु 'सुखरा' के प्रकाशन से यह स्पष्ट हो गया कि वैज्ञानिक एक बार फिर अपनी पूर्ण स्थिति पर सज्ज हो चुके हैं। 'सुखरा' में कथानक का अधिक विस्तार नहीं है किन्तु भावनाओं का आगे-बाहरा और भाषा-शैली की सरसता एवं मौलिकता में यह हमें 'परम' और 'सुमीठा' की याद दिलाते हैं। एक प्रकार से बीच के शुष्क मध्यम प्रमाण साहित्य से दूर कर इस उपन्यास में वैज्ञानिक एक बार फिर 'राज-द्वेष' की मनोवैज्ञानिक भूमि पर प्रवृत्त होते हैं। फिर भी यह कहना कठिन है कि इस उपन्यास में उन्होंने कोई नया नया संसार उपस्थित किया है प्रपचा बसतम्य और कला को कोई नया जोड़ दिया है।

सम्य उपन्यासों की भाँति यह उपन्यास भी भाव-प्रधान है। हम देखते हैं कि समस्त उपन्यास में स्वतन्त्र रूप से प्रपचा बार प्रमुख पात्रों के वाच्यम से उपन्यास की नायिका सुखरा का लक्ष-क्षय का भाव-संघात ही उपस्थित किया गया है और यह भाव संघात इतना विचलित है कि ऊपर से मनोवैज्ञानिक दिखाई पड़ने पर भी यह सांख्यिक मनोवैज्ञानिक स्थापनाओं की पकड़ में नहीं आता। सुखरा को करती है उस के पीछे न उसकी आर्थिक भूमि है और न उसका कोई स्पष्ट मनोभाव। वैज्ञानिक के सम्य प्रमाण बावों की भाँति उसका अन्तर्जगत् भी मरतम्य है और यह किन्हीं सिद्धांतों का पालन नहीं करता। वैज्ञानिक में उपन्यासकार की अपूर्व समता है और इसीलिए नया के प्रभाव में यह हमें बड़ा ले बाते है। उपन्यास की समाप्ति पर जब हम इस कथन का रहस्य समझने लगते हैं तब हम हतप्रभ हो जाते हैं। हम समझ नहीं पाते कि कथना का विकास किन मुहूर्त के द्वारा हुआ। फलस्वरूप हम पात्रों पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करते हैं और एक बार फिर उपन्यास पढ़ जाते हैं। हम कल्पित सुखरा नाम और हरिदा को पाना चाहते हैं किन्तु अन्त में इन पात्रों की आर्थिक रैलाएँ प्रस्पष्ट ही रह जाती हैं। वास्तव में ये सारे पात्र लेखक के अपने भाव-निकाय को लेकर जन्म लेते हैं और मनोवैज्ञानिक प्रपचा औपन्यासिक अर्थ-विकास के नियमों में नहीं बँधते। यह कहना कठिन है कि वैज्ञानिक प्रपचा को परम्परा को धार्य बढ़ाते हैं या उसे पीछे सीटते हैं। उनका औपन्यासिक अर्थ उनका भाव-जगत् है और यह भाव-जगत् ही उनकी रीत है। अतः पर अन्त-विश्व समावा का संघात ही प्रपचा उसे लेकर उन्हें बितर्क किया जा सकता है परन्तु यह स्पष्ट और प्रस्पष्ट रह कर भी यह हिन्दी की अपनी महत्त्वपूर्ण वस्तु है।

वैज्ञानिक के सम्य उपन्यासों की तरह यह उपन्यास भी अन्तर्जगत् की कहानी है। सम्य उपन्यासों में वैज्ञानिक ने को-जीव व्यक्तियों के अन्तर्जगत् को समझाया है और उनका आन्तरिक बाह्य प्रतिपादन दिखाना है किन्तु इस उपन्यासमें सारा विश्लेषण और

सारे कर्मा-मूत्र केवल एक शरीर को घेर कर विकसित होते हैं। धीरे-धीरे उपन्यास को गतिविधि मुक्तता है। सुखदा का पति कांत भी है परन्तु वह उसके मार्ग में बाधा नहीं बनता चाहता। जैनेन्द्र के ममत्त्व पतिव्रतों में वह सब से अधिक उपास्य है। धीरे-धीरे उसकी अपरिचीन उदारता ने उसे एक प्रकार से तीरथ वाचनिक बना दिया है। सुखदा को रूप धीरे-धीरे जीवन का गर्भ है। वह समाज में प्रतिष्ठित चाहती है। धन धीरे-धीरे मर्मापा चाहती है। वह घर से बाहर निकल कर राष्ट्र के जीवन के काम बनना चाहती है। कांत उसे से सब सुविधायें देने को तैयार है। वह स्वयं जातिकारी बन के धर्म्य हरीष का मित्र है। ठीक समय में नहीं पाता कि सुखदा का धारणा उस पर क्यों है? सम्भवतः वह अपने मोठे ही बच्चों का अनुभव करती है। धीरे-धीरे धीरे से कोई बाधा न पा कर उसको छोड़ पाता है कि उसका धारणाविकास को इतनी तरलता से मार्ग मिल गया। वास्तव में वह धारणा एक प्रकार से बोधा धारणा है धीरे-धीरे उपन्यास के अन्त में सुखदा के जीवन की अक्षमता इसी बोधा धारणा की धीरे-धीरे संकेत करती है।

मेरु के जातिकारी जीवन की मूमि पर सुखदा के धारणाविकास को उपस्थित किया है। पहले उसके जीवन में संघर्ष ही नाम का एक सामान्य व्यक्ति पाता है जो उनके यहाँ कुछ दिन नीकर रहता है। बाद में वह पकड़ा जाता है धीरे-धीरे एक प्रमुख व्यक्ति का सिद्ध होता है। संघर्ष के जीवन से घेरना पाकर सुखदा की जीवन मूमि पर बढ़ती है। बाद में हरीष प्रमाण धीरे-धीरे नाम के अन्त में जातिकारी बन के तीन व्यक्ति उसके जीवन में पाते हैं। इनमें प्रमाण अपने अन्त-मन से छोटा धारणा बालक है धीरे-धीरे 'बरे-बाहरे' के धर्म्य की गति वह सुखदा से केवल स्नेह ही प्राप्त कर सकता है। हरीष शीतलपत्नी मुख्य है धीरे-धीरे 'पथर शरीर' के सम्बन्धी की तरह उसका धारणाविकास इतना मिलित धीरे-धीरे है कि वह धीरे-धीरे बन बन ही नहीं सकता।

घर केवल रह जाना है नाम। इसी नाम को लेकर सुखदा धारणाविकास का रोम लेती है। वह धीरे-धीरे की तरह उनके जीवन में पाता है धीरे-धीरे उसका समस्त धारणा विश्राम लेकर बना जाता है। पहले ही परिचय से सुखदा को यह पता चलता है कि इस व्यक्ति में धारणाविकास नाम की कोई चीज है जो नाम में नहीं है। वह उसे समस्त धारणाओं से बचना चाहती है धीरे-धीरे सब नाम स्वयं अपने जातिकारी बन हाथ धरित हो जाता है तो वह यह प्रयत्न करती है कि वह उस स्वान को छोड़ दे धीरे-धीरे इस प्रकार धारणा मूल्य से अपने को बचावे। इस प्रयत्न में वह अपने गतिविधि के समर्पण को भी तैयार है। जिस प्रकार वह सब कुछ लेकर ही हृत्प्रियम् को मार्ग पर ले जाता चाहती है, उन्ही प्रकार सुखदा अपना सब कुछ नाम को लेकर अपने देश के लिए अर्पण करना चाहती है। किन्तु नाम का धारणाविकास नाम है। एक तरह वह विभोर हो जाता है किन्तु इनसे धारणा वह सुखदा को छोड़े पर बने देता है धीरे-धीरे धारणाविकास से मुक्त हो रहस्य नाम बन जाता है। पहले धारणा से धर्म्य के धारणा तक सुखदा के जीवन-विकास

यह ज्ञान है। अन्तिम तीस अध्यायों में बहुत तीव्र गति से यह कथा धारो बढ़ती है किन्तु साहित्य में कथा उठी समय समाप्त हो जाती है जब नारी आत्म-समर्पण के द्वारा पुरुष के पीरूप को प्राप्त करना चाहती है और पुरुष अपने पीरूप में घटित रहता है।

पहले छठीस अध्यायों की कथा में मानसिकता अधिक है। जो कुछ होता है वह सुखदा काम्य और सास के मर्मों में होता है। अन्त के अध्यायों में उपन्यास की बहिर्मुखि अधिक महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लेती है जो बैनेत्र की कथा के अनुरूप नहीं है। संसर्ग में हम यह कह सकते हैं कि 'सुखदा' सुखदा के अन्तर्ग की कथा मान है और इसी अन्तर्ग को बैनेत्र ने अपनी सार्थकता मनोबैज्ञानिक परंपरा और विधि-मापा-सीली के द्वारा पुनः और विकसित किया है। जो बहिर्मुखी इस उपन्यास में आता है वह कार्य विकास के लिए ही आता है। सुखदा के लिए उसका महत्व अधिक नहीं है।

'सुखदा' के आरम्भ में लेखक ने अपनी रचना पर अपनी सम्मति प्रकट की है। उसका कहना है कि इस पुस्तक में जहानी निष्पटता में कही गई है और अन्त में किसी के साथ नहीं हुआ है। अपनी रचना-व्यक्ति के सम्बन्ध में भी लेखक ने कुछ धब्बे बोड़े हैं। सामान्यतः उद्यम सुखदा की कथा वैज्ञानिक भाव से नहीं है किन्तु वहीं-वहीं विशेष प्रयोगों के अन्तर्गत इन कथा में अन्त भी आ गया है। लेखक के इन अन्तर्गत से 'सुखदा' के कथानक और पात्रों के चरित्रांकन के सम्बन्ध में हमें कुछ इतिहास मिल जाते हैं। जहाँ तक कथानक का सम्बन्ध है इस उपन्यास में हमें कथा का वैचित्र्य नहीं मिलता। उसका कारण यह है कि उपन्यास की कथा एक विशेष संवेदनाशील पात्री के अन्तर्गत से सम्बन्धित है और बाहरी जीवन की अनेकानेक घटिकाएँ अधिक नहीं उभर पाई हैं। इस कथा में सान्निध्यता की प्रधानता है। उपन्यास में सुखदा को प्रकार का जीवन बीती है। एक जीवन यह है जो सान्निध्यता से सम्बन्धित है और जो सुखदा के सामाजिक विद्रोह को सुविधा करता है। उपन्यास के अन्तिम दो अध्यायों में बही जीवन प्रधान हो जाता है और इसीसे अन्तर्गतों में गतिशीलता आजाती है। किन्तु यह जीवन प्राथमिक जीवन है। वास्तव में सुखदा के लिए वह अन्तर्गत जीवन अधिक महत्वपूर्ण है जो पति नाम के प्राणी के प्रति उद्यम विद्रोह उठाता है और जो मातृकाल के प्रति मानसिक और आत्मिक आत्म-प्रसर्पण के रूप में समाप्त होता है। वास्तव में सुखदा की कथा उसके घर के प्रति विद्रोह और घर से बाहर जाने की कथा है। सब तो यह है कि परम्परागत ईश की कथा हो ही नहीं सकती। उसमें अन्तर्गतों का विस्तार न होकर अन्तर्गतों का अन्तर्गत है।

उपन्यास के अन्तर्गत में लेखक ने मनोबैज्ञानिक उपकरणों को संकलित किया है। इसी कथा सुखदा की आत्मकथा के रूप में सामने आती है और वह इसलिए अधिक आकर्षक हो जाती है कि सुखदा अत्यन्त ही और भीतर से टूटकर अपने अत्यन्त जीवन की एक ही विक्षुब्ध पर आने में समर्थ है। मनीष मनोबैज्ञानिक उपन्यासों में प्रधानतः या पात्रों की चेतना का अन्तर्गत प्रधानता है और इस स्मृतिमूलक चेतना-अन्तर्गत

को उपन्यासकार बहुत सुन्दर रूप से उपभोग में लाता है। जैनेन्द्र ने बेतना प्रवाह की धर्मसंभ्रमा की इस नई पद्धति को अपनाया है और सारा उपन्यास सुखदा के प्रात्यक्षिक संचार के रूप में उपस्थित होता है। वास्तव में उपन्यास की रचना-पद्धति अति प्राथमिक है और जैनेन्द्र एक अतिसंवेदित पात्रों के मन को सम्पूर्ण रूप से उभड़ कर हमारे सामने रख सके हैं। घटनाप्रा के परम्परागत संकलन के अभाव में सुखदा का टूटा हुआ ध्वनित्व और उनकी धारमपीड़ा हमें अत्यंत रोचक रखती है।

उपन्यास में तीन प्रमुख पात्र हमारे सामने आते हैं सुखदा, कामल और सात। वास्तव में सुखदा का ही अधिक प्रसार है और अन्य दोनों पात्रों का हम उन्हीं के दृष्टि कोण से देखते हैं। साम्यकालिक उपन्यास की यह धारणा सीमा है। उद्यम धारणकता प्रस्तुत करने वाला पात्र ही विरोध महत्त्व प्राप्त कर सकता है और अन्य पात्रों के साथ व्याप नहीं बिना जा सकता। यद्यपि 'धारासिद्धि' में पात्रों के प्रति न्याय करने की बात कही गई है, परन्तु न्याय केवल सुखदा के साथ ही हुआ है। अन्य पात्र जैनेन्द्र के सैदान्तिक दृष्टिकोणों के ही प्रतीक हैं। वे उतने सजीव नहीं हो सके हैं। कुछ शान्तिकारी पात्र भी हमारे सामने आते हैं जैसे बर्मानिह प्रमाण अरेल कोहली और चर्मा। परन्तु वे विभिन्न नाम-रूप मात्र हैं और शान्तिकारी बेतना के प्रतीक मात्र होने के कारण उनका व्यक्तित्व विकसित नहीं हो सका है। एक प्रमाण को छोड़कर ही सब उपन्यास के अंतराल में आते हैं और बड़ी लीलाता से अपना कार्य समाप्त कर संयम को छोड़ देते हैं। उनका विधिष्ट चरित्र सामने नहीं आता। जिन तीन प्रमुख पात्रों को विस्तारपूर्वक लिया गया है उनका साधारण प्रेम-कथाओं का वह त्रिकोण बन जाता है जिससे उपन्यास का पाठक पूर्ण रूप से परिचित है। किन्तु समेतना की भूमि निरवल और नई समस्या होने के कारण वह त्रिकोण महत्वपूर्ण हो गया है। इस त्रिकोण के मध्य में सुखदा है। वह प्राथमिक रूप की ऐसी भारी का प्रतीक है जो जीवन का प्रत्येक क्षेत्र में आये बढ़ता जाहती है। सुखदा को रूप का गर्व है। वह अपने प्रति सम्पूर्ण रूप से सम्पुष्ट है। अमन्योय यह है कि उसके सामने आने बचने के मार्ग प्रदत्त नहीं हैं। समाज में प्रतिष्ठा देने वाली थीक है चर। सुखदा सम्पूर्ण रूप से बन जाहती है और इस क्षेत्र में पति की सीमाओं को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। अपने भीतर की बड़बुद की जाह को पूरा करने के लिए वह अपने पुत्र विनोद को नैनीताल भेज कर उच्चकोटि की शिक्षा दिलाना जाहती है। उनका बालक सामान्य नहीं रह सकेगा। कामल इन प्रस्ताव का विरोध करता है, पर सुखदा के सामने विस्तेज हो जाता है। सुखदा के भीतर की अग्रपार्सी भावना प्रत्येक पर पर विरोध जाहती है परन्तु जब अपने पति की धार में उसे कोई विरोध नहीं मिलता तो वह आत्मसुखिता हो जाती है। वह यह समझ नहीं पाती कि पति इनका अहार कैसे हो सकता है। वास्तव में अग्रम स्वयं उसके भीतर है और अपनी लेखनिका को परिहार करने के लिए उसे काल में अनेक कुम्हारों की कल्पना करनी पड़ती है।

घन्ट में हम यह देखते हैं कि सुखदा घन्ट से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर लेती है और ज्ञान के बिलास-कमल में घाबर जसे पहली बार ऐसा अनुभव होता है कि उसने मारीचक की मुक्ति प्राप्त कर ली है। परन्तु इसी समय शान्तिकारी इस में ऐसा घबराहट उपस्थित हो जाता है कि सुखदा को अपने जीवन के समस्त मूर्खों को स्पष्ट रूप से सामने रख देना होता है। यह अपने को भुगता चाहती है कि यह स्वतन्त्र है, किन्तु वैवाहिक जीवन की मर्यादाओं से यह मूल्य रूप से फिर भी बँधी हुई है। घन्ट में यह अपने को मन से पतित स्वीकार कर लेती है और पति के प्रति अज्ञान की भावना से उसका हृदय स्वयं धारणशील हो उठता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'सुखदा' में अज्ञान सुखदा के चरित्र में मापी के भारतीय मान्य (पातिव्रत) और नये सामाजिक धारण (कर्मक्षेत्र की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता) का संघर्ष है।¹ उसने चरित्र में इतनी सूक्ष्म संवेदना और भावना कल्पित है कि उपन्यास उसका भार नहीं हो सका है। वैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर यह अपने पति के प्रति अनुदार भाव पड़ता है। परन्तु स्वयं सुखदा के भीतर से देखने पर उसका यह विरोध सार्वक और मनोवैज्ञानिक सिद्ध होता है।

सुखदा के पति काष्ठ के रूप में हमें कदाचित् जैनेन्द्र के उदारपतिव्रत मान की परिणति मिलती है। जैनेन्द्र ने जिन पतियों का निर्माण किया है उनमें काष्ठ इतने उदार और निरीह है कि उनके सम्बन्ध में हमारी प्राप्ति उपमया जाती है और हम लेखक के प्रति बिखीन से भर जाते हैं। काष्ठ के चरित्र-निर्माण में सभी गांधीवादी उपकरण इकट्ठे कर दिये गये हैं। एक प्रकार से काष्ठ जैनेन्द्र के अपने गांधीवादी व्यक्तित्व की प्रतिष्ठाया है। यह शन की महत्ता स्वीकार नहीं करते। यह समाज के सामान्य बरतन पर चलना चाहते हैं। यह शान्तिकारियों के भी साथ हैं और शान्तिकारी दल के नेता हरीश के प्रति उनकी अपार श्रद्धा है। स्वयं सुखदा के प्रति उनकी भावना बड़ी उदार है। यह विवाह को ऐसी संस्था मानते हैं जो स्त्री-पुरुषों के सामने विकास के नये मार्ग प्रस्तुत करती है। विवाह में कल्पन नहीं कल्पन-मोचन है ऐसा उनका विश्वास है। इस प्रकार काष्ठ के चरित्र को धारणधार की सर्वोच्च सीमा तक जीवित माना गया है। उनके व्यक्तित्व की विशेषता यह है कि उसमें व्यक्तित्व है ही नहीं। सुखदा एक स्थान पर जोधित होकर कहती है कि यह ऐसी मूर्ख है जो सबके दुखों के हार में चलती है। उसमें उन्हें पालतू और भीर बतलाया है। वास्तव में प्रति धारसंवार के कारण काष्ठ का चरित्र प्रति सामान्य और अवास्तविक हो गया है। इस पात्र में कहीं भी प्रबोध नहीं कहीं भी खोम नहीं। उसमें धारण-इन्द्र की कोई भी स्थिति दिखाई नहीं पड़ती। भावना-अवयव में यह चाहे जैसा भी ऊँचा पात्र हो व्यवहार-अवयव में ऐसे पात्र का कोई मूल्य नहीं। उपन्यास का लेख व्यवहार अपूर्ण है और इसीलिए काष्ठ के चरित्र के कारण उपन्यास अस्पष्ट और असाधारण हो गया है। व्यावहारिक जीवन

में पति इतनी दूर जा सकता है यह कहना कठिन है।

सात घोर हरीश के रूप में जो जातिकारी पात्र हमारे सामने घाते हैं। इनमें एक प्रकार से "पौर दासी" के सम्बन्धी की प्रतिष्ठाया है। सम्बन्धी के रूप में चरम्बर ने एक ऐसा जातिकारी पात्र हमारे सामने खड़ा किया है जो राग-बिराह से बहुत ऊपर है और एक अत्यन्त उदात्त परन्तु भावना-हीन भूमि पर जातिकारी बल का संस्थापन करता है। स्वयं जातिकारियों ने चरम्बर के इस परिचाक पर ध्यान दिया है परन्तु "पौर दासी" और "चार धाम्याय" उपन्यासों में इस प्रकार का चरित्र अत्यन्त महत्व प्राप्त कर सका है और धोपस्याधिक बन्धु में उसे लोकप्रियता मिली है। हरीश कदाचित् इसी चरित्र-भूमि को हमारे सामने प्रस्तुत करता है। हरीश भावना को कोई महत्व नहीं देते। वह हिंसा को प्रभावता देते हुए भी अपने धारकों के भीतर से मानवीयता है। वह सामान्य जनता को बराबर सामने रखते हैं। एक प्रकार से सेनाक ने उनके चरित्र को इतनी ठोकाई दे दी है कि वह व्यावहारिक बन्धु की वस्तु न होकर भाव-बन्धु की वस्तु बन गये हैं। जेनेट ने उनके सम्बन्ध में जो सन्दर्भ दिया है उससे पता चलता है कि वह पहले सम्बन्धी के परन्तु बार में अपने पुत्र के धारण से धाम्यात्मिक जीवन को छोड़कर उन्होंने देश के बन्ध-भोजन को अपने जीवन का मंत्र बना लिया। देश के सम्बन्ध में उनकी भावना जातिकारी होते हुए भी धाम्यात्मिक है। वह बराबर वैदिकता और चरित्र पर बल देते हैं और नारी के सक्रिय सहयोग को महत्वपूर्ण मानते हुए भी जातिकारीबल को स्वीकार से बचना चाहते हैं। उनके लिए नारी भावना को नहीं कर्तव्य की धार है। जेनेट ने हरीश के चरित्र में जातिकारी बल के उस भाग को प्रकट किया है जो सम्पूर्ण रूप से भारतीय है और जो हिंसा पर विश्वास रखते हुए भी धाम्यात्मिक और गांधीवादी है। इस चरित्र के विपक्ष में सात हमारे सामने घाता है। वह जातिकारी धाम्येयन को एक मात्र राजनैतिक और सामाजिक चेतना नहीं मानता। उसके लिए धाम्येयन का महत्व यही है कि उसके देश की राजनैतिक भूमि का विकास होता है। वह नारी की सम्पूर्ण मान्यता का उपयोग चाहता है। उसका कहना है कि नारी के सम्पूर्ण मन पर किसी प्रकार का बंधन उचित नहीं है और चरित्रविष्टा का प्रश्न उसके सामने घाता ही नहीं। वह नारी को बल मात्र नारी के रूप में देखना चाहते हैं जो प्रत्येक पक्ष पर पुण्य की साक्षिण हो।

हरीश हम मूर्ख को वैश्वी मानते हैं और इमीलिए नारी से विरक्त है। यह भारतीय जातिकारी की विशेषता और दुर्बलता है। सात पश्चिमी जातिकारियों को धारण मानते हैं और जातिकारी-यम को बड़ी प्रतिक विस्तृत करना चाहते हैं। उनके लिए चरित्र का स्वतन्त्र महत्वपूर्ण बन्तु नहीं है। महत्वपूर्ण यह है कि नारी अपनी समस्त भावना को प्रकट कर सकती है या नहीं। वास्तव में वे दोनों पात्र दो विद्वान्तों के प्रतीक हैं। एक पश्चिम की और वैश्वी और वैश्वीवादी को देखता है और दूसरा अपने

देश की नैतिकता प्रदान करनेवाला को जो एक धर्म क्षेत्र में महात्मा गांधी में प्रतिपादित हो उठी थी।

उपन्यास के अन्त में हम यह देखते हैं कि हरीश ने नान्तिकारी दम को खत्म कर दिया है। इससे यह स्पष्ट है कि ऐसा एक समझना है कि धार्मिक-सामाजिक नान्तिकारीता हम युग में सफल नहीं हो सकती। सास के रूप में नान्तिकारी नेता का एक नया आदर्श हमारे सामने आता है जो हमारी अपनी परम्पराओं से हटा होने पर भी अधिक सजीव और प्रयत्नशील है। परन्तु सास की अपेक्षा हरीश हमारे मन पर अधिक छाप छोड़ते हैं। उनमें से एक ने धर्मपरिवर्तन के अन्तर्गत धार्मिक धर्म का स्थापना है। उपन्यास में हमारी स्थिति मुझ से हरीश के अन्त में ही है। वह अपने सिद्धांतों से सड़ कर हार जाते हैं और अन्त में सास के बचने के लिए मार्ग विकसित कर स्वयं अपने को पकड़ा देते हैं। इस प्रकार हार में ही उनकी विजय कर्मिता है। धार्मिक भूमि पर भी इसे हम गांधीवादी विजय ही कह सकते हैं। सिद्धांत के प्रतीक होने के कारण वे दोनों अन्त में नहीं पाते हैं। सास में "सुखदा" में धार्मिक-सामाजिक आसक्ति का अन्त ही धार्मिक-सामाजिक अन्तर्गत अधिक।

यहाँ तक देश-काल का सम्बन्ध है, लेखक उसकी कोई विशेष सूचना नहीं देता। परन्तु यह अन्त १९३४-३५ के आसपास की कल्पित की जा सकती है। इसी समय गांधी जी ने नान्तिकारी बलों का चुनौती दी थी और उन्हें स्पष्ट रूप से कार्यक्रम लेकर प्रकाश में आने को कहा था। गांधी जी की इस चुनौती के कारण विभिन्न नान्तिकारी बलों को अपने अन्त में देखने का मौका मिला और अन्त में हिंसा-अहिंसा और व्यापक राजनीति के अन्त में आये। फलस्वरूप अन्त नान्तिकारी दम छोड़ दिये गये। जैनेन्द्र ने इस अन्त को देश की राजनीति विस्ती में स्थापित किया है। परन्तु अपने समय उपन्यासों की तरह जैनेन्द्र इस उपन्यास में देश-काल को अधिक महत्व नहीं देते। वह हिंसा-अहिंसा और नारी-जीवन की मूल्य समस्याओं को सामने लेकर आते हैं और इस प्रकार उनकी कथा देश-काल निरपेक्ष बन जाती है।

उपन्यास की सब से अधिक विशेषता लेखक की व्यक्तिगत भाषा-शैली और उसकी वह कथारमक सूक्ष्म संवेदना है जो मानसिक बात-प्रतिबतों को बड़ी बारीकी से पकड़ने में समर्थ है। यहाँ "शान्त-धर्म" और "नस्याधी" में जैनेन्द्र की भाषा-शैली गौरव बन गई है और अन्त में इतना सूक्ष्म एवं संकीर्ण हो गया है कि अन्त में साहित्यिक कथा की सुन्दरता ही नहीं रह गई है यहाँ इस उपन्यास में हम भावना का अन्त-कल्पी विकास देखते हैं। परन्तु यह कहना कठिन है कि जैनेन्द्र के सभी मनोवैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक-सास की भाषाओं पर पूरे अन्त हैं। यह स्वयं पात्रों की अन्त में समय से है यह कहना कठिन है। उपन्यास के सभी पात्र मनोवैज्ञानिक हैं किन्तु स्वयं पात्रों

को अपनी भावना का सूत्र प्राप्त नहीं है। पल्लवक्य पार्श्वों के चरित्र द्रष्टव्य और धर्म धारणकारी है। उपस्थासकार उनके मन को टटोल कर चमत्ता चाहता है किन्तु पार्श्वों के प्राकृतिक भाव-विस्फोट में यह धपना मार्ग लो देता है। यह इस उपस्थास की सब से बड़ी दुर्बलता है। यह कहना कठिन है कि जैनेन्द्र भाव-संमन्वय को क्यों प्रभावता देते हैं पर सम्भवतः उनके कठोर दार्शनिक व्यक्तित्व के नीचे एक अतिरिक्त भावुक हृदय है जो विचारणीयता का सम भरता हुआ भी भावनाओं में डूबता-उठता रहता है और धपनी चाह नहीं पाता। इस प्रकार जैनेन्द्र के व्यक्तित्व की तरह ही "शुद्धता" की कथा और उसके पात्र झबूझे रह गये हैं।

विवर्त

‘विवर्त’ (१९४१) बीमेन्द्र की ‘बरे-बाहरे’ बनी की अन्तिम कड़ी है। पीछे बाने पर ‘मुनीठा’ और ‘मुबरा’ से उसका नाता जुड़ा है। इन तीनों उपन्यासों में नारी के बहिर्प्रेम के प्रसंग को लेकर नै उठया है। और पर-बाहरे के सम्बन्ध को लेकर परिस्थितियों का निर्वास किया है। तीनों की विषयवस्ती बहुत कुछ समान है। यद्यपि कई कई परिस्थितियों के आक्रमण और उपन्यासकार की विषयवस्ती मूढ के कारण तीनों कथाओं में कथा-रस की निम्न-निम्न स्थितियाँ सामने आती हैं। परन्तु वहाँ पिछले उपन्यासों में बरे-बाहरे और आन्तिकारी जीवन की समस्याएँ बाहरी समस्याएँ हैं। वे एकात्म नहीं हो पाई हैं वहाँ ‘विवर्त’ में वे इन्द्र कोकर एक हो गई हैं। ‘मुनीठा’ में श्रीकान्त-मुनीठा-हरिप्रसन्न का वैत है। ‘मुबरा’ में कान्त-मुबरा और नात है तो ‘विवर्त’ में बैरिस्टर नरेश मुबनमोहिनी और विठेन (महावि) हैं। ‘मुनीठा’ में हरि प्रसन्न में आन्तिकारी मूढ-मूढ है। परन्तु उसमें कतु त्व नहीं है। उसकी सम्भावनाओं पर ही कथा-मुनीठा का निर्वास किया गया है। यद्यपि अन्तिम पृष्ठों में आन्तिकारी योजना का आनातल प्रसन्न मिल जाता है। ‘मुनीठा’ का प्रेरणा-स्रोत कवि-मुब का ‘बरे-बाहरे’ है और कथाओं को एकाग्रता बरत कर नै लेखक उनमें घाने नहीं का सका है। यद्यपि बाबा उनमें वैता कि रा है। ‘मुबरा’ और ‘विवर्त’ के लेखक के सामने कवि-मुब की एक और रचना ‘बार घण्णाय’ रही है और उसकी विरस कथावस्तु को लेकर नै घाने उपन्यासों में पुपुन बना कर अवस्थित किया है। ‘बार घण्णाय’ में एव कावू नै ‘बरे बाहरे’ की समस्या नहीं उठाई है। परन्तु बीमेन्द्र दोनों समस्याओं को एकमूढ बना का चले है। इतने जहाँ कथा मनोमिष्ठ हो गई है वहाँ उसकी प्रभविप्यता भी बनी गई है। वह द्विविध बन गई है। जो हो यह स्पष्ट है कि ‘विवर्त’ में ‘मुनीठा’ और ‘मुबरा’ की कड़ियों का ही विकास है। ‘मुनीठा’ में बलिमिष्ठ नारी पति के आग्रह पर ही का से बाहरे जाने का सादृश करती है। प्रस्तावमम पर पति की और भी प्रिय बन जाती है। ‘मुबरा’ में पति और पत्नी के बीच बढ़ा अन्तर है। पति की धार से उमे घूट है। परन्तु बरे से बाहरे जाने का मार्ग सात के पदारंश से ही खुलता है। मुबरा नात की धार का

कर पति की नहीं रह जाती। यह नारी के बहिर्मन का झुमरा रूप है। नारी पतिनिष्ठ रह कर ही बाहर जाने की अधिकारिणी है नहीं तो भीतर का केन्द्र टूट जाने पर बाहर मनोवसन्धि ही हाथ घाटी है। तीसरी स्थिति विवश में कस्मिन् की गई है। यहाँ बर बसाने से पहले ही नारी (मोहिनी) किनी वूसरे (जितेन) की हो गई है। कदाचित् प्रेमी से बिद्रोह करके ही यह बर बसाती है। परन्तु बिद्रोह भूमकर यह बैरिस्टर नरेण की ही हो जाती है। बार वर्षों के बाद एक दिन जब जितेन गाड़ी उलटकर घायम पाता है तो यह बिद्रोह यम जाता है और मोहिनी पति और प्रेमी के बीच में भूमने समती है। यह जितेन को बचाना चाहती है परन्तु बचा नहीं पाती। पति की अपरिशीम उदारता के कारण उसका पत्नीत्व यम भी सुरजित है। "मुसबा में पति की उदारता की एक सीमा है और स्वयं मुसबा का मन धपने पापाचार से प्रताड़ित होने के कारण उससे हट जाता है। फस होता है कि सुखना धपना अकेसा जीवन जीने के लिए छोड़ बी जाती है। परन्तु यह सक्षम नहीं होती। उसके भीतर की बेवना उसे तोड़ देती है। यहाँ पति को कस्मिन् रूप से उदार बनाया यम है। फलस्वरूप बर नहीं टूटता बना रहता है और नरेण भी नरेण रहता है यद्यपि मोहिनी का हृदय टट गया है और उसका टूटने की याथाय स्पष्ट ही सुनाई पड़ती है। इस प्रकार इस उपन्यास में जैनेन्द्र ने पति नाम के प्राणी की जो प्रतिमा गड़ी है वह अकाल्प और काल्प से अधिक उदार, धार्मिक और अभिजात्यपूर्ण है यद्यपि यह उदारतायमता धारण जयत् की ही वस्तु हो समती है। यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र पत्नी में स्वतन्त्र जीवन जीने की धार्मिका को धर्मिक और प्रख्याक हारिक नहीं मानते (पता नहीं पति के लिए यह ऐसी ध्यवस्था को क्या मानेंगे) और पति से इस विषय में अपरिशीम उदारता का धाग्रह करते हैं। यह उदारता ऐसे प्रेमी के प्रति है जिसे उच्च प्राण और जातिकारी होने के कारण नारी का सहज धार्मिक प्राप्त है। परन्तु यह तो उपन्यास की कथा के लिए योजना है। प्रथम मूल रूप से पति की उदारता और पत्नी के प्रेम की स्वीकृति का है। तन-मन के इन्ध सतक इस सदा-न्तिक भूमि पर ही उपस्मिन् करता है और उपन्यास की नायिका तन-मन के बीच में भूमती है। पति को तन देती है और मन का बहुत बड़ा धरा देती है परन्तु क्या प्रेमी को मन का कोई धंध भी यह न दे सकेगी। स्पष्ट ही यह स्थिति विषय है। परन्तु जैनेन्द्र ने धीपन्यासिक विचोणीय इन्ध को कलमाबक में केन्द्रित न कर पति-पत्नी के इन्ध ध्यवस्थाओं में ही केन्द्रित किया है। पति का प्रेम जब तक मुठ नहीं होता वैहिक मात्र ही रहता है तब तक पत्नी की सम्पूर्ण उपन्यमि नहीं है। यह पत्नी के प्रेम-प्रताड़ित मन को ही पाकर पूर्णता पाता है। जनेन्द्र का ममाधान है कि नारी पति को पत्नीत्व देकर भी प्रेमी को नारीत्व (स्नेह) तो दे ही सारती है जो उसकी प्रेरणा बन सके। पता नहीं यह समाधान कहाँ तक उचित होगा क्योंकि प्रेमी प्रेम ही माँवता है (मन ही नहीं मन के साथ तन भी लया है) केवल धार्मिक स्नेह (प्राटोमिक सभ) उस केंद्र तुष्टि देगा।

इसीलिए प्रेमी या तो हृत्प्रियसम्पत् की तरह पलायन कर जाता है, या लाल की तरह टूट कर पशुप हो जाता है या फिर जितेन की तरह जेल की कोठरी में ही अपनी सुरक्षा समझ लेता है। वास्तव में प्रेमी और पति के हृदय का यह कोई समाधान नहीं है। विवाह की मन्था को सज्जरीला बनाम बिना समाधान जैसे सम्पन्न हो सकेगा और विवाह का सम्बन्ध 'घर' से है यानी प्रकृत सम्पत्ति है। फलस्वरूप कबल मनाईमानिक यह प्रश्न नहीं है। यह धार्मिक सामाजिक नैतिक भी है कदाचित् उठना ही जितना मनोवैज्ञानिक। घन मन की उदात्ता मात्र से इस प्रश्न का समाधान कैसे और कहाँ तक हो सकेगा कहना कठिन है।

कवि ठाकुर ने अपने एक निबन्ध में नारी के इस द्विविध रूप की व्याख्या की है और कुछ कविताओं में भी नारी के इन द्विविध रूपों को देखा है। नारी प्रेममयी है परन्तु वह मातृत्वमयी भी है। वह प्रेमिका है तो मा कम् नहीं है। सभी नारियाँ एक ही भाषा में प्रेमिका और माता नहीं होती। किसी में प्रेम-भक्ति अधिक है किसी में मातृ-भक्ति। प्रेममयी नारी भी प्रणय में मातृमयी (स्नेहमयी) बन कर ही सार्थक होती है। एक अधिकार धारिणी है कुसरी प्रतिदान। कदाचित् दोनों के अतिरिक्त होने में ही नारी जीवन की पूर्णता है। जीनेन्द्र इसका समाधान यों करना चाहते हैं कि पति के प्रति अधिकार (या ममत्व प्रेम) जैसे तो निराश और विफल प्रेमी के प्रति मातृत्व (सैबा स्नेह) जैसे। वह प्रेमी को एकदम प्रस्वीकार क्यों कर दे। परन्तु स्वीकार करने की सी सीमा कहाँ है, यह जीनेन्द्र ने नहीं बतलाया। उन्होंने प्रणय में नारी की इस विद्या में बढ़ने की आवश्यकता ही प्रणय की है और स्वयं प्रेमी या तो पलायन को छोड़ लेता है या पल की अहारवीवारी को स्वीकार कर लेता है। यह क्या मारमबाध नहीं है? क्यों वह जपत् के कर्म-संशुल पत्नी में अपने प्रेम की प्रेरणा लेकर नहीं बन सके? क्यों वह विफल प्रेम में धरक कर केवल विवाह की सामाजिक संस्था को बीसा करने का प्रयत्न करे? इसमें सम्येह नहीं कि वैवाहिक सम्बन्ध के नाम पर अनुहार बनना विवाह को छोटा करना है परन्तु इसे सामाजिक सम्येह के रूप में कैसे ग्रहण किया जा सकेगा? जब तक विवाह और परिवार की संस्था है तब तक नारी घर से बाहर निकलने की घूट प्रचारण ही कैसे पायेगी?

“र-बाहुर” कथा पत्नी के प्रेमी के प्रति उत्तरदायित्व को लेकर ले इतना विस्तार दे दिया है कि जितेन के अस्तिकारी जीवन की आस्तिकारिता गप् हो जाती है। वह पहले प्रेमी है अन्त में अस्तिकारी है (कदापि प्रकृत रूप से प्रेमी ही है क्योंकि समयकी आस्तिकारिता निष्फल एवं प्रताड़ित प्रेम ही की स्वयं है भीतर की वस्तु नहीं) और प्रणय में भी प्रेमी है। यह स्थिति उपभ्यास के सतराशों को बुझाना बना देती है जो केवल विभिन्न पन्थाओं और विचलित योजनाओं का समाहार मात्र रह जाता है। वास्तव में पहले वारह पन्थाओं में कही गई जितेन-ओड़िमी-नाम्न की कथा ही प्रमुख कथा है और

बली में लोकायुक्त सूक्ष्म भाव-संरचनागत उत्पन्न कर सका है। उसपर्यंत में वह "धोपम्या विष्क" बन गया है। उससे पूर्वार्ध का मेघ स्थापित नहीं हो पाया। सब तो यह है कि इस उपन्यास में जैनेन्द्र ने स्पष्टतः ही शान्तिकारिणी के साथ अनुयाय किया है और उनका दुर्बल पक्षों को ही अधिक उभारा है। उन्हें निराशा या प्रगाड़ित प्रेमी बना कर वह कोई बड़ी उपलब्धि नहीं कर सका है। भाबिर क्या है जितेन की शान्तिकारिता ? तिन्नी और बारह "बासको" को लेकर उसने शान्तिकारी जीवन का जो वह बरीदा रखा है उसमें सार्वकथा कहाँ है ? इन दस के प्रत्येक सदस्य को एक तुझार दया देकर दस को छोड़ने की व्यवस्था जितेन करना चाहता है। दस छोड़ देता है क्योंकि उसने माहिनी को रोकर लौटा दिया है और उसे विश्वास है कि मोहिनी ऐसी ही व्यवस्था कर देगी। परन्तु इसमें दैह्य-धर्म कहाँ पाया ? इस शान्तिकारिता का धर्म-संबंध पर कड़ा किया गया है हमसिष् कि बर्ग भेष के कारण ही मोहिनी जितेन की नहीं हो सकी। कदाचित् इमीलिए जितेन का प्रगाड़ित मन सामाजिक समसूचि का निर्माण करना चाहता है। धमीरों का मन पर कोई प्रतिकार उसे स्वीकार नहीं है और वह उस उनमें छीनकर परीषों को दे डालना चाहता है। बही उसकी शान्तिकारिता है। परन्तु कुण्डित प्रेम के धारे यह शान्तिकारिता कब तक चल सकती ? वह नहीं चल सकती।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि "विषय" में जैनेन्द्र दस-सदस्य के रूप में एक नई शान्तिकारिता उपस्थित करते हैं जो दैह्य-मन्वन्धी शान्तिकारिता से विन्म है। नई परिस्थितियों पर उनकी नजर है। परन्तु महावनी जीवन की सुभिका उत्पन्न करने में वह पूर्णतया सफल नहीं हो सका है। विन्मी के धर्मिवाप्य जीवन का जो विषय उन्होंने ईरिस्टर मरेसाधन और भुवनमोहिनी में दिया है वह स्वयं लेलक की धाकाधा और विद्युम्भा का नियम होने के कारण भ्रम ही धाकर्षक हो गया हो परन्तु उसमें वह छिद्रहस्तता नहीं है जो भुवनका के मध्यविलीय जीवन में या इसी प्रकार की धर्म धर्मियों में है। परन्तु सम्भवतः जैनेन्द्र द्वारा कश्चित् पति की उदात्ता इमी धर्मिवादी जीवन में सम्भव हो सकती है जहाँ धर्म की सुविधा है और प्रेम भोजन मात्र है जहाँ विवाह कर को बनाय रखने के लिए है और उसमें मरकता है स्निग्धता नहीं भीतर की ज्वाला कम है प्रकाश अधिक है। इसी से जैनेन्द्र का समाधान और भी हाम्यात्पर हो उठा है।

२

क्या है वह धर्म-संबंध जिसे जैनेन्द्र ने 'दिवली' की कथा का पूसापार बताया है ? जितेन मोहिनी का क्यों नहीं हो सका ? प्रनिरोध जिसकी धार से धावा जितेन की धार से या स्वयं माहिनी की धार से ? क्या इस विषयि से जैनेन्द्र परिचित नहीं था ? फिर सोपी कीन है वह या मोहिनी या बर्षीम मरकार ? यह कुछ प्रश्न है। जितेन धर्मविली है उड़ना नहीं जानता। माहिनी स्वयं के अपने में नूची हुई है वह

सीबी बम्बई उठ जाना चाहती है। परन्तु जितेन चाहता है कि वह 'बाप के बॉसने' की छोड़ कर (या धमीरी छोड़ कर) गरीबी की भूमि पर उठे जिसे जो मोहिनी क लिए सम्भव नहीं है। मोहिनी संस्कारनिष्ठ है, उसकी यह दुर्बलता अन्त तक बनी रहती है। परन्तु जितेन बुद्धिवादी है, मुखर है। प्रारम्भ में ही इस इन्द्र-स्थिति का विषम संसक ने विस्तारपूर्वक कर दिया है और इस सम्बन्ध में वह दो टूक है। मोहिनी जब जितेन को भावव्यक्तता न समझ कर पुछती है कि वह बताने वह क्या कहता है तो वह उत्तर में कहता है "तुम ठहरी धमीरवादी में सेहत करके आना है। पाई पाई पसीने के बल मुझे कमानी होती है। फिर हमारे बीच यह क्या हो गया है ?" योच जो मोहिनी नहीं तुम से भूल तो नहीं हो गई।" गरीबी की स्वाभाविक प्रवृत्ति से मोहिनी देख लेती है कि जितेन का प्रेम उड़ा-उड़ा हुआ है। वह इनका प्रगाढ़ नहीं है कि उसमें सामाजिक विषमता विधीयमान हो जाय। वह दुनिया को धर्मों की जिज्ञाह से देखता है, धमीर-गरीब उसके लिए जितेन उत्पन्न है, उनका प्रेम नहीं। अहेतुक प्रेम उसमें नहीं है। वह प्रेम जो प्रेमगत की ही देखता है, जिस में प्रह के बलिदान की शक्ति है वह प्रेम जितेन का नहीं है। वह प्रेम के उस उच्च स्तर पर नहीं उठा है। मोहिनी उसकी इस जिज्ञा को जान लेती है और बड़ी मार्मिक पक डती है जो प्रत्येक नाची ऐसी स्थिति में पकड़ती है। वह प्रथम प्रेम में प्रतापित होकर धामने से मायती है अर्थात् विवाह का भार पिता पर बाक कर स्वयं मुक्त हो जाती है। पिता के पुछने पर ध्याय से वह जितेन को ही जैसे उत्तर देती है "हम जो हैं हैं। हर एक की खुद हाने की स्वतन्त्रता है। मैंने आकर किसी से पूछा नहीं कि तुम धमीर क्यों नहीं हो ? ऐसे ही कोई हम के भी नहीं पूछ सकता कि हम क्यों धमीर हैं ? आकर पूछो मनमान् से आकर पूछो कानून से। धमीर-धमीर पसन्द है। जिसे नहीं पसन्द है गरीबी वह धमीर बनना चाहने को स्वतन्त्र है जिसे धमीरी नहीं चाहिए वह धाबाह है कि धमीर न बने। उसमें कहने-सुनने की बजा बाठ है ?" अन्त में वह बेरिस्टर नरेण की पत्नी बन जाती है और विवाह को चार बप से ऊपर हो जाते हैं।

इस चार बपों में जितेन का क्या-क्या हुआ है, यह हम बल सम्प्राप्ति को पार करने पर ही जान पाते हैं। वह अन्तिकारी बन गया है। एक दर्शन आधमी उसमें धामने चारों ओर बाढ़ लिए हैं और एक अकामग्रस्त बंभानी से अन्तिकी बर्ष की तिग्नी को भी ले लिया है जो उसका छोटा-या पर जाता है। परन्तु उसके भाव की है मन की नहीं। वह उसे धरना मन नहीं ले सका है, मन उसका काम में है। यह धारण है कि तिग्नी के धास्वमनस्य से उसे ढँबा घठवा है। स्वयं वह तिग्नी के लिए अक्षमक और धबाह है परन्तु हमने उसके लिए उस मातृत्वमयी गरीबी की मार्मिकता कम नहीं होती। इस तरह व्यक्तिगत को एक छोटे-से परिवार के रूप में लेकर जितेन शान्ति करना चाहता है। वह धमीरों को उत्तर देता। उनके मन को वह गरीबों में बटिया। परन्तु यह अन्तिक-

कारिता अन्त में प्रेम प्रताड़ित मन का विद्योम मात्र रह जाती है। धाँधिर क्या है यह प्रमीरी के प्रति विद्योम जो जितेन को रेश उमट कर धीर हृन्-घाहनों की एक लम्बी झुंझला लड़ी कर बेने पर उताक करता है ? क्या यह वर्ग-संघर्ष है प्रमीरी को मिटाना है या धपने का बोना है ? जितेन धपने को बोला देता है। वह जगित का रम भरता है परन्तु भीतर-भीतर भुवनमोहिनी की प्रमीरी के प्रति धाँधिरघरत है। वह उसे घरीब प्रमी की सामर्थ्य दिखाना चाहता है। वह उसे बताना चाहता है कि प्रमीर नरेम में ही सार्पकता नहीं है। उसमें भी सार्पकता है वास्तव में बड़ी सार्पकता उसी में है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जितेन भ्रमग्रस्त है और इस भ्रम से उसके भीतर (भीर उपास में बाहर भी) भ्रम की मूर्च्छि हुई है। वह दुर्बल चरित है परन्तु प्रेम में दुबल होने पर भी वह धपने को दृढ़ प्रतिज्ञा व्यावहारिक धीर बमठ ज्ञानिकारी सिद्ध करना चाहता है। इसमें उसके भ्रम का बस मिसता है। मन की छमता कर्म के रूप में बाहर घाटी है तो वह धपने अन्तित्व के प्रति धाँधिर होता है। कहा जा सकता है कि जितेन भुवन मोहिनी के बयसे पर नहीं जाता तो कथा ही नहीं बनती। परन्तु जितेन का ज्ञानिकारी रूप छद्म है। गाड़ी उमट कर भुवनमोहिनी के अन्तित्व का धाँधिर पाने में ही उसकी सार्पकता है।

भुवनमोहिनी का अन्तित्व उसे मिला परन्तु वह प्रेमिका का अन्तित्व नहीं करणा मयी नारी का अन्तित्व है। उसमें मादुरत की तरलता है प्रेम का उल्लास नहीं। कलकल, बीमारी से संभलने पर जितेन परिस्थिति का समझ कर धपनी हार स्वीकार कर लता है पर सपना टूटने पर उसे धाँधिर भी कम नहीं होता। वह भीतर-भीतर उठता है "मोह तो धाप मुझे बचाना चाहती है। जैसे ही धापकी मंहरबानियाँ बहूट हैं। जो नहीं धपना इन्तराम में कर लूंगा।" वह मोहिनी के प्रति लज्जित हो जाता है "मोहिनी जानता हूँ कि तुम भीमरी हो। समझदार हो गई हो। समझाल हो जिम्मे धार हो। बड़े तुम की धान और लाल तुम पर है। लेकिन इस बूटे मुझ पर क्या ही करत न बस पड़ना। तुम्हारा सब तुम्हारे पास रहेगा। धान की धान न धादेयी। मरोसा रलो कि जितको कृष् की लख दूर बूधरे जिते में लम छोड धाना चाहती हो वह धुर तुम से दूर रहेगा। इतनी दूर कि तुम्हें बल्पना भी नहीं होगी। मैं धा मया क्यों कि समझता था कि तुम में कुछ बचा होगा। लेकिन धाकर देख लिया। धब फिर वह धमती मुझ से होने वाली नहीं है। तुम जिस लोक की हो मरा लमसे सम्बन्ध नहीं। मैं जितेन जिनिया में हूँ वहाँ धैत का नाम-निधान नहीं। देख चुका हूँ कि तुम धन से धीर रह सगठी हो। बस धीर मुझे नहीं जानता है। इसलिए धब तुम बाधा धीर तुम्हें कसम है जो मेरे धारे में कुछ लानो या इन्तराम के धारे में लोको। नागरीस धने ही लो बोये है। तो मैं ही धर्मे काट धीर भोग लूँगा। तुम्हारा धामन उससे पाक रहेगा। बस धीर तुम्हें क्या चाहिए ? इरजत चाहिए, धरिजता चाहिए। धब मोहिनी के अन्तित्व

बा। समझना बा ये चीजों तुम्हें माने वाली नहीं हैं तुम्हें कुछ और चाहिए। लेकिन
 के विन सायब पुगते हुए कि जब बसो बहु सब बीत गया। मरछा हुआ कि बीत
 गया। इस प्रकार बहु मोहिनी के भीतर की समतामयी प्रेमिका को उबसाना चाहता
 है। परन्तु बहु मरछन नहीं होता। मोहिनी जब बाहर से घाया हुआ पत्र उसे देकर साब
 मान करती तो उसकी बासी की घाब ता में प्रेमी का अधिकार पढ़कर जितेन कह बैठता
 है 'तुम मन मे क्यों कल्प वाली हो मोहिनी? मेरे लिये सतता है सा तो ठीक ही है
 पर मे तुम्हारे लिए जो सतता है यह सोचने से मुझे कैसे बचा सकती हो? कितना बड़ा
 बोझ तुम्हारे मन पर है यह क्या मे नहीं जानता है? नलती हुई कि तुम्हारा सस्ता
 कानने मे घाया। वो नाम अपनी-अपनी राह का सचते से। फिर यह मुझे क्या हुआ ?
 यहाँ ब्रूति मेर है बरं मेर है। फिर मुझे क्या हुआ कि अपनेल देल बैठ ? माठ करना
 मे अपनी राह कैसे छाड़ूँ ?' यह स्पष्ट है कि ब्रूति मेर और बर्य मेर की बात झूठी है।
 बहु घामप्रबचना है। इस घारमप्रबचना को साबंक बनाने के लिए (अर्थात् मुबन
 मोहिनी के सामन कान्तिकारी बनने के लिए) ही बहु उसके जेवरों की चोरी करता है,
 परन्तु घमन मे उमना प्रेमी मन जमे अिनकारता है और बहु बल को तोड़ कर जेवर लौटा
 देता है। बीच के साने प्रसय भीतर स समत और तरस होते मन को छिपाने क प्रयत्न-
 मात्र है। मोहिनी के लिए प्रतिदलन शेष नहीं है बहु गुरुत पतिनिष्ठ है बलपूर्वक चाहे
 ता बहु जमे नहीं मिन सकनी। इन सत्य का समझने पर बनों का धौबेरा सामने मे इट
 बाणा है। मारी मारी है प्रेम बनों से ऊपर है। बैरिटर नरेय के प्रति क्या मोहिनी का
 कोई कर्तव्य नहीं है। जितन का प्रेम ही जब उसके लिए अन्तर्दाह बन पाया है। उसमे
 जितन के मन की बुबलता का ठीक ही पहचाना बा और इसी मे बहु बिस्वासपूर्वक नरेय
 की हो सकी। नरेय से प्रतिरोध पाकर जितेन के प्रति उसका प्रेम मरुबता परन्तु उबर
 से उबारता और सहानुभूति पाकर घर का बन्धन मुड़ हो जाता है और बाहर का प्रहार
 बिमुख हो जाता है। फलस्वरुप बय-मर्का का बर्धन बहुत दूर नहीं जा सकता। बन्धी
 मोहिनी के काठिय मे जितेन बा परं हीमा पर जाता है और उसे घाने मन की सनता
 का स्वीकार करता पड़ता है। इन ई ब मनम् का तिन्नी मनीमति समम नई है क्योंकि
 मारी प्रहरक माबुक है घमन पिट-सगमम प्रेम और प्रताड़ना का बहु मनीमति
 समझनी है। बहु पुछनी है 'एक बात पूछ बहुत। तुम्हारे यहाँ बहु बीमार रहे के।
 तुमने सेवा मे उन्हें अच्छा किया। फिर बहु ऐसा क्या करते है? तुम्हें क्यों सताते है ?
 माहिनी क पास इसका उत्तर है कि बहु उसे मनीरी का बरब देते है। परन्तु जब तिन्नी
 और भी घाने बड़ कर पुछनी है बहुत बुटा न मानता। तम उन्हें क्या सताती हो'
 तो मोहिनी स्वयं रह जाती है। तिन्नी कहती है 'देक को बहन हम सोचों के पति भी
 होते हैं परमस्वर भी होते हैं। पति को परमस्वर भी मानने को कहा गया है। क्या यह
 एक हीनिय नहीं है कि प्रेम का अस्वीकार हुआच बरं नहीं है। तुम क्यों उनके प्रेम को

धीमे स्वाकार नहीं कर सकी ? विवाहित थीं तो ।" यही मोहिनी उसे रोक बैठी है ।
कहता है 'तिली नहीं मैं तुम्हें बहकने न दूनी ।

परन्तु यह रोकना क्यों ? इसीलिए न कि मोहिनी अपने भीतर के दर्द को देरना नहीं चाहती अपने व्यक्तिगत के वरम तारी-यज्ञ को वह छिपाना चाहती है । परन्तु क्या यही स्वयं जैनेन्द्र का प्रति-पत्नी के प्रति पत्नी (नारी) के दृष्टिकोण बाबा ठरं वन्द्य पत्नियों में नहीं पहुँच गया था । वास्तव में इस त्रिकोण के दो कोण इस तरह बढ़ते गये (बहार होते गये) कि तीसरे कोण का परामर्श आवश्यककारी था । परत प्रेम का स्वीकार करने की बात यहाँ उठी ही नहीं । मोहिनी का अपरिचीन सेवा भाव धीरे प्रति प्रेम धीरे गरीब की पत्नी के प्रति धारणा प्राम्बा ऐसे तन्त्र है जो जिनन का विफल कर देता है । स्वयं जितेन को पता मयता है कि वह विषय में पडा है वह अपने भीतर के अन्तर्गत में गिर गया है जहाँ यह की दुर्बलता धीरे प्राम्बकृष्ण को उसने जालि की पुकार मान रखा है । उसका दुःख मन धमीरबादी मोहिनी के प्रति धारणा है धारणा है इसी से वह उसके प्रेम को स्वीकार नहीं कर पाता । कह सकता है कि वह अपनी बर्गीय कृष्णधर्मों में बैठा है । परन्तु मोहिनी पर धमीरबादी बनने का आरोप नहीं किया जा सकता यह कहा जा सकता है कि उसने जितेन को छुटा । यही विषय उसके भीतर है जिससे छुटाया जाने के लिए उसे बाहर की 'जेल' को स्वीकार करना पना है । जितेन स्वयं यह स्वीकार कर मता है कि वह उठी में था । "यब तो यही जानते थे कि वह साजारी का जालि का जितेन की धारणा का काम कर रहे हैं । यह मैंने उम्हें बताया था । जेलिन भीतर में ही यह खूब नहीं जानता था । वे लोग जानते थे धीरे मानते थे । मैं जानता भी नहीं था मानता भी नहीं था । इसी से धारणा में मेटा था । अपने अन्त में प्रसन्न था परन्तु उपस्थाप के अन्त में 'विषय' की कथा की इस भूमि पर से जैनेन्द्र धारणा के सहजे में जोसने मयते हैं तो धारणा ही जाना है कि 'हम यह है कि यह जेल है धीरे हम झँदी है । जेल भगवान् की है उँदी हम भगवान् के है । एक यही हम है मोहिनी नहीं तो अपनी नहीं' से 'हो' की छाना नोचत उन्हें धीरे 'हो' हम से कभी खुल न पाये (पृ० २२६) जितेन की इस विकलता में भगवान् नहीं से भा बैठा वह जैनेन्द्र ही जानें । इतना प्रसन्न कहा जा सकता है कि जितेन की मोहिनी के प्रति भूषा भूषा नहीं थी वह प्रेम ही था परन्तु यह बोर्ड बड़ा दान नहीं है । बड़ा यों है कि स्वयं जितेन से इसे स्वीकार किया परन्तु फिर भी वह अन्त में अपने को भगवान् का न' की बना अपने प्रवाहित मन को छसना है तो उसे क्या कहा जाये ? इस दुर्बलता से बर्गन के महान् प्रसन्न उठाये जाते हैं कि 'किसे मरना है धीरे जोस दिने मार सकता है । अन्त-मृत्यु तो है बिना इनके सृष्टि नहीं । नाम के में अन्त है इन्हीं धीरारों से उचली ठक रचना है । इस विषय में राम क्या धीरे उचलना ? नहीं मोहिनी वह नहीं है । धीरे नहीं है क्या नहीं है कुछ धीरे है वह ही है, मरना नहीं हो सकता ।

बाद कर लो घगन् नहीं हो सकता। उसकी हसी ही नहीं। बो नहीं है वह नहीं है।
 कितना भी कर लो नहीं बनी हो नहीं आया फिर भी बो घसन् हीता है क्यों
 होता है ? मिथ्या क्यों हो जाता है ? बुरा क्यों हो जाता है ? ईश्वर के सर्वशक्तिमान सर्व
 स्यायी रहने दौरान बर्बा हुआ है ? कहाँ से हो जाता है ? यही सवाल है।”

इस प्रकार आत्मदर्शनना को भगवान् को सीप कर (या धनुषके काम प्रवाह का
 धनिबायं बक मान कर) समाधान पाने का प्रयत्न किया जाता है। प्रकृति फिर भी बने
 रहते हैं क्योंकि अहापोही प्रश्नों का तो प्रत्य ही नहीं। यह स्पष्ट है कि प्रश्नों से जीवन
 जीनेन्द्र लूब आते हैं क्योंकि यह आसबस्त भी है कि समाधान उनके पास नहीं है उन्हें
 देना नहीं है। इसीलिए विश्व की मुद्रा के निम्न आते हैं जो कभी-कभी दबनीय भी हो
 उठती है।

साहित्य सभी प्रश्नों का प्रत्य भववान् पर क्यों हो ? परन्तु सामाजिक प्रश्नों के
 दूसरे ओर कर कर करने वाले लख की धीब न यह करने पर ही क्या जीनेन्द्र भववान् को
 नहीं से घाने जिससे पाठक भय में पड़ जाये क्योंकि उत बहुत को आगता सीत है ? इस
 प्रकार जीनेन्द्र के उत्पत्ता सामाजिक आन्तिकारिता को कुण्ठित कर बैठे हैं और मूल
 बड़ चिन्तन से चल कर घाने प्रश्न विश्व पर ही समाप्त होते हैं। उन्हें समाज की यथा
 तप्यता सहा है। भीतर की आन्तिकारिता उनके व्यक्तित्व का घंघ नहीं है। उनके
 भीतर का दार्शनिक (यकन् लघुजीव व्यक्तित्व) उनका बाहर के सामाजिक मन से पीछा
 छुड़ा कर अपने खोल में छिद्र कर अपनी दुष्टता कर बैठा है। क्या इसे 'बहुधा-बर्भ' ?
 नहीं कहा जा सकता ?

यह नहीं कहा जा सकता कि समस्या से जीनेन्द्र परिचित नहीं है। उन्होंने अति
 बर्भ की बातें बितेन कं युद्ध से पूर्व कहाई हैं जैसे पु० ८१ पर बितेन मोहिनी के सत्तर में
 कहा है 'तोड-फोड से उलट-मुलट से क्या होगा ? आगता हूँ कुछ नहीं होना पर
 नीब तुम लोगों की ऐसे टूटेवी पर आब टूटनी नहीं चाहिए, पट्टी होनी चाहिए।
 ऐसी कि वह नीब बन जाये। पर मैं मूल में हूँ। बिन्हीं सोना है ने नहीं आवेंगे। मरवा है
 ने बर्भ भी क्यों ? लेकिन और बहुत से लोग हैं। तुम लोगों के बड़पन को घपने धिर पर
 केकर उन्होंने घपने को नीब बनाया है। तुम्हारी जैबाई उनके नीबपन पर टिकी है उन
 को वो आगता है। उनको आपना धीर जान सेना है कि वह बीछा है। बकाके की
 पाबाब ही उनके काम में पहुँचिची घास्त-अपघेघ की गही। तुम लोग बैठे अपनी पहिवा
 को केकर। बीनियों को बूच तिलापो धीर हार पतनी धीर अठोर बचन से बर्भो। हर्भ
 अठोरता से ही काम बना है। बलोसना बहुत हुआ। लालों उसके बीचे पामाक हुए हैं।
 पीछा पुजता है धीर सम्पत्ता का छल फैसला है। तुम्हारी यह दुनिया है। यह दुनिया
 बबाबा नहीं रहने पामेगी। बर्भ की सीड़ी हुई पाब लुन पर है, भवनिबत बक घाई
 है। घने के घन घाता है धीर बन से बर्भ पतता है। इत पर्यन्त का अष्टाष्टीक कर देना

है। हममें जाने आयेगी और बेहतर मर्तबे पर आप भी इससे होगी।" परन्तु उनकी यह आत्मिकारिता उनके उस हृदय में दूब जाती है जो सब कुछ घनिर्बन्धीय मानता है सब कुछ प्रतीति धरता था। यह दार्शनिकता ही बन्ध्या है। जैनेन्द्र के दर्शन में बुनिया में कई पत्तों हैं और घाघमी में कई घाघमी। है तो एक पर हीकता है प्रतीत होता है इसमें है विस्मय। प्रतीति जाने से ही व्यपत् है। प्रतीति है माया इससे जगत् माया है। माया-ममता होने की धर्म है। यही होने का आनन्द यही उभरा उभर। अपनी प्रतीतियों में सब बर्तन करत है। इससे सदा मये-मये पंच पडते है। दाय्य होना और छोटे रहना छतना ही है। पर छोड़ो इस उबेक-बुन में क्या रखा है? इस प्रकार वास्तविक को अवास्तविक बना कर बसल से उन्मत्त-बला की हानि होती है। हृदय की उच्च भूमि से खेचने पर हमारी युद्ध मानवीय संवेदनाओं की विज्ञपनी असायक हो उठती है विराट् में लुप्त दूब जाता है परन्तु उन्मत्त मानवीय संवेदनाओं की ही भूमि लेकर चतता है। अनुप्य के मन की उन्नतार् ही उभर अस्त है। वह उन्हें प्रतीति-मात्र मानेया तो उनके सखन में यथार्थ की अस्ति कही से धारणी? मायमता कही से धारणी यह स्पष्ट है कि यह दार्शनिकता का अतिरेक जैनेन्द्र की उन्मत्त-बला की विदम्बना है। वह सहसा इतनी ऊँची भूमि से बीसने सगते है या उनके पात्र इतनी ऊँची कारण-भूमि धारण कर सके है कि बटनाई नितान्त दुःखता में अपनी धार्यता को बीसनी है और पात्रों का उभर भूमिल पड़ जाता है। अवाच्य पटनाओं और पात्रों का इस प्रकार कुण्ठित और प्रतापित करने से उन्मत्तकार के दह की विधि होती है वह विधाना का प्रतिकर्षण बन जाता है और मनोविज्ञान एक मनोविस्तेपण-बान्ध की मारी माय्यताएँ जैसे ठिरोमूत हो जाती है। वह सगर्ब वह सजता है कि "जो है ऐसा है। परन्तु क्या वह यह भी नहीं जानता कि दह वास्तव में ऐसा नहीं केन्द्र में उभर मूट्टा का धर्म सख्ये विराडमान है।

३

‘विद्युत’ है जिनेन और मोहिनी के मन का। जब वेचना के पत्त-पर-पत्त लुप्तते है तो उन्हे पता सपता है कि ब घनने से दूर माय रहे थे और इसी में उन्हे अपनी मुग्धा समझे थी। परन्तु मुग्धा ऐस नहीं है। मुग्धा है लुप्तते में। मन के धारणों में ही मरण है। ‘विद्युत’ ही एकमात्र मार्ग है। परन्तु अन्धकार ने प्रकाश में आना कठिन है। उभरक लिए साहस चाहिए अत्यन्तिका चाहिए। बान्धन में मन्ध मे भाव कर घनने का सुखिन अपना ही हास्यान्ध है। जिनेन और मोहिनी के लिए परस्पर का प्रेम बन्धन ही सन्ध है परन्तु इस माय को स्वीकार ब बन करत है? जमाप मय्य और स्नेह बेटा हुआ है। यही विदम्बना है। जिनेन हृद मय्य अमथा अन्धकार (अन्धवी सामाजिक अन्धमत्ता) के लिए अपनाते है उस हम अपना स्नेह नहीं दे पात और अन्धम स्नेह-अन्धकार जुड़ना है उभरक माय का अन्ध-य स्थापित नहीं होता। बान्धन में यह पट्टी अन्धमत्ता जीवन को अविद्या बना देती है। हम भीतर के सत्य को बाहर करता नहीं चाहते और

अपने स्नेह-सम्बन्धों की पवित्रता धार्मिकता को स्वीकार नहीं कर पाते। जैनेन्द्र ने इस समस्या की व्याख्या विस्तारपूर्वक की है। हम बही करते हैं। बहुत भरोसा अपना बांध लेते हैं। ऐसे सच को छोड़ देते हैं। झूठ को छोड़ लेते हैं। झूठ के तार बंध होते नहीं हैं। वह बंध नहीं सकता। बलता है तो सच के तारों पर लपार होकर। बुद्धिमानी के जोर पर जब हम उसी को बताने की हिम्मत करते हैं तो मित्र विपत्ती है और लजता है। जैसे हम हारते जा रहे हैं। पर हार वह हमारी नहीं होगी। विघ्न मिथ्या की होती है—वैसे ही बीत हमारी नहीं हाती। विघ्न सत्य की होती है। कंठे होया योग इन दोनों का सत्य का और स्नेह का मन्वान् जाने। लेकिन जैसे नी हो धारमी को बही करता है। स्नेह को भी नहीं छोड़ना है। सत्य से भी नहीं विगना है। स्नेह उसका बीजण है। धर्म उसका बीज्य है। दोनों के बिना वह नहीं नहीं है। लेकिन दोनों में मेल जो पूरा तरह नहीं बैठ पाता है। यही उसकी समस्या है। इसी में उसका पुस्कार्य है।

परन्तु यह लजस्या को सुदमातिकुरम बना देता है। कहना यह है कि हम उसे क्यों नहीं अपना सकते। जिससे हम प्रेम छोड़ते हैं? क्या उससे भावते हैं। धीरे सत्य मा व्यवहार की बीमार के पीछे मुरवा डूबते हैं। यही जितेन-मोहिनी के साथ हुआ। एक ने विवाह की पाइ ली। दूसरे के बर्ष-संबर्षमूसक अन्तिकारिता की। दोनों ने अपने मन के धर्मतम स्नेह-मूर्तों की धोर से धाँव बाँध ली। फल क्या हुआ? जितेन बला गया। जेल और पीसी की आठलापों में उबने अपने मन की इस लसता का प्रायश्चित्त किया। धीरे मोहिनी? क्या सब भी वह बही बँधन मुबनमोहिनी है जो अपने में उड़ना चाहती है? स्पष्ट ही वह नहीं है। वह टूट गई है। वह बह गयी है। उसके भीतर का केन्द्र ही लुप्त हो गया है। परेश की उबारसपता से कर क्वाचित् सब भी बन सकैया। क्योंकि उसने जो हृदयों के टूटने का धर्म गुना है। परन्तु मोहिनी वह पहली नहीं रही है। मनुष्य जब अपने भीतर के स्नेह को धरवीकार करता है। धीरे सोफ एवं धाम्न की व्यवस्था लेकर बलता है तो यही होता है। क्योंकि वह अपने से मायता है। धीरे अपने से नाम कर बहुत दूर जाया नहीं जा सकेगा।

जैनेन्द्र के इस उपन्यास में प्रेमगाथाओं का त्रिकोण परम्परागत स्थिति को छोड़ कर एक नुमरा ही बन धारण कर लेता है। वह भीतर की व्यवस्था बन जाता है। वास्तव में वह त्रिकोण है, जो नहीं क्योंकि नरेण उबारसपती है, लभनायक नहीं है। जितेन धीरे मोहिनी के बीच में क्या है? बर्बन्धता कि मोहिनी धरवीकारणी है। वह अलस है। क्योंकि प्रेम नहीं मोटर-बँगता देने बीता मोहिनी मानती है। परन्तु क्या मोहिनी जितेन से जान कर स्वर्ब अपने को नहीं छलती? यह माना जा सकता है कि वह जितेन के प्रति अपने प्रेम को बेलता के निजले पत्तों में छिपा लेती है। परन्तु मन्त में तो भीतर का बर्ब बाहर बाहर ही रहता है। तब भी वह जैसे जान कर नहीं जानती। परन्तु एक समय जाता है जब ऊपर का बीज सड़ता उतर जाता है। धीरे बुद्धि की धरवीकार धीरे कर्तुत्व

के नीचे प्रेमिका का समर्पित व्यक्तित्व स्पष्ट भ्रमरूपे मयता है। यही 'बिबर्त्त' की कहानी है। परन्तु अपने को पहचान लेने पर भी भ्रम क्या कोई मार्ग बचा है? धामय नहीं। क्यों बिबाह की पवित्रता को जैनेन्द्र भ्रम भी बनाये रखना चाहते हैं और मोहिनी के उबाराघयी पति नरेन्द्र के सहज प्रेम को (जो उसे अप्रत्याशित और भरपूर मिमा है) जैसे टुकरा दे। सब तो यह है कि यह समस्या समाधान के योग्य है भी नहीं क्योंकि मनुष्य का मन बराबर छसनाघों को बग्म देता रहेवा और वह बराबर मरु-मरीचिकाओं के पीछे दीड़ेगा। हाँ यह सम्भव है कि बर्गबाह जैसी असत्यता को बीच में न धामे दिया जाये और स्नेह को प्रभाव रूप से स्वीकार किया जाय। यही 'बिबर्त्त' का संदेश है। सत्य के प्रति प्राप्रही और उबाराघयी बनकर ही कदाचित् प्रेम-सम्बन्धी या वैवाहिक जीवन की विदम्बनाघों से बचा जा सकता है। हार्डी में वैवाहिक विदम्बनाघों के पीछे नियति है। घरम् में चारित्रिक असमानताघें जो कसा को मनोमिच्छ बना देती है, परन्तु चेतना के पक्ष के नीचे छिपे प्रेम (बिबर्त्त) या असन्तोष (मुक्तबा) या प्रतिकार भावना एवं प्रर्भ सिप्या (कम्प्याली) या पवित्रता अपवित्रता का सामाजिक बिप्लास (त्यागपत्र) मानते हैं। उन्हींले नायी को तन-मन के द्वन्द्वों में केन्द्रित करना चाह् है। मन प्रेमी का है, तन पक्षि का है। फलतः नायी टूट जाती है। चर की सीमा का उल्लंघन वह नहीं कर पायी फलतः प्रेमी का जीवन बु-साप्त हो जाता है। वह पत्नायन या जेस में ही अपनी सुरक्षा समन्वता है। यह प्रेम की पराजय है या बिजय यह नहीं कहा जा सकता।

द्वयतीत

'विद्यार्त्त' के बाह्य व्यतीत" धार्या है। यह 'वैनेन्द्र' की मधीनतम रचना है। उपग्रहात बहु बडा मही है — केवम समी नहानी कहिए जो घाट बड धर्यायो में कह री गई है। मरुति बहु बीबन की एक बडी बिजपनी सिमेट भिती है कवि अमन्त के जीवन के समय पन्चीस वय। परन्तु इन पन्चीस वयो में कवि अमन्त ने क्या किया है ? वैनेन्द्र का कदाचित् बिबवास है कि कोई कय्या क्या है होला क्या है ? कवि अमन्त का कुछ हुपा है। सो उके लेखन ने इन एक-ही मत्तर पुच्छों में साकेतिक रग से कह दिया है।

हुपा जाहे जो हो उपग्रहात के धारम्भ में सैरक हुमे बताता है कि कया का नाबक टूट गया है — व्यतीत है। पैनालीस वर्ष की प्रवन्धा में ही बहु बीत कर रह गया है। यों बहु बहुत बडा है। दो-एक अमह अमक अग्म-विम मनानी का भी धापाजन है। इय पर उके हँसी धाती है। "म दूने की प्रक्रिया में कंठे बहु इतना सम्माननीय हो चय हमका को" प्रस्य मलक हम पर मही कोसता।

(कया का निकोग अदन्त धनिता धीर मिस्टर पुरी से बकता है। कया वैनेन्द्रीय ही है। अमन्त के प्रति गह्य धामचित-भाव होठे हुप भी धनिता मिस्टर पुरी से किवाह सुन में बेश गई है। परन्तु उधके नीतर जो है ससंसे हूटना उगके लिए धसम्भ है) बहु अमन्त को सोचना नहीं चाहती उसक धकतु रक का साग उधरजावित्त बहु धपने उधर धाड भेती है। दूटने की प्रक्रिया उस समय सुरु होती है जब अमन्त पिता-परिजन भक्षिय की उपेक्षा करता हुपा धाई सी० एस० की परीक्षा से बिठल होकर पबहत्तर की पखबादनबीसी पसन्ध कर लेता है धीर कविता का बहाना सेकर धपने धबधमित मन की धासक्ति को कर्मधना का मुसाबा पैठा है। परन्तु मुताबा मुताबा है। बहु कितने विन टिक पागा ? धनिता उसे हूँद भेती है धीर एक विन उसकी पुर्तम्बित कोठरी में धा धम-वती है। बवाती है मसी के बाहुर मोटर में बहु है। ससके पति। फिर अमन्त के यवा करने पर भी पूरे मक-मय से रकबर में जाकर धधमनरक अमन्त को ससके नासिक से छुट्टी दिवता कर पति के संरक्षण में "धो" में से जानी है। तीन सग्याएँ ऐमे ही बीतती हैं धीर अमन्त में सस के प्यारु बने धर पर धकेती पशुध कर धीर पिता की मरमासन्ध

स्थिति की खबर देकर धनिता जयन्त को उठाता चाहती है कि उसे स्वयं नीचे नहीं उतरना पड़े परन्तु जयन्त व्यवस्था मर्यादा और सामाजिक स्तरों की बात में उसे झुमाना चाहता है। पिता की मृत्यु होने पर जयन्त घर जाता है तो धनिता भी अपने पति मि पुरी के साथ पहुँच कर उसका साथ प्रबन्ध कर देती है। बँटवारे में जयन्त के हाथ बार्ड हथार बरमा प्राया है। वह उसने बड़ी बहू को दे-दिया है। धनिता इसे ठीक नहीं समझती। किसी तरह वह जयन्त को नहीं रोचना चाहती है। घर संभालने के लिए नौरर रख देती है पर धनिता के आते ही जयन्त फिर काम पर भा जाता है। परन्तु सब परिस्थिति बरबल गई है। जयन्त के उच्च सम्बन्ध को मासिक ने जान लिया है और वह चाहते हैं कि जयन्त के द्वारा वह मि पुरी तक पहुँच सकें और उनके ऊँचे सम्बन्धियों में अपनी कम्पनी के शेयर बेच सकें।

इसी प्रयत्न में सुमित्रा से जयन्त की भट होती है। वह उसके मासिक की पुत्री है। मेडिकल में पढ़ती है पर कविता भी लिखती है। दोनों पास आते हैं। सुमित्रा को हिन्दी का गहरा ज्ञान कराने के बहाने मासिक दोनों को पास आते हैं। इस बीच में स्वयं जयन्त के मुहूर्त्त में एक काँच घटित होगा है। कसुमा ताड़ी पीता है और उसकी घट्टारह बर्ष की बेटा बुधिया को उसका कर्ज चुकाने के लिए बूसगे को धपना तन देना पड़ता है। एक दिन सुमित्रा के यहाँ से लौट कर जयन्त देखता है कि वो सूदखोर घापस में ही बुधिया के लिए सब रूहे हैं। पिता ने वैसा लिया है। बुधिया ने तन से वे बसूम करना चाहते हैं। जयन्त बीच में पड़ कर बुधिया को बचा सेता है। यहाँ हमें बुधिया के बर्तन का भी पता चलता है जो मृगाल क दण्ड की ही प्रतिम्बनि है। कहती है — 'बाबा हूर किसी से पैसा से-नेते हैं और बाके ठाड़ी में पूक देते हैं। माँ मई तक से यही हासत है। मैं अपने बस किसी को नहीं लौटासती। लेकिन बाबा घबल बेचते ही मुझे मारने लग आते हैं। बुधिया को उन्हें मारती है। मैं शिकायत नहीं करती लेकिन तन कभी बहुत पीर दे पाता है। तन पीर दे पाता है तभी लौटासती है नहीं तो जिसका पैसा लिया । यह बर्तन पीड़ितों क बर्तन के रूप में उपस्थित किया गया है। दादा अपनी लज्जा छिपाने के लिए मारते हैं। मुम पैसे का है। ताड़ी के लिए पैसा चाहिए। पैसा पिता को चाहिए। बुधिया उसके बचत में तन देती। तन को वह यों ही तुच्छ समझ कर दे डालती है, मन उसका मला नहीं है। लेकिन इस प्रसंग पर से बिल्लन करता है, मैंने बुधिया को देला। क्या उसके लिए मरा भाषा मुका ? तन मिट्टी ही तो है। सासब बडात है कि वह धपना नहीं है। क्या बुधिया ने इसी नर्म को पाया है ? जयन्त तन उसका नहीं है जैसे उसका छोड़ सब का हो।

तन की घसारता की बात मासिक है नैतिक है। जैनेन्द्र उसे दुपानदारी की चीज बना देने हैं यद्यपि वह यह धापह करत है कि यह ईमानदारी का चीज है और कि घामन्व इष्ट नहीं है कर्त्तव्य इष्ट है। यह स्पष्ट ही धनिवार है। एक घोर सुमित्रा है जो

पैस के बल पर प्रेम खरीदना चाहती है, अर्थात् के काम को उत्तेजित करने के लिए वसुधा भारी तस्वीरें बिलाली है। विभिन्न सम्बन्धों में होने पर भी काम-वस्तु है और जो अपने के मोह का खेल कर उसे खरीदना चाहती है। दूसरी और बुधिया है जो सख्त नारीत्व और नारी की ममता से भरी है। जो देना चाहती है लेना नहीं चाहती। कल कला प्रकट करने का एक ही ढंग उसे ज्ञात है कि वह उन को प्रेषित कर दे परन्तु इस प्रकार गुण और बस्तुका धारणाना को क्या हम मुनिना के अविज्ञानगर्भित निष्पत्ति से छोड़ देंगे। बुधिया के लिए तब कुछ नहीं है। अविज्ञानगर्भी मुनिना के लिए तब ही सब कुछ है। इसके लिए वह सर्वस्व देने को तैयार है। उच्चवर्गीय नारी के पतन का वह चरमबिंदु है। श्रीकान्त की तरह अर्थात् भी इस परिस्थिति से उबर जाता है। पिता का दहान्त हो गया है। उसे जाना है। पत्नीता का प्राप्ति है। परन्तु बुधिया जाने की बात सुन कर भी विचलित नहीं है। उसका धारणाना प्रकृत्य है। वह अर्थात् को प्रसन्न देखकर ही तृप्त है। अर्थात् निर्मोही है परन्तु यहाँ सपना ही मोह के परे हो यहाँ यह निर्मोहीपण काट कौन पैदा करेगा? बहुत दिनों बाद जब प्रकृत्यात् बुधिया मिलती है तो विवाहिता है। बच्चों की माँ है परन्तु अर्थात् के प्रति उल्टी स्नेहभाव से बनी हासमुखी है।

अनिता से नोट होती है। बलि पुरी बड़े स्वच्छतायी है। सेंकड़ों तरह के काम होते हैं। वह कोई एग्जेंसी से-से तो कौता हा। परन्तु अर्थात् का मन घटा है। अनिता के उपकार के बोध को डोना उसके लिए सम्भव नहीं है। वह बुधिया की बात का इतिहास कर देता है और इस प्रकार अनिता को अपने प्रेम की याद दिलाता है। परन्तु वह किसी की एग्जेंसी नहीं ले सकेगा। चाचा-भाचा में काम नहीं करेगा। वह तड़ाई पर जायेगा या घीन लेगा। अनिता सब जानती है सब समझती है। वह अपने को खोने के बहाने हैं। जीवन वह खोने नहीं दिये। अनिता सबसे विवाह कर लेने का प्राप्ति करती है। परन्तु स्वयं ही बर्ष उसके विवाह को नहीं हुए और चैन जला गया है। अर्थात् किसी नाभी की विध्वनी बरबाद करना नहीं चाहता परन्तु अनिता चाहती है कि वह बर्ष विवाह। वह क्याचित् उसकी सपनी सुरक्षा की माँग है क्योंकि वह बाँध कर अर्थात् बैठता तो उसका भी घर बना रहता। यहाँ तो वह अज्ञानामुखी पर बैठती है। जब सब बात समझा कह नहीं सकती। फिर घर बने या अबड़े उसके लिए तो अर्थात् ही ठीक है।

बाहिर एग्जेंसी की बात कुछ मन में घरा जाती है।

परन्तु तभी मिलता है कुमार जो बिलायत जाने वाला है। साम में पत्नी है उदितता और कविता है अग्नी (अग्निप्रकृता)। इनका मत रहा है। उदितता उसे नहीं छोड़ना चाहती तो अग्नी भी हठ पर है। अग्नी का ठिकाना कबे तो उसे चैन मिले। कुमार अर्थात् का मित्र है। उस पर लिया है। अग्नी को वह भेज ले। उदितता का दावह है कि वह कुछ कर सकता हो तो करे। परन्तु अग्नी बुन में है। कुमार का तब छोड़नी

बस उठे पूर्वतया से सेगी । वह काम-काजी है व्यवहारि है । हाथ का छोटा क्यों छोड़े ? परन्तु बन्नी की जो मौम है, उसे देना बयल के हाथ में नहीं है । अन्त में बन्नी इस चहस्य को समझ जाती है और कुमार की खोज में बम्बई जाती है । वह उरिता के साथ बहाव सेमी और किसी प्रकार की सुरभ्रत नहीं करेगी ।

फिर बयल अनिता के पास भीट घाटा है और मुझ में जाने की बात सटाता है । क्योंकि उसे प्राल देता है । परन्तु मुझ में न आकर वह बम्बई जाता जाता है और बन्नी को कुमार के साथ जाने से बिरल करने में सफल होता है । फिर घबट घट जाता है । अनिता को छुट्टी देने के लिए अन्त बन्नी से विवाह कर देता है परन्तु क्या है वह विवाह जो अपने को बचाने की नीयत से किया गया है । इस प्रकार विवाह की बात को लेकर अयल अन्त वर्तन का साम्य लेता है और अपने को छमता है, "जहूँ है विवाह करते हम हैं होता धनवान् के यहाँ है । यह भी सुनता है कि अन्त-अम्पान्तर एक विवाह की व्याप्ति है । दो एक-दूसरे से एक इस मन में ही नहीं होत पहले से जाने पाते हैं । इतने यह काम कर्तव्यता से नहीं होता भविष्यता से होता है । सचमुच ऐसा ही लगता है ।" अनिता उसके मन के छल को पकड़ लेती है । उपकार की नीयत से किया गया यह विवाह किन्तुने दिन टिक सकता ? क्या वह बन्नी को छोटा नहीं करेगा ? स्वयं अयल स्वीकार कर लेता है कि यह व्याह की बात झल है । वह वस्तु जो बसी गई, लौट कर इस जीवन में धाने वाली नहीं है । अन्त से त्विचित्र अतिथय कम-कुमान बड़े कुल की मान-मयीया में अयल ही बुल्य और समीचीन अनिता अयल के भीतर के दर्द को पहचानती है और मन जाती है परन्तु विवाह हो जाता है । मि० पुरी की कार्यकुसमता से सब सब जाता है ।

विवाह हो गया । अनिता बनी गई । हुनीमूल के लिए अम्पति कश्मीर आवेगे । पत्नी को बताना होता है कि मि० पुरी अपनी मिसेज के साथ से एकादश में आई हुरार जेडिट कर गये हैं । यही से अज्ञा के मन में संदेह का सूत्रपात होता है और अयल उसे किसी प्रकार आश्वस्त नहीं कर पाता । इसके बाद ही कथा अज्ञेय के उपन्यास 'गरी के डीप' की कथा है, अर्थात् उसमें मोक्षता नहीं है और साहित्य एवं संस्कृति का अन्तरो-आवरण उतार दिया गया है । हुनीमूल के लिए अम्पति कश्मीर आते हैं, परन्तु अयल बन्नी का नहीं बन सक्ता । भाषा-भागा रहता है । अन्त में बन्नी उसके भीतर के दर्द को समझ जाती है और हट जाती है । सभी घटीया से तार मिलता है कि अर पर बोरी हुई है । दोनों लौटते हैं । अनिता चाहती है कि अयल बन्नी का बन कर रहे पर बन्नी अयल के भीतर की पीड़ा को पहचान कर अयल-अनिता को अलग देना चाहती है । वह सब कुछ मौन की छोट कर लेती है । परन्तु अनिता अपने मन से सहने में असमर्थ है । वह अनाचार को यह नहीं सकृती । यह बनी जाती है और बन्नी भी बोझ नहीं बनना चाहती । अयल उसके लिए सोच में क्यों पड़े ? यह भी पिता के यहाँ बनी जाती है ।

अमल के लिए रास्ता चुना है। वह कमीशन स्वीकार कर सता है। प्रस्तुत और प्रबंधनीय बन जाता है। अल में वह जान पर पस आता है परन्तु मुख्य के पहले यश की प्राप्ति होती है उसके अनुभव पराक्रम के लिए खरीते उठते हैं। जोय उसके भाव्य पर विस्मय है ईर्ष्यासु है। समाचार-पत्रों में छपता है तो प्रमिता और अमरी बातों सिखते हैं। अमरी के एक सम्बन्धी सिबिस गस्टर है। अमरी में सिबिस विमा है। उसके भेज डा० कपिल पाते हैं। वे परिचय प्राप्त करते हैं। उनकी पत्नी उन्हें घौभासेवी। उनके पास क्या है सम्मान और प्रकुष्ठित सेवासाम और मुम्बान के सिबा। कपिल-अपनि के साथ है डा० अषाधर के मसिप हाम में इतनाम होता है। अमरी उनकी कबिल है। अमरी धाई। परन्तु सिबिस कपिल की सिफारिश लेकर धाई। तीन दिन से अमल उगे लीग रहा है। बाकी नहीं अब और आपन नहीं कर सकती। कुछ भी तो वह साथ नहीं करती एक साथ कहती हैं और वह चुनचाप लौट जाती है। कहनी हैं तुम्हें कष्ट होना और फिर वह एक साथ कुछ नहीं कहनी सीपी मुड बन अनी जाती है। साथ मुमबन्दा साई पून सब ठाका है। देखो यह देखो। देकर बिना कुछ नहें अनी जा रही थी। मैंने रोऊ लिया है। बिना धाई है कि देखती हैं ठीक हुए तो अनी बुलावे मानी हैं। मैं इस बार उन्हें भास नहीं कर अनी चुनाऊ। परन्तु अब इस पर भी अमल सिबिस कपिल को अनी जाने को कहना है तो अनी समझ जाती है, प्रमिता का आहू उत्तरा नहीं है। वह अठक-अठक कर रोने लगती है और अमल कुछ कर नहीं पाता। अमल की इत प्रतिक्रिया को उपन्यासकार ने विस्तारपूर्वक सिबा है (पृ १४३ २)।

अषाधर के घर से अमल कपिला के घर आ गया है। उसके संरक्षण में उसे अमिली का सीहारीम पिना। कई हफ्ते बीत गये। अकस्मात् पति के साथ प्रमिता का अमली और पति पुरी की कुम्हत कड़ी है। वे पत्नी अनीता को अमल को सीप कर लौट पण। साथ ही कि अमल अब प्रमिता है और उसके प्राण बचाना है। पति उबार है। वह प्रमिता को अमल को सीप कर हट जाना चाहते हैं। कपिला ने इनका अनुमान कर सिबा है और स्वयं अमल इसे समझ कर अनी छोटाई से प्रसन्न है। फिर भी वह अने को छल कर अमल की छोड़ सता है। उत को पुरी अने गये और होदल म प्रमिता और अमल साथ-साथ लौटे। आड़े की उत उत में प्रमिता और अमल के हृदयों में जो पुच्छत उठा उन अमल ने बड़ी उत्कं एक लंयन सिखती से विविध किया है। अनीता को भीउपी कष्ट है। अमल ने अनी न अने के लिए (या उठी को पाने के लिए, जो मूलत एक ही बात है) अमन प्राणों को सस्ट में डाला था। वह अमल सब कुछ बेकर भी उसे क्यों नहीं बचाये? पति उस अमल का दे गये हैं। परन्तु अमल दुबिना में है। अमल अब जानना है कि वह मन स पुरी की नहीं उसकी है तो अमल को निमाने हुए उन जेने से इन्कार क्यों करवा है? यह दुबिचा प्रमिता की समझ में नहीं आती। यह

कहती है 'स्त्री-देह को शास्त्र ने प्रसूति कहा है। पाप की खाम बताया है। तुम वही न मानते हो जयन्त ? यह भापने की शिलासपत्री उसकी समझ में नहीं आती। वह एक मूठके से जयन्त के भीतर के बन्धन तोड़ देना चाहती है। उसका भावविस्फोट प्रथमगीय है। स्वयं उसके भीतर प्रेम धीरे बिबाह का उन्मत्त उठ उठा होता है। जब वह प्रसूता नहीं है विवाहिता है पापिण्या है। वह भाप कर रही है भाप करने जा रही है। उसमें मय कर बु साहस जाग उठता है। जयन्त यदि बलपूर्वक उसे से-सेता है तो वह तैबार है। परन्तु जयन्त की कायरता उन पर कड़ी कोट करती है। सहसा घसम्मव हो जाता है। तपमेवात्मा बहादुर इसका नहीं बिबा पाता तो वह सम्भाक्षिनी होजाती है। परन्तु जयन्त जैमैश्रीम साखं मे पडा है। वह नहीं बड़ेगा। प्रसूता को पापिण्या बनाकर वह उसकी धात्मा को दूषित नहीं करेगा। वह अपने मन में सुरक्षित प्रसूता की प्रतिभा की रक्षा करेगा। पुरे बसप्रवाय के साथ उसने उसे निष्कम करने का प्रयत्न किया। तो भी बस में न घाई तो कस के उसके दो तमाचे सवाये। प्रताड़ना पाकर प्रसूता का उन्माद उठर गया। वह बिस्तर पर जाकर सो रही थीर दिन बड़े तक सोती रही।

दूसरे दिन रात को जपना छप हुआ। पिछमी रात जो श्रिया वह उसका विस्फोट मात्र था। जयन्त मह न समझे। वह सचमुच उसके सुनीने के लिए रहने को तैयार है। वह जयन्त के भीतर के पुष्पाचं को जगाना चाहती है कि वह धपूण नहीं रहे। पुष्प के भाग में क्या धपूरुता नहीं है। स्त्री-पुष्प क्या पखण्ड रहने क लिए सिरजे बये है। जन्मी कामनामयी थी इसीलिए बसकम रही। प्रसूता ज्ञानमयी तटस्व भगवासकत बन कर अपने को दे जानती है।

फिर क्या हुआ वह प्रसूमाक्षिण है। जयन्त बक्षिण रहा। वह प्रसूता की मूर्ति को निष्कसुप बनाये रहा। परन्तु स्टेशन पर प्रसूता को छोड़ते हुए उसने क्या किया कि उसे कैरिक पस्त्र सेना है। उसने प्रसूता को एजबन बाहर निकाल डाला है। कम तक वह हम का प्रयोग कर सकता था। धात्र धकला है धीरे परिव्राजक है।

अंतिम पृष्ठों में बिभिन्न कथापुत्रा को बिबखण्ड बंय से जोड़ दिया गया है धीरे पाषों के जीवन की बरिणुति देने की चेष्टा को गई है परन्तु भीतरागी बन कर भी क्या अवंत धपमे को प्यो सना है ? अंतिम पक्षिमां बवमाती है कि नहीं। उसका धारमकथन इ१ प्रकार है 'मेस्त्रिन सपता है जीवन ध्यर्बं भार है। बलों बहों हसे कमी बेकर को नहीं सका ताकि कुछ वा आडा धीरे वा मरकता न पिरता। मेविन सुनता हूँ बूसरा जी जग्म है। जब तो सही में धास है। इनसे तो यही खान पकता है कि जीवन की ध्यर्बता ने जब भी उने मेर रला है।

इसमें संदेह नहीं कि जैनेन्द्र की सब कथाओं में 'ध्वतीठ' की कथा सब से बिब खण है। उसे ह्य घरव के भीकाल का महीम संस्करण कह सकते है। जयन्त में जैनेन्द्र ने एक बार फिर प्रसन्न धीरे धम्यावहारिक आदर्श को उपनिबन बिबा है धीरे उसे एक

प्रकार से प्रति मानव बना दिया है। धर्मिता का प्रेम उस प्राण नहीं होता। वह स्वयं नहीं है। जन की रसबर्धन वह उसे नहीं दे सकता परन्तु जन की रस रस्य से कुछ पुरी की प्रतिता को सुष्ट नहीं कर सकता। धर्मिता जयंत के जीवन को सार्यक करना चाहती है। प्रीम नहीं चाहता। बुधिया। सुविधा। चला। कविता। परन्तु जयंत धर्मिता के प्रति अपने प्रेम की पीर को वकामे निष्कम बना रहता है। चंदी के प्रति वह स्पष्टतः प्रयास करता है। स्वयं चंदी उसके दूर हट जाती है परन्तु इस हटने में प्रामोद्य नहीं है परिस्थिति मात्र है। धर्मिता प्रति की सहमति या कर जयंत को राह पर जाने के लिये करन सीमा तक पहुँच जाती है परन्तु जयंत अपने पुरुषत्व को नरुद्ध नहीं होने देता। प्रेम उसका संकल है वासना उसे उपादेय नहीं। वह उन नहीं चाहता क्योंकि इससे धर्मिता ननुपित होगी। स्वादि वह पर स्त्री है। यह स्त्री है कि प्रति की धीर से सुष्ट धात्वचिचि से विवाहित नारी को क्या छोटा नहीं करती। प्रकृत शास्त्र बीता है, प्रेम हारा है। इस हाथ में ही प्रेम की उरुचलता है वसति टूटने का जोर धरधार भी है भीतर बर्धन धीर बाह भी है। धर्मिता को विफल करके जीनेन्द्र ने भारतीय नारी की प्रति-परायणता की विवाह-सत्या की बेबीयता की रक्षा कर ली है, परन्तु यह नहीं पता लगा कि इससे उसका व्यक्तित्व क्या बहूपन्न या सका ?

“म्यतीत” में जीनेन्द्र ने प्रति की प्रेमाके धारणों को लेकर मात्र बनता जाहा है धीर इती लिए उरुचि इत दोनों क्षेत्रों में प्रमावहारिक प्रतिवाह का जन्म दिया है। प्रति का धारण मि० पुरी में प्रकृतित हुआ है जो प्रति का मर्म निभावे जाते हैं। धर्मिता गृहस्थी है धीर बनने है। परन्तु बहूपत्नी धर्मिता के व्यक्तित्व को बना कर नहीं बनते। पत्नी के हृदय में जयंत के प्रति प्रेम है, इससे वह अपरिचित नहीं परन्तु उनके हृदय में बरा भी इत्य नहीं है। “सुजडा” “धीर विवर्त” में प्रति की दो विचरितियाँ मिली हैं जो विवाहमान है। पत्नी के स्वर्तन जीवन जीने में दोनों को कोई रोक नहीं है। वास्तव में विवर्त से पत्नी को बड़ी दूर तक सुष्ट की बर्धन है, जान-बूझ कर धराना बना गया है धीर प्रति का साहित्यक धारण स्थापित किया गया है। “म्यतीत” के पुरी विवर्त” के धारणों को लेकर धीर धारण बड़ते हैं धीर धर्मिता स्वयं जयंत को पाठ जाने के सब प्रयासों को प्रकृतक रोक कर प्रेम में स्वयं धर्मिता को जयंत को जीप जाते हैं। धर्मिता भी उसके मर्म की बात जानती है धीर उरुचि उरुचि को धर धीरों केती है। वह जीनेन्द्र का प्रति-पत्नी-प्रेमी का सार को कोई हो प नहीं जानता जो मनोवैज्ञानिक धर्मों से ऊपर बठ कर प्रकृतमान्यों की बुधिया का निर्माण करता है। यह धर्मिताप्रिया वापिबिहीन उरुचलता प्रमानवीय है प्रति प्राकृत है धीर मानवीय सुष्टि के प्रसाधार को कोई बड़ा धेय नहीं हैती। ऐसे सार प्रति कहीं मिलेंगे ? कबीर धीर कोई का एक बुतान्त बरता है, क सत्य की रक्षा के लिए प्रति कबीर ने पत्नी कोई की उस संत तक कंचे बड़ा कर गृह्या दिया जो उसका सन चाहता था। कबीर ने कोई के मर्म में प्रतिधर की सुष्टा

समझी और अपने संत के सत्य प्रेम को भी निमाया । कहानी में कहा गया है कि इससे सेठ में धोम का जन्म हुआ । वह सत्य के तेज को सह न सका और कबीर का मन चीता हुआ । परन्तु यहाँ किसी के मन के घनाचार को कृपित करने की बात ही नहीं है । प्रनिता जयंत को सौंप दी जाती है कि वह अपनी बेह को होम कर जयंत को व्यर्षता से बचाये उसके प्रेमी-जीवन को सार्पक करे । लोई पापिष्ठा नहीं है । प्रनिता क्या है यह कहना कठिन है । जयंत को मन बेकर विवाह करने का धर्म हुआ पुरी को तन देने की सामाजिक व्यवस्था । यह व्यवस्था जब हो गई तो फिर जयंत की घोर सीट कर उसके मन को प्राप्त करने की चेष्टा करना बहाँ लाँछा की बात नहीं है । यह प्रथम है कि प्रनिता दूर तक घरेही प्रेम को लेकर बतना चाहती है और चंदी-जयंत को पति-पत्नी के रूप में स्वीकार कर लेती है । परन्तु क्या वह यह नहीं जानती थी कि जयंत चंदी का नहीं हो सकता । क्या यह चंदी के प्रति और जयंत के प्रति घनाचार नहीं है । इस प्रविवेक ने चंदी के दुःसांत की सृष्टि कर दी है यद्यपि भक्त ने चंदी में भी पर्याप्त भावबंधाव मरना चाहा है जिससे वह बलपूर्वक जयंत से घना अधिकार नहीं से पाती कदाचित् इसीलिए कि कुमार के भाव में वह डूबी है । उसकी इस दुर्बलता को समझ कर ही जयंत उसे घर में लाया है । इस प्रकार जयंत प्रनिता चंदी पुरी सब परिवर्षसनीय बन जाते हैं । वे मनोबैज्ञानिक सूत्रों पर नहीं बसते । उनके भीतर अपनी निजी शक्ति नहीं है यत्ति है केवल जीनेन्द्र के पति प्रेमी और नाटी के उभय पक्षों (विवाहिता और प्रेमिका) के धारणों की मैथान्ठिक व्याख्या में । वास्तव में जीनेन्द्र इन सिद्धांतों को प्रारंभ से ही लेकर चले हैं और निरन्तर सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतर होते गये हैं । उनका एक एक बेंबे बेंबे में चलकर परिवर्षसनीय रहस्यमय एवं प्रतिबारी जीवन-दर्शन की सृष्टि करता है जो न व्यावहारिक है न मनोबैज्ञानिक न वास्तविक जीवन से सम्प क्ठि । उसने एक ऐसे विभूष को सृष्टि की है जो धाकाधैनि के समान मुन्बर और स्वस्थ लगने पर भी अपने भीतर की दुर्बलता से बस्त है । वह परजीवी है । उसका अपना जीवन नहीं है । सब तो यह है कि 'व्यतीत' में जीनेन्द्र विवाह और प्रेम की समस्या के उस सूक्ष्म धातंठि धव्यावहारिक एवं धकल्पित सीमान्त तक पहुँच गये हैं कि उनके सिद्धांत स्पष्टतः सायबी और उपहासास्पष्ट लगते हैं ।

पति की उबारता का यह हाल है तो पत्नी अपनी भी अपने प्रेमी के प्रति कम उबार नहीं है । वह उसका जीवन धंठि नहीं रहने देना चाहती । वह उसे कामरात्री बुनिया का धावमी बनाना चाहती है । चंदी से विवाह करा क भी वह असफल होती है और देखती है कि जयंत बुनिया सुमिता अपना चंदी किसी को भी अपने जीवन में लेने को तैयार नहीं है । धंठि परिणति की घोर वह अपसर जाती है । लुद अपने को देखर (पाप उसे नहीं मनेगा यद्यपि स्वयं पति की महमति उसे मिसी है) वह जयंत क जीवन की व्यर्षता दूर करेगी पर संस्कारों का एकधम तोड़ना उनके लिए धसंभव बात है । इसी

जयवर्द्धन

हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में जैनेन्द्रकुमार एक नवीन चेतना के प्रतीक हैं। इस नवीन चेतना में नये मूल्यों की खोज प्रबल है और समग्र जीवन-चिन्ता को घुमघुम करणा ही जैसे उपन्यास का धर्म बन गया है। जैनेन्द्र से पहले प्रेमचन्द तक का उपन्यास बहुत कुछ बर्तमानपरक था और उसमें समाधान ब्रह्म से अधिक महत्वपूर्वक थे। प्रेमचन्द ने वही कहानियों में वही उपन्यासों में भी मध्यमवर्ग प्राप्त और बदलते "मानों" की नयी समस्यार्यों को स्पष्ट किया है परन्तु उनकी साहित्य-चेतना संवेदनात्मक और मानिक भी तात्त्विक नहीं। जैनेन्द्र मूलतः विचारक है। उन्हें विचारक-उपन्यासकार भी कहा जा सकता है। पत्र-संस्करण उनके उपन्यासों में कुल-चिन्तन का अ-कार्य है प्रसन्न-ही-प्रसन्न है समाधान नहीं। वह विद्याशास्त्री की उदारता है और प्रसन्न को सुना छोड़ देते हैं। अपनी इस प्रवृत्ति के अनुसूच ही उन्होंने अपने लिए नयी उपन्यास-कला का भी निर्माण किया है। 'परस' से इस "जयवर्द्धन" तक उनकी औपन्यासिक गतिविधि के लक्षण हीन बसक हो जाते हैं। पिछले क्षेत्र के उपन्यासकार जीवन-चित्रण में लक्ष्य से और उनकी उपपत्तियाँ उपन्यास के धर्म से जाती थीं और अधिकतर गौणमूलक रखा करती थीं। जैनेन्द्र ने उसी दिशा से धारण किया घनत्व व उपपत्तियों से जीवन-चित्रण की ओर बढ़े। कहा जा सकता है कि इससे उनके चरित्र बुद्धि और रहस्यमय बन गये हैं और उन्हें किसी धर्मों में प्राणवान नहीं कहा जा सकता। जैनेन्द्र ने उन्हें चिन्तना व्यक्तित्व देना चाहा है उतना ही व्यक्तित्व उन्हें मिला है। अपने मन पर वे नहीं लड़ते हैं। वे 'अज्ञान विचार' हैं। यही हाल चटनात्मक का है। जो बटता है वह स्वाभाविक नहीं घपटित है उदाहरण-भाष है क्योंकि वह विद्यालय के भीतर से जाता है जीवन के भीतर से नहीं। इस प्रकार बन्दु-उत्पत्तन और चरित्र-चित्रण के योगायोग को तिलाञ्जलि देकर जैनेन्द्र ने उपन्यास को जीवन बन्ध से मुक्ति दे-री है। इससे उसे तरलता भले ही मिली हो और नई परम्परा का निर्माण वह भले ही कर सका हो उसकी नयी सीमाएँ भी स्थापित हुई हैं। जैनेन्द्र के लिए उपन्यास जीवन प्रयोग नहीं विचार-योग है। उसमें मन के बाह-यंत्र हैं, मन-बद्ध में घानी जाने "कुछ" की बकड़ में जाने का घसकल प्रयत्न है परन्तु स्वतन्त्र और प्राणवान-चेतना

के प्रभाव में बीबल और कला का रस इनमें भरपूर नहीं मिलता। जैसे-जैसे जैनेन्द्र उपन्यास-लेखन के क्षेत्र में प्रगति बढ़ते गये हैं उसकी वजह से बढ़ती गई है। विचार हाथी होते गये हैं और मनोविरलेपण-शास्त्र की कुञ्जियाँ ही प्रकाश हो गई हैं। प्रत्यक्ष प्रभाव पर स्वरूप कला का निर्माण प्रसन्नकर प्रयत्न है। उपन्यास रस का मूल उत्पन्न है मनुष्य का मानव भाव उनका संबन्धनात्मक साहचर्य। यह सहज-रस जैनेन्द्र की परबर्ती रचनाओं में धीरे-धीरे होता गया है और "सूत्र" प्रकाशना पा गये हैं। "जयवर्द्धन" में जैनेन्द्र की उपन्यास-कला की यह सततता-प्रसन्नता साफ़ उभर आई है।

४४ पूछों के इन बुद्धिकाम उपन्यास में जैनेन्द्र ने हमें क्या दिया है? क्या कथा क्या चरित्र? क्या ज्ञान प्रतिपाद? क्या मनुष्य की सहज-स्वामात्मिक भाव भूमि? क्या विचार? वह कौन सी नवीनता है जिसे लेकर जैनेन्द्र "जयवर्द्धन" को सामक कर सके हैं। जयवर्द्धन की तरह ही क्या वह भी बढ़ नहीं है? इस उपन्यास में उनका कला-वेत्ता मन क्या चुला है और कहाँ गुमा है ये कुछ प्रश्न हैं जो "जयवर्द्धन" पहले पर मन में उठते हैं। स्वयं जैनेन्द्र की पृष्ठभूमि पर ही इन प्रश्नों का समाधान सम्भव है।

"जयवर्द्धन" की कथा की बहुत सों। कथा जो स्तरों पर चलती है जिसमें एक वैदिक मनना समष्टियत है वृत्तरा नितागत स्थितिगत। एक का सम्बन्ध जयवर्द्धन के मन्वी-रस की समस्या से है और उन बिचारों से है जो 'राज' को विकास का प्रतिन भरण नहीं भले ही वह भोक्तव्य हो या कल्याण-राज या रामराज्य या इन्द्र विचार क्षेत्र का इन्द्र जिसमें बाहर के कर्मजगत् के पार्श्ववर्तिक इन्द्र भी मिल गये हैं। राष्ट्रीय राजनीति की भूमि पर अनेक स्वार्थों एवं हलों के बीच जयवर्द्धन की स्थिति उत्तमनी गई है और धन्त में उसे लगा है कि 'प्रणम' होना चाहता है तो उसे राज का त्याग आवश्यक है। फलस्वरूप वह मन्वी-रस से घनय होना है। एक प्रकार से यह उपन्यास जैनेन्द्र का दूसरा "स्वात्मरस" है और पहले 'प्रायमन' की प्रति यहाँ भी भावक त्याग के द्वार घननी दुर्बलता को बढ़ाना ही चाहता है। जो हो 'जयवर्द्धन' का धारणम दनीय स्वार्थों के संभव से हुआ है और धन्त में जयवर्द्धन ने और विरोध से पान्त होकर पनायत का अहिंसक मार्ग ग्रहण किया है। समाधान है कि 'जयवर्द्धन' भारत की राजनीति में से निकल गये हैं। विरोधी हलों के नेता हैं याचार्य स्वामी विद्यानन्द नाथ और लिबा तथा इन्द्रमोहन। याचार्य गोपीबानी हैं, स्वामी विद्यानन्द भारतीयतावादी या प्रतिक्रियावादी नाथ और लिबा विद्यानन्द के विरोधी और प्रवर्तनी इन्द्रमोहन हिताकर्मी स्थितिवादी। इस प्रकार जयवर्द्धन जिन्ही भी दल में न बँध कर सबके लिए संकट बन गया है और उसे भेर कर पन्न विपन्न स्थापित हो गये हैं। याचार्य जयवर्द्धन के प्रति विश्वस्त हैं मन-उत्थिति हीन है रसी है परन्तु स्वामी विद्यानन्द उन्हें धार्मिक समझते हैं और भारत के धीरे-धीरे बुद्ध को वह प्रथमों के रूप में देवता नहीं चाहते। नाथ और लिबा इस प्रतिक्रियावाद के विरोधी हैं परन्तु यासन-उत्थ के क्षेत्र

में वे मोक्षदाय से प्राप्ति करने के लिए तैयार नहीं हैं। इन्द्रमोहन घातकभावी हैं, परन्तु अयबद्ध न का वह दूर तक सहन कर सकते हैं। इस प्रकार राजनीति में कूटचक्र की स्थापना हो जाती है जो अयबद्धन को झकझोर कर उसे त्याग के लिए मजबूर करती है।

बच्चा की दूसरी भूमि व्यक्तिगत है और अयबद्धन-इला के प्रेम-सम्बन्ध की वैधता प्रवेष्टता को मकर बनती है। वास्तव में राजनीतिज्ञ इन्हीं के नाश-साय और मूल में प्रेम बच ही है और सम्बन्ध का मूलक विशेष ही राजनीति का इन्द्र बन गया है। इला प्राचार्य की बच्चा जो माता के घमास में स्वामी विदालन्ध के आश्रम में पनी है। बीम-बाईन बर्ष पहले स्वामी जी के आश्रम में ही पहली बार अयबद्धन का इला से परिचय हुआ था और उनकी स्मृतिवाँ उसमें अब भी उसी तीव्रता से सजग है। स्वामी विदालन्ध के इला सम्बन्धी घण्टा स्त्र से हम परिचित नहीं ह परन्तु उनका धार्मिक मन कदाचित् निरोपमूलक ही है। वह अपने ही न लड़ कर अयबद्धन पर दृष्ट है कि इला परिचित होकर भी उसके साथ रहती है। वह समझते हैं कि इला या अय को प्राचार्य का अनुमोदन प्राप्त नहीं है अर्थात् वह कि इला उनसे भागेगी नहीं। परन्तु अब घण्टा में अयबद्धन और इला को प्राचार्य का अनुमोदन प्राप्त हो जाता है और स्वयं अयबद्धन उनके धर्ममन को उनके सामने खोल कर रख देता है तो वह तरह ही जाते हैं और धार्मिक-व्यवहार बन जाते हैं।

रहे नाश और मित्र। हममें मूल-संवादन मित्रा का ही है। वह राज्य की राष्ट्रीयता को मनाकर वैश्व-वैश्विक बन जाती है और स्वामी विदालन्ध के विशेष में "अय" नही पल की नही है परन्तु तीरे-तीरे वह धीमाप से दूर भी होती जाती है और अय के पास घाती जाती है। राज्यसत्ता के प्रति उसमें तीव्र आकर्षण है और व्यक्ति अय नहीं मन्नी अय उसका लक्ष्य है। अब क मन में उसे लेकर स बर्ष घण्टा है परन्तु वह स्वयं इला के अन्धम में बंधा है। आकर्षण और विकर्षण का यह द्वन्द्व मित्रा के द्वि-धर्मपूर्ण मुक्त और तेजस्वी चरित्र का इला की अपेक्षा अधिक आकर्षक बना देता है। इला सदा बन्ती है, नीना है, परन्तु कदाचित् इसी से उसमें मानवीय तत्त्वों की कमी हो गई है। वह त्याग त्यागवा धीमाप प्रेम और बलिदान की प्रतिमुक्ति है। अलगाव वैधकी-रूप अथके मातृ-न-रूप के लौक दख गया है। वह अय को सम्पूर्ण रूप से अपने अन्तर छोड़ देना चाहती है। वही जैसे उनका गारी-जीवन की सार्थकता हो। उसे मित्रा से दू प नहीं है। वह अयबद्ध न को व्यक्ति-रूप में पाना चाहती है। राजपति-रूप में नहीं। अय बद्धन का विरहान वह प्राप्त कर नहीं है जो घण्टा तक बना रहता है। यही उसका संकल है। अत्याय के घण्टा में अयबद्ध न उसे भी छोड़ कर चला जाता है परन्तु हमने अयबद्धन ही छोटा हुआ है इला का तप और भी अयच उठता है।

इन्द्रमोहन का भी इला के प्रति आकर्षण है और कदाचित् इला के ही माते

अपवर्जन उसे प्रिय रहा है। परन्तु लेखक इस सम्बन्ध में निश्चित सूत्र उद्धृत नहीं करता। जो हो यह स्पष्ट है कि उपन्यास का केन्द्र अपवर्जन में नहीं है, इसा में है, क्योंकि उसी को लेकर सभी प्रमुख पात्रों में मानसिक प्रक्रियाओं की सृष्टि हुई है और उनके मोक्ष पर ही कथा को परिष्कृत प्राप्त हो सकी है। प्राचार्य पिता है इसी से अपवर्जन के प्रति जनता राजनीतिक प्रवृत्ति बलीय विरोध कठिन होता हुआ भी गस गया है। ऊपर से जैसे ही उनके लिए इला त्याग्य हो परन्तु उनका कारावास इसा और अपवर्जन से उन्हें बचाने वाला कथक ही सिद्ध होता है। स्वयं अपवर्जन इस बात को जानता है और इसी से सभी प्राचार्य उसके लिए सहाय ही नहीं करेय्य भी है। समाजशास्त्र संदर्भ में यही स्थिति स्वामी जी की भी है। अन्तर यह है कि वह पिता नहीं है प्रियी है और अपने को बरेय्य समझते है। फलतः उनका प्राणोच्छ इसा पर कम है अपवर्जन पर वह फूट पड़ते है। इस प्रकार त्रिकोण नहीं पट्कोण की सृष्टि हुई है और सुसम्बन्ध यदि कोई दिखाई देता है तो यही कि अपवर्जन पर से हट जाये और इसा से विहाह कर ले। इससे उसके लिए निजत्व-साम सम्भव हो सकेगा। परन्तु इन्द्रमोहन उग्र है और इतनी दूर तक जाने के लिए वह तैयार नहीं है क्योंकि पदभ्युत्थन अपवर्जन से छोटा हो जाता है। वह अपवर्जन को इला के त्याग पर तैयार करता है जिससे वह बलिबानी हो और उसका बर्णन बचा रहे।

समस्त पात्र में कथा और विचार के ठाने-जाने इन दो मूमियों को धूते हुए समझे-जसमे चलते हैं क्योंकि कोई भी पात्र अपने अन्तर्जन को स्वीकार करना नहीं चाहता। फल यह है कि विचार रोचक होते हुए भी बोझिल है और कथा के सूत्र अन्त तक मुड़ नहीं पाते। जैनिक संदर्भ कथाकार नहीं बनना चाहते। इसी से कथा स्वयं चिंतना सुमती है उतना ही वह मान सेते हैं। यह उनकी प्रीयव्यासिक मुद्रा है। इस मुद्रा में प्राकृतिकता प्रवृत्त है और मनोविश्लेषण-व्यास की नयी मायताओं का समर्पण भी है परन्तु यह कहना कठिन है कि इससे हिन्दी-उपन्यास कोई महती शक्ति बन सका है। निस्सन्देह नये उपन्यास में रस की हासि ही हुई है। उसमें चित्त मनोविज्ञान एवं जीवन की नयी पति-विधियाँ प्रवृत्त है परन्तु ये सब मिलकर भी न जीवन की समग्रता का स्थान से सकती है, न प्रीयव्यासिक रस (चरित्रों एवं अटनाओं के योगयोग) की पूर्ति कर सकती है। इसमें सन्देह नहीं कि अपवर्जन का विचार-वस्तु प्रबल है उसमें राजनीतिक बहिष्कार-चिन्तन है या कहिए मन-बला (कुटोपिया)। १०-१० वर्षों बाद लोकतन्त्री राज्य-व्यवस्था भी अपूर्व मित्र होगी और राज्य विवेचन तथा लोकधर्मों बनकर समाप्त हो जाना चाहेंगे। अपवर्जन का राजनीतिक व्यक्तित्व और राष्ट्रिय चिन्तन इनी नयी स्वयं-भूमि का उन्मोचन है। इन प्रकार उपन्यास की राजनीतिक समस्या निरवधारण है उन प्रीयव्यासिक बनाना कहाँ तक उचित रहा है यह कहना कठिन है। राजनीतिक 'प्रीयव्यास' को उपन्यास की रस-भूमि में मिला सकती है फलतः

चरित्र-मुद्रिका प्रसिद्ध और बावली है तथा कथा दीर्घवृत्ती एवं व्यक्त है। यह कृष्ण में नहीं है। ठक में है। ठक ऊपर ऊपर लिखा है। प्राणों को नहीं छूना। इसीसे 'अवबर्तन' यदि संवेदनीय नहीं है तो उसके लिए हम जीनेन्द्र को बोपी नहीं छूरा सकते। उनकी दीपन्यासिद्ध गति-विधि इसी परिणति की सूचक है। एक तरह से यह अपनी विचारणा की बन्धनशियों में पहुँच गये हैं। जीवन के प्रति तादृश्यमयी कुतूहली साक्षरता उनमें नहीं रही है। यह जान-बाने बलबलते हैं कि मुसलमानों पर ब्रह्मपुत्र सम्यं परन्तु पाठकों के परसे गठें ही अधिक पड़ती है क्योंकि बड़ा उमरुन चमत्कार है, वहाँ सुने मन का दीप्यं और रस नहीं मिलेगा ? वे सीमाएँ हैं जो जीनेन्द्र को अपूर्व बनाती हुई भी उनकी जीवन-दृष्टि और कथा चतना को बढे रण और शक्ति बनाती हैं। यह प्रबन्ध है कि इस पर भी यह अपने पात्रों को छोड़ ही निजी प्रारम्भिक और संवहृणीय बन सके हैं। इसी में उनकी एतिहासिकता भी है।

२

'अवबर्तन' के प्रारम्भ में लेखक की कुछ पंक्तियों की जो टोटोस्टेट प्रतिनिधि बनी है उसमें उन्होंने यह सीका प्रकट की है कि "किन्तु यह उपन्यास सिद्ध होना। उपन्यास-बृष्टा पात्र की शायरी के रूप में है परन्तु लेखक यह मानता है कि रचना को 'विचित्र उपन्यास' का रूप नहीं मिल सकता है। इस कमी को यह प्रार्थनीय नहीं समझता। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि 'अवबर्तन' को लेकर यह धंका बराबर मन में उठती रहेगी कि उसमें श्रेणीगत क्या है ?—जीवनी प्रारम्भिक उपन्यास निबन्ध इनमें यह क्या है जो 'अवबर्तन' नाम पा बना है। नर-साहित्य में ये प्रसन्न-प्रसन्न श्रेणियाँ हैं कोटियाँ हैं परन्तु इसकी सीमा-रेखाएँ निश्चित नहीं हो सकी हैं जिसको 'विचित्र उपन्यास' कहा जा सकता है उसके पीछे निबन्धों की प्रेरणा रही है और प्रारम्भिक उपन्यास समाज-व्यवहार सम्बन्धी रोचक निबन्ध ही कहे जा सकते हैं। बार में उपन्यास में प्रारम्भिकता की सीमा भी अगर्ह और प्रकृत चरित्र और बटना-मवाह के बस्तुसत्तामक योमायोग को उपन्यास कहा गया। यह योमायोग भी किसी एक 'सूत्र' में बढे नहीं हो सका क्योंकि न घटनाओं की प्रवृत्ति है न चरित्रों की। एक और एक-हजार पृष्ठों का टासस्टाय का 'बार एण्ड पीस' उपन्यास है दुसरी और ऐंग्रेजी की छोटी-सी रचना 'स्टूडेंट्स वेट'। फलतः मुबद्द और विरिद्ध उपन्यास का विमात्रण नामने प्राणा और बीटे-बीरे उपन्यास को व्यक्ति समाज या राष्ट्र की जीवनी मान लिया गया। प्रेमचन्द ने यह बोधित किया कि भविष्य का उपन्यास 'जीवनी' होना और जीवनी भी सामान्य नर-नारी की रहेगी। इस प्रकार उपन्यास विमूर्त एवं भिन्न-सुनी शक्तों से प्रारम्भ होकर उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक एक निश्चित व्यक्तित्व की उपस्थिति कर सका और बीसवीं शताब्दी के पहले दो दशकों के सन्तप्त होते-होते उसका स्वरूप पर्याप्त निश्चय बना। परन्तु इसी समय के लयमन मनोविज्ञान और मन

विश्वेपण-शास्त्र ने उपन्यास के क्षेत्र में प्रवेश किया और उपन्यास समग्र जीवन का विवेकानन्द रख कर अन्तर्गत का प्रवेशक बन गया। नये चिन्तन-विधानों की आवश्यकता हुई और अन्तर्गत को उद्घाटित करने के लिए पत्र डायरी बसतब्य अनेक पात्री संवेदनाओं या एक ही पात्र की अनेकसूत्री संवेदनाओं का सहारा लिया गया। ये विधियाँ जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासों में अपनाई हैं और इन्हीं के द्वारा उनकी रचनाएँ अन्तर्गी और विचारगमित बन सकी हैं। जहाँ तक 'अपवर्जन' के चिन्तन-पक्ष का प्रश्न है वह जैनेन्द्र के मन्तव्य के अनुकूल ही है। अमेरिकन पत्रकार श्री विसवर् हूस्टन की २१ फ़रवरी २ ७ सम्बत् से १ अप्रेल २००७ सम्बत् तक की डायरी के पृष्ठों का विस्तार ही उपन्यास परिकल्पित है। आलोचक तथ्यमत् है परन्तु सत्य को उभारने के लिए कहीं-कहीं उसे कल्पना की मांसमत्ता भी दी गई है यद्यपि ऐसे प्रसंग कम पाये हैं और उपन्यास की गीरसत्ता को कम नहीं कर सके हैं। फलस्वरूप डायरी का आलोचक हिवाही अधिक हो गया है और उसमें जीवन की वीर्यसूत्रता और अर्थता इतनी स्पष्टी है कि औपन्यासिक रस-रिपणवत्ता नहीं पा सका है। अपवर्जन' विचारगामक उपन्यास है, यद्यपि विचारण मन का है अन्तर्गी है ताकिक है। उसके पात्र प्रायः और कर्म बानों में साक्ष्य का अतिक्रम कर चुके हैं। प्रथम उनके व्यवहार चिन्तन और आदान-प्रदान संवेदनीय नहीं हैं। वे जैसे अपना जीवन जी चुके हैं वा भीतर से चुक चुके हैं। ऐसे निरीप पात्रों को लेकर क्या जीवन के साधन म्याय किया जा सकता है या किया जा सका है। माना कि अपवर्जन' व्यावहारिक है औपन्यासिक नहीं है उसमें वह भी है जो निरीप है और बेसाली के बल पर जसता है परन्तु उपन्यास में हम जीवन की यथातथ्यता नहीं चाहते अनुकूलता चाहते हैं। यह अनुकूलता भी साहित्य कोटि की हो संवेदनमयी हो और संवेदनीय हो। यही 'अपवर्जन' की म्यूनता है। उपन्यास के पृष्ठों पर उतरने से पहले ही उसके पात्र जीवन जी चुकते हैं और जब उनके संघर्ष और अन्तर्गत नव पुरातन स्मृतिर्मों तथा संकल्प विचलन पर चलते हैं तो वे एक महान् राष्ट्र की उत्तम अंशान्वितों पर लिके रहते हैं परन्तु उनके मुक्त-दुख राष्ट्र के मुक्त-दुख नहीं बन पाते। इसका फल यह होता है कि पात्रों की अन्तर्गी और अन्तर्गी बुनियाद दूर पड़ जाती है और उनके किमी भी प्रकार का मठबन्धन सम्भव नहीं। पाठक के लिए यह अंशान्वित प्रबुद्धि है। वह जसकृति दे सकती है रस-विमोह नहीं कर सकती। इस अंशान्वित पर न पात्री में अरिज का बेग रह सकता है न घटना की तीव्रता ही अनुकूल रह सकती है। सब कुछ किताबी बन जाता है। जीवन दूर जाता है मुद्रा' हाथ समती है। "अपवर्जन' में यही हुआ है।

परन्तु क्या हम इसके लिए जैनेन्द्र ने सिकायत करें? उनकी औपन्यासिक प्रति विधि जानने हुए और उपन्यास के विकास की अपारण प्रयत्न से परिचित होन हुए यह कहा जा सकता है कि 'अपवर्जन' जैनेन्द्र के अनुकूल ही प्रथा है। उसमें जैनेन्द्र की

ताकिकता है, मुख्य धारणाएँ हैं भाषा-वैशेष्य है इन्द्रजाती वैचारिकता है परन्तु न कथा की सरसता है न कथा की रंगीनी। बीते बिना की स्मृति में इसा द्वारा कुछ धर्म-पौनी रेखाएँ बरकम भरी गई हैं और हूस्टन के प्रति मित्रा के धर्मत्यागधर्म धर्मविरोधित विस्मरण प्रसंग में जैनेन्द्रिय भाव विस्फोट की सरस पुनर्दक्ति भी हुई है परन्तु उन्हें के सब में वे भावुक लाल न जाने कहीं को आते हैं और कथा के दृष्टे वाले छोड़े नहीं मुड़ते। जैनेन्द्र धर्मपुत्री कथा को मन-विस्तेषतात्मक कृत्योद्देश के द्वारा धर्मकल्पित दीर्घता से देते हैं और बुबसो चरित्र भूमिपा पर त्याग और भक्तिवान की तीव्र धर्ममूर्ति देना चाहते हैं। इसी से जो स्वल्प निमगता है वह हृदय को तुष्ट नहीं कर पाता। उनकी पूर्व कर्ती रचनाओं में यह धर्मवाद की सीमा तक नहीं पहुँचा था क्योंकि कथा सरस हो और चरित्र विशिष्ट हों इस पर उनकी ध्यान बराबर थी। परन्तु 'जयवर्द्धन' में एकमात्र 'तथ्य' देने का ध्यान होने के कारण जीवन का "सत्य" उपक हाथ से छिन गया है क्योंकि सरस तथ्य को सरस और धर्ममूर्तिपरक बना कर ही सार्थक है। मान लय मात्र सरस उपन्यासकार का उपनीम्य नहीं है वह सुन्दर हो शिबं ही। "जयवर्द्धन" में सुन्दर नहीं है शिबं नहीं है? जैनेन्द्र कहेंगे कि सुन्दर और शिबं सत्य में ही सीग हो गये हैं और उनके स्वतन्त्र अस्तित्व की कलाकार को नहीं चिन्ता हो? परन्तु फिर विचारक और कलाकार में अन्तर नहीं रह गया? या जो निराश्रयी है उसे "अप्यास" में क्यों बाँधा गया?

को हो यह स्पष्ट है कि इस रचना में जैनेन्द्र नहीं ताकिकता और विचार-बुद्धि में अद्वितीय विद्य हूए हैं वहाँ रचनाओं और पात्रों में उन्होंने जगह-जगह इसकी रिक्तता छोड़ी है कि वह पाठकों की धोर से भरी ही नहीं आ सकती। यह निश्चय ही कलाकार की बराबर है। इसमें अंबना की अस्वीकृति नहीं है परन्तु अस्वीकृता का अर्थ कलाकार की प्राणधान कल्पना के द्वारा रिक्त मरणा असता है। 'जयवर्द्धन' में बड़ी-बड़ी बयारें हैं जो बरी नहीं आ सकी हैं और जिनके पीछे से नैच्य का स्वाय-दुर्गाह बर गया है; परन्तु मित्रा काकर 'जयवर्द्धन' ध्यान इतिहास है और वह नहीं हिन्दी उपन्यास के धाने बस-बिन्दु लगा रहा है वहाँ उपन्यास के पाठकों के लिए एक बड़ी चुनौती भी है। पता नहीं कि स्वयं जैनेन्द्र को यह विषय स्निग्ध वाञ्छनीय हीपी या नहीं क्योंकि अस्वीकार पर किसी महान् साहित्य की रचना मात्र भी असम्भव है और अविष्यत् युवों में भी असम्भव रहेगी।

३

सांभुतिक परिषदी उपन्यासकारों की नीति जैनेन्द्र ने जीवन के नैतिक प्रभाव को उपन्यास की बहारदीवारी के नीतर बाधना चाहा है। यह प्रवाह सरस और सरस परिचर्तनपीन है 'जयवर्द्धन' है—यतः उसे रचनाओं चरित्रों और अर्थों में बाँधना कठिन है। बाँधकर जीवन से बड़ी कोई सार्थकता उसे उपन्यासकार से बनेना इसमें

भी सेलज का विश्वास नहीं है। उसे जीवन ही चाहिए, कोई जीवन अप्रतिरोधित अप्रत्यासित जीवन को बहुत कुछ अंतःमम में सीमित है और रेत की तरह संगतियों में छल जाता है। "जयवर्द्धन" में ऐतिहासिकीवादी चिन्तनविधि को ग्रहण कर लेखक ने जीवन का उदना ही देना चाहा है जितना बिल्वर ह्यूटन के परमे पड़ सका है और कोई अपने को ह्यूटन पर कितना खोजता है। जय इना प्राचार्य स्वामी इन्द्रमोहन नाथ और लिखा सभी बड़ है परमसुष्ठु है संशोधी है। ह्यूटन को जितना भी मिसता है उदना बहु दे देता है अपनी पनी अन्तःशुष्टि और तर्कसक्ति से अपनी उपलब्धियों की भी सीबन उबोब कर देसता है। परन्तु जब इतने से भी काम नहीं जसता तो उदग्यास के प्रतिम पृष्ठों में सर्वत्र उदग्यासकार का कर्तृत्व उसे स्वीकार करना पड़ता है। वह सिनेमा-चित्रन अथवा चक्र-मंच की विधि का उपयोग करता है और एक ही अणु अथवा अपने व्यक्तियों की एक ही प्रतिसमन्वयी प्रतिक्रियाओं को देने के लिए कल्पना का उपयोग करता है। यह बहु जानता है कि इसमें तटस्थ निर्विरोध कलाकार की अग्रमता है परन्तु सत्य की तथ्यगत एवं आस्तिक उपलब्धि की भी अपनी सीमाएँ हैं। अन्त में लेखक का कहना है "ये विषय गैने अपनी कल्पना से सिये है। फिर भी कल्पना निराधार नहीं है संतुहीत जानकारी के बल पर बढ़ती है। और उपाय उस व्यूह और वेप को पकड़ने का है नहीं जिससे से अटमारै विस्फोट की ओर बढ़ती जभी गई। किसी प्रकार एक ही नहीं सकी।" (पृ० ४१८) परन्तु जीवन की अहिर्गति (अटनाओं) के प्रति प्रतिबन्धन भीच में धा आता है और जो अटा बहु अन्वृष्टा ही बना रहता है। जैनेन्द्र की आर्सेनिकता पाठक को अटनाओं से उबारती नहीं उसे अस्त कर देती है। यह कहते हैं "इस अस्तम्य अथाह के बीच अटनाएँ क्या है विविध जगता है किन्तु उन्हीं में हम व्यस्त हैं। क्या उपलब्धि अपने मीठर इस अथाह और अस्तम्य की अनुभूति ही है— महासून्य में अपनी परमसून्यता की उपलब्धि। स्वात् नहीं है। वही और मैं न सोईना केवल सोईंगा। इस विचारणा में जीवन के प्रति उदग्यासकार की जिम्मेदारी का निर्वाह नहीं हो पाता और आभाव-संगति के स्वाभाव पर अज्ञ की निरर्थक अटुता ही परमे पड़ती है। सब तो यह है कि अस्तित्वादी उपलब्धकारों की भाँति जैनेन्द्र भी अपनी मास्यताओं में अन्वृष्ट जगते अक अये है और अपने उपलब्धों पर सिद्धान्त की आत्म-अर्थी अथा कर उन्हींने अपने जीवन-बीच के प्रति अग्यास ही किया है क्योंकि जीवन सिद्धान्त से अथा है और परे है। आत्मशाक दोस्तोअर्थी टास्तग्या और प्रेमअन्व मैत्रिक और सामाजिक अर्थों को अन्वृष्ट कथा मिसते है परन्तु ये मूढम अर्थ उदनी कथा से निष्कर्षित किये जा सकन है और उन्हें पीछे अल कर कथा और अरिज-विजय का रसा स्वादन भी किया जा सकता है। परन्तु जैनेन्द्र आर्सेनिक आरणाओं की अर्थी उदग्यासों का प्रतिबन्धन अर्थ बना सेते है और विचारक कथाकार पर हावी रहता है। यह स्थिति अर्थनीय रहने है और इसी में "जयवर्द्धन" को अर्थकता के स्वाभाव पर अिदृष्टता मिसी

है। पुरातन उपन्यास में लक्ष्यबद्धता और एकात्मिकता का प्रायः वा भीर पहले कुछ पुष्पों में ही नायक के चरित्र और मनस्ताप से हम सुपरिचित हो जाते हैं। उसकी मूलबद्धता का हमें पता चल जाता है। यह वाचना प्रच्छन्न भी हो सकती है और भविष्यत् भी बन सकती है। नये परिवेश एवं नये पात्रों के मातृ प्रतिपाद से नायक का अन्तर्मुख प्रभावित प्रकृत्य होता है परन्तु उपन्यासकार इस परिवर्तन की कुंजी हमारे हाथ में धर देता है। 'अपवर्द्धन' में पात्रों की चरित्रगत प्रतियोगों को स्पष्ट करने के लिए जैनधर्म को यह परम्परा प्रकिया अनासी पड़ी है परन्तु वह इतनी दूर तक प्रवृत्त नहीं करते हैं कि पाठक धारणित हो जाता है और सब कुछ धारणित करने लगता है। एक सीमा तक अस्तित्ववादी उपन्यास में भी यह कठिनाई सामने आती है परन्तु वहाँ अस्तित्ववादी नायक अग्रतयादिन हैं क्योंकि वह शून्य पद से प्रारम्भ करता है और कर्म से स्वगत है वहाँ जैनधर्मिक वाक्य इतना विद्वान्प्रकृत है कि उसकी कर्म की स्वगतता नष्ट हो गई है और वह विस्फोटित ही हो सकता है। उसके इस विस्फोट को समझने के लिए कई मूमियों पर निरन्तर 'फ्रीड-वेक' की योजना रखी है और धन धन्य पात्रों में भी इनकी कोटि की अग्रतयादिता और इसी प्रकार का उपादान रखा है जो एक इन्द्रजाल ही बन जाता है। 'अपवर्द्धन' में काम-अभियोग राजनीतिक प्रतियोगों में परिणत हो गई है और इसीलिए राजनीतिक समस्या का एक व्यक्तिगत भूमि पर होता है अर्थात् अपवर्द्धन की व्युत्पत्ति ही पात्रों को उभाड़ती है। अन्ततः अपवर्द्धन का व्याप महादेशीय बलिदान नहीं बनता यह मन का दुर्बल उपन्यास मान रखा है। इससे उभेह नहीं कि अपवर्द्धन में पानस-आत्म का सम्पूर्ण उपयोग हुआ है और पात्रों के कार्यकलाप अन्तः प्रेरित है परन्तु इन्हीं पात्रों को नहीं होता पड़ा है जो जैनधर्म ने उन्हें होने दिया है। उन्होंने मान बन् की एकता को जिहासबन्ति दे दी है और भौतिक जन्तु की उभाड़ता का आभास देने के लिए विभिन्न घटनाओं अथवा एक ही घटना की विभिन्न प्रतिक्रियाओं को एक ही अन्वय-सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया है। इन्होंने विवेक्य में अन्वयन प्रकृत्य प्रामा है वह कुछ धारणिक भी बन सका है परन्तु उपन्यासकार की अन्तर्मुख अन्तः प्रकृत्य बुरबद्धता और परिपूर्णता पर आघात हुआ है। प्रेमबन्ध एक कथा में मानव-मन की अन्तर्मुखियों की खोज नहीं है और उपन्यासकार ने यथार्थ अन्तः की विविधता में मानव-जन्तु की एकवृत्तता का सर्वन किया है और अन्तःस्वरूप मानवीय धारणिक के लिकों का उद्घाटन हुआ है। परन्तु नया उपन्यास (जिसके प्रतिनिधि जैनधर्म है) अन्तः के प्रति अन्तःकी है और जीवन की सुखोत्पत्ति तथा अन्तः को उठाने उभाड़ ही है अन्तः नहीं किया है। इसे इन अन्तर्मुखि अन्तः या क्या? माना जीवन धन्त है, परन्तु धन्तः में एव रहती है और उपन्यासकार धन्तः देना चाहेंगे तो रशीनरुषि का क्या होना? नये उपन्यास में जिस निर्देयकिकता का प्रायः है, वह ज्ञान की एकतागता, आभाषता

तथा बर्तनों के प्रभाव में परिलक्षित है क्योंकि मर्म-भङ्ग में बर्तन कहीं सहायक हो सकेने ? इसी से नया उपन्यास कैसे होटल या घर के सामान्य कल तक मिमट गया है जिसमें परिवेश की विचित्रता अनिर्वाय नहीं रह जाती। फल यह हुआ है कि जीवन की विह्वलता का और विचित्रता ही नये उपन्यासकार का धर्म बन गई है और उसने कला को कैमरा बना दिया है। परन्तु कैमरा भी यथार्थ की समग्रता नहीं देख सकता। उसके लिए भी सीमा-निर्धारण और दृष्टिकोण आवश्यक है और प्रत्येक दृष्टिकोण के पीछे "मूल्य" की समस्या है। जैनेन्द्र के अतिरिक्त उनके मूर्खों में बँध कर ही सामने आते हैं और उनकी कथा उनके जीवन-दृष्टान्त की विवृति-मात्र बन जाती है। इसका "अयबर्द्धन" प्रमाण है।

पीछे हमने कहा है कि "अयबर्द्धन" निवृत्तनीय या उपन्यासकीय नहीं। वास्तव में उपन्यासकीय तत्त्व हीण है और जैनेन्द्र के पूर्ववर्ती उपन्यासों की पुनरावृत्ति ही उनमें हुई है। धार्मिक जीवन की वैचारिक भूमि इतनी खराब हुई और अटल है उसका उत्तर इतना व्युत्पन्न और समीपी होता चाहिए कि उपन्यास को सूर्यमस्तक करवा पड़ रहा है और इन प्रक्रिया में उसका कमेजर हीन और निस्तेज होता जा रहा है। इससे उसका स्वास्थ्य बुरा है यह धमी नहीं कहा जा सकता। पश्चिम में सार्थ कमस मारिया और आइने जैसे उपन्यासकार उपन्यास का छोड़ कर नाटक निबन्ध लेख और बार्ता की ओर झुके हैं। यह कदाचित् इन अत्यु-युग की दुर्निवार्यता है कि उत्तर गुरुन्त मिल और कला प्रमोषी प्रगतिशील तथा संसभम हो परन्तु नूतन और उत्तम के प्रति यह धारण क्या नये उपन्यास के बस की बात है या इन क्षेत्र में उनकी प्रपणामिता सब बनी रहनी। "अयबर्द्धन" ऐसे ही धनैक प्रश्न उत्पन्न है जो पश्चिमी साहित्य जगत में बराबर पूछे जा रहे हैं और अभी अनुत्तरित है।

तपोभूमि

'तपोभूमि' जैनेन्द्र और ऋषभचरण जैन की सम्मिश्रित कृति है। १९१४ ई० में यह कृति प्रकाशित हुई। परन्तु 'घागी बाग' दीर्घतः ऋषभचरण जैन के निबन्धन से बह स्पष्ट है कि १९३२ की जैन-यात्रा से पहले जैनेन्द्र ने यह कृति उठाई थी और इसे धपूरी छोड़कर ही यह जन्म जन्मे गये। बरिली की कहानी का कुछ भाग सतीश की कहानी और उपसंहार ऋषभचरण जैन की रचना है। एक प्रकार से नवीन की कहानी और बरिली की कहानी ही जैनेन्द्र की रचना कही जा सकती है। फिर भी इन दोनों खण्डों में एक तरह से कहानी सम्पूर्ण है और उसमें जैनेन्द्र की कला और दृष्टिकोण का प्रारम्भिक रूप हमें मिल जाता है।

उपन्यास के मुख्य पात्र चार हैं। नवीन, सतीश, बरिली और शशि। कल नायक के रूप में बरिली के बैठे सम्मकास हैं। सतीश की कहानी में नवभारत नाम के एक नये पात्र की कल्पना हुई है जिससे सतीश उलाह सेना है। परन्तु बाग-बाग में उलका नवभारत के पास बीड़ना हास्यास्पद हो जाता है। मौख्य पात्र पात्रियों भी हैं, परन्तु चारित्रिक दृष्टि से वे मर्यादापूर्ण नहीं हैं। कथा का दीर्घतः 'तपोभूमि' रखा गया है। संभवतः यह ऋषभचरण जैन की सूझ है क्योंकि शास्त्रिय जीवन् (या मृदम्य जीवन्) की सतीश की कहानी में 'तपोभूमि' बताने का प्राचीनतम उन्हीं का है और नवभारत के द्वारा इसी की व्याख्या हुई है। परन्तु इस मर्यादा में जैनेन्द्र की भी पूर्ण सहमति हो सकती है क्योंकि उनके परिचर्या उपन्यास इसी दृष्टिकोण का विचार है जो पति से पत्नीम उदात्ता चाहता है। नवभारत चरित्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं "शुभिका से बिना पीस को चरित्र समझ ही मैं उन्हीं को चरित्र नहीं समझता। चरित्र का एक अंग उसे कहा जा सकता है परन्तु मेरी समझ में, वह बहुत कुछ बलु है। स्त्री के चारित्रिक स्वतन्त्र को लेकर मैं पूछते हैं मैं पूछता हूँ तुम इतने उदार क्यों नहीं बन सकते। स्त्री के दिल पर अधिकार करो वह इतर उतर जन्मे जाने की कल्पना भी न करो,—यह पड़ती बात है। इसमें अगर तुम यत्न रहे, तो मेरी राय है दोनों दिलों को धपनी-धपनी राह चलने दो। यक्यत यह है कि दिल के किसी घाव उरल जन्मे जाने को ही एक कुछ न

समझ बैठो। पुत्र मरि इना विचारसीस बन नाम तो तपोभूमि का धारा उपद्रव सुप्त हो जाव। इनी पाव से कुछ पहले यूँ कहनामा मया है — यों समझो कि गृहस्त्री तात्या का स्वाग है। स्त्री धीर पुष्प में बराबर का बँधारा दिया मया है। दोनों का हिस्सा बरा भी कम-ज्यादा नहीं। प्राचीन हिन्दू संस्कृति की सामाजिक व्यवस्था सबका कुछ सत्व धीर मुक्तिसगत थी। ऐतिहासिक बटना-बन्ध में पढ़कर इस व्यवस्था का पतन धारम्भ हुआ। धाम हमारे ओ संस्कार है कुछ ही वर्ष पहले के इतिहास में इनका प्रभाव पाओये। पुत्र ने स्त्री पर धपने जिस धीर जैसे अधिकार की कल्पना कर रखी है मेरी बुद्धि किसी भी प्रकार उसे तर्कमुक्त धीर ग्यापमुक्त नहीं स्वीकार कर सखी।” निश्चय ही इस मन्तव्य में जैनेश्वर का स्वर बोल रहा है सम्भले ही उनके म हा।

जैनेश्वर के जिसे भाग को लकर चमें। कहानी बोधी ही है। नवीन परिषी के साथ मेसा है धीर उनका भाई सतीष उसका महपाठी रहा है। परिषी का विवाह हो जाता है परन्तु जिस दिन धपनी दूमरी बाम-समिनी सधि से नवीन परिषय-भूष में बँचने वासा है उनी दिन उसे ज्ञान हो जाता है कि परिषी विधवा है दुखी है जाकिन होकर पतिगृह से निर्वासिता है। यह उसकी रसा में तत्पर हो जाता है धीर सारी लीला छोड़ कर साथ की घीब सहने का उपाय करता है। वह परिषी उसके बैठ सममसात धीर उसके पिता के बीच में पा जाता है। परन्तु वह परिष का दुर्बल है। परिषी बच उसकी धोर मुख कखी है तो वह भाग लड़ा होता है, बचना चाहता है। उसत्यक्य परिषी पना की शरण ले भठी है। इस मरत्याधित बटना से प्रभावित होकर नवीन माँ से प्रस्ताव करता है कि सधि मे सम्भब वह नहीं कर सकेया धीर मा का धासीधरि पाकर वह परिषी की ओर में निकल जाता है। बड़ी जोर के बाद परिषी काठी में मिसती है। वह मेर्या बन गई है धीर राजा साहब के यहाँ मुकरे में धाई है। राजा के धाद मिथी को मेरकर उसने नवीन को बड़ीबुसा मिया धीर धन्त में नवीन का सम्भाव पाकर उसके साथ चली धाई। चली तो धाई, परन्तु क्या नवीन उसे पत्नी के रूप में स्वीकार करेया ? नहीं। वह धपना कलम्य-मात्र निभाता है। सधि धब भी उसके मन में जाणठी है। वह है नवीन की कहानी। परिषी उसके मन की पड़ लेती है उसकी बेचना पान लेती है धीर धावह करखी है कि उसे सधि के पास जाना होया। नवीन का कहना है कि वह परिषी के प्रति सत्राज के धत्याधार का प्रायश्चित्त कर रहा है धीर उसके पैरों में धपनी सब कामधामों को चड़ा कर उसका उत्तरदायित्व पूर्ण होया। परिषी कहती है कि यह बोधा धादधंधार है मयावह है धागि क प्रति भी बसता कर्त्तव्य है परन्तु मान कर भी नवीन नहीं मानता।

परिषी की कहानी नवीन की कहानी का एक धंध में पुरक है। परिषी धबोध बालिका है। विवाह के उपरन्त ही पति बीमार पड़ जाता है धीर मृत्यु को प्राप्त होजा है। बैठ सममसात उसे धपने बच में कर्त्तव्य लेते है धीर बेचठी वह धब है जब कहीं की

भी नहीं रह जाती। डाक्टर से मिलकर वह "साक्षा" से छुट्टी पा जाना चाहते हैं। परन्तु तभी चरिणी का तेज बाधत हो जाता है। उसका सतीत्व नष्ट हुआ है। मातृत्व भी वह नष्ट करना नहीं चाहती। उसका पुनर्जन्म होगा है। धरने तेज से वह क्रूर-कर्मा संगमनास को भी परास्त कर देती है। परन्तु जब डाक्टर को प्रबाध में विनोद कर एकदम प्रसन्न बनना चाहना है तो वह विना के कर पा जाती है। पूछने पर भी वह उस पापी का नाम बनाना नहीं चाहती जिसने उसे भ्रष्ट किया है। यहाँ मारी का शमामय रूप सामने आता है जो ब्रह्मिदान धीर त्वाव की प्रतिमूर्ति है। संगमनास को माहित करके वह उसे समाज की दृष्टि में गिराना नहीं चाहती। पता नहीं यह कहाँ तक मनोविज्ञान भिन्न है? कदाचित् चरिणी में धार्मिकवाद की प्रतिष्ठा करने के लिए उसकी प्रतिहिंसा को कुच्छिन्न किया गया है। परन्तु क्या इससे चरिणी का चरित्र बढ़ा है? चरिणी का नवीन के प्रति आकर्षण क्या एकदम प्रतीतिव्य है। कबा के मरण में वह सधि के प्रति धरने को उत्सर्ग करके उठी प्रथम है। परन्तु कबा निस्वसनीय नहीं बन पड़ी है।

यहाँ जैनेन्द्र भिक्षित कथाव समाप्त हो जाता है। धीरधर में सधि सतीस को ध्याही जाती है। परन्तु वह उसे सम्पूर्णतया नहीं पा सकता। सधि के मन में नवीन है। यह जानकर वह उत्पन्न हो जाता है। धीर धीरे-धीरे उसके भीतर का राजस उसे परास्त कर देता है। वह पशु बन जाता है। चरिणी के प्रादुर्भाव से जब नवीन सधि से मिलता है तो उसे पना लग जाता है। धीर नवीन द्वारा सधि को मिले पत्र में प्रेम की बात जिस प्रकार विबाह के ऊपर रखी गई है उसने वह सधि को एकदम पतित समझ देता है क्योंकि कि इसमें उसकी भी प्रतिस्पर्धि है। एक दिन सीपता है तो घर छाभी पाता है। सधि नवीन के पास नहीं गई है। सतीस नवीन के घर पहुँच जाता है धीर उसकी हत्या कर खाता है। उसी विषया ने मय में चरिणी कहाँ या पहुँचती है धीर वह प्रताड़ित होकर भाग निकलता है। रह जाती है बुझिनी सधि धीर उससे भी अधिक दृष्टी भरिणी। वह कबा-नाम श्रुतमचरसु जैन का जोड़ा है।

इसमें संदेह नहीं कि कबा की पुरा में धीरव्यासिख्या का पूरा-पूरा निबन्ध हुआ है। परन्तु वास्तव में धीरव्यासिख्या उतनी प्रबल नहीं है जितनी समस्या। सैबक का सधि प्रवर्धवाद भी साफ झलकता है। संगमनास की लोचुनता की कबा (चरिणी की कहाँ) एक प्रकार से पार्श्व भूमि में है। प्रबल बीज है साक्षित मारी के प्रति नवीन का कर्तव्यमूलक उन्माह धीर वह तर्क-विचार को नवीन के कर्तव्य को महत्व दे देता है। सधि के प्रति उसका आधिपत्य इसी कर्तव्य-बुद्धि की उपज है। कबा का मूल नवीन के इस विचार में है कि प्यार की चाह भिन्ननी निसर्ग-मुन्धर निसर्ग-मुठ बस्तु है। किन्तु इसी की हमने छिन्नी साक्षित बस्तु बना दिया है। नवीन में समाज की प्रबलित माग्य धर्मों के प्रति (विसेपववा विषयापन धीर मारी के आरिभिक स्वभन के प्रति) विरोह ही अधिक प्राथमान है। चरित्र में वह जैनेन्द्र के माग्य धर्मों की भाँति ही दुर्बल है, परन्तु

उनके विपरीत वह उठ सकता है और समाज को चुनौती देकर मीठ तक पहुँच सकता है। बौद्ध के धर्म उपवासों के माध्यम समाज की बबलम्यता को स्वीकार करते हैं। परन्तु इस उपन्यास में बौद्ध का तात्पर्य पब्लिक वायज है और दार्शनिकता एक तार्किक सूक्ष्म सूक्ष्म ने उसे कुच्छित नहीं किया है।

धार्मिक कला की दृष्टि से रचना दुर्बल है। बार प्रमुख पात्र घमग-घमस घम कर घानी कहाती कहते हैं। बाइबल में कहाती तो पहले ही पात्र की आत्मरक्षा में भा जाती है और इससे पाठक की जिज्ञासा समाप्त हो जाती है। केवम बोहे-ने खुने सुनों को लेकर धाकासा को घमस तब लीबा नहीं जा सकता। मु इरतान के बलनायक तब में कोई नवीनता नहीं है। घनेत सामाजिक उपन्यासों में ऐसी परिस्थिति की कल्पना है और बरली का (तनी) बस्या बल जामा भी कोई नहीं कल्पना नहीं है। निरपय ही वह कल्पना विविधो डय स घायोजिन की गई है और घबिबयनीय है। पात्रों की स्पष्ट कल्पना भी सामने नहीं आती और न भाबोबुबास-मान रह जाते हैं। इस पहली रचना में ही निदानपरता बौद्ध के पब्लिक की घोर संकेत देती है और उनके उपन्यासों की भूमि को निर्धारित करती है। यह स्पष्ट है कि मनीन क टप न बौद्ध स्वयं उपस्थित है घपना कल्पित घादर्य टप उन्हींने मडा है जो "परब" में कट्टो के सामने घादर्यभ्युन है और यही बापपी घादर्य के बल पर हुवा में भूतने लया है।

बौद्ध की "परब" वाली भाषा-शैली का कोई संकेत हमें इस रचना में नहीं मिलता। एक स्थान पर टिप्पणी देकर लेखक ने समसामयिक उपन्यास-कला पर घपना घलम्य भी प्रकट किया है। वह कहते हैं "आधुनिक उपन्यासा में इस तरह की बात की लाल विकासने में कई पल्ले कास कर बालना सम्य माता जाने लया है। मे इसे हिन्दी का सीमाय नहीं मानता पर तो भी हिन्दी-हिन्दीयियों की इस उदारता से बोझा साप उठा लेना चाहता है।" लेखक के घम्ययन और चिन्तन का प्रभाव भाषा-शैली पर कहीं कहीं भ्रमक घाया है परन्तु नवीनता इतनी ही मर है। यह स्पष्ट है कि इस रचना से बौद्ध की परबर्ती कृतियों का मंतम्य-साम्य होने पर भी उतकी परिष्कृत कला का कोई अनुमान नहीं होया।

जैनेन्द्र की उपन्यास-कला का विश्लेषण

टकनीक

जैनेन्द्र के उपन्यासों का सबसे बड़ा आकर्षण उनका टेकनीक है। कला के संर्ष में बाह्य बहु धनात्मक बलमै का रंभ करें परन्तु यह स्पष्ट है कि बहु सामकक कलाकार हैं। शब्दों की योजनार्था क प्रति उनकी शक्ति लुप्त है और उन्होंने क्या कौ प्रभावशाली बनाने का प्रयास किया है। यह दूसरी बात है कि उनके उपन्यासों में "धारावाह" भी "धारावाह" हो कर आया है परन्तु मई कला-दृष्टि जैनेन्द्र क उपन्यासों में धारंभ से है और धारंभिक उपन्यासों के ही बलत्त्वों में स्वयं लेखक उसकी धीरे धीरे भिन्न विद् विद् गही रह सका है। "गुनीश" की बहु प्रस्तावना जैनेन्द्र की उपन्यास-कला का मूल मंत्र है जिसमें उन्होंने कहा है कि "मैंने कहानी कोई लंबी चौड़ी नहीं कही है। कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य ही नहीं है। परंतु तीन-चार व्यक्तियों से ही मेरा काम चल गया है। इस विश्व क छोटे-छोटे खंड को लेकर हम अपना चित्र बना सकते हैं और उसमें सत्य के रंभ पा सकते हैं। उसके द्वारा हम सत्य के रंभ कर भी सकते हैं। जो बहारा में है, वही पिंड में भी है। इसलिए अपने चित्र के लिए बड़े केवलक की जरूरत मुझे नहीं लगी। पीढ़े में समपता क्या न दिखाई जा सके।" यही दृष्टिकोण उनके सभी उपन्यासों में मिलता है। सभी में कथा सूक्ष्म है मानसिक है। उसमें बहिर्मुख का बटना-बनाटोप नहीं है अंतर्मुख का आकाङ्क्ष-विनीडन है। जैनेन्द्र के हार्द पात्र प्रसिद्ध हो गते हैं। हार्द-पीन की गिनती छोड़कर जलें तो भी पात्रों की संख्या अंभियों की संख्या से अधिक नहीं रहती और उबरते ता तीन चार पात्र ही हैं। शेष तो पृष्ठभूमि में रहते हैं।

वास्तव में जैनेन्द्र कला कहां कहते हैं? वह तो सूक्ष्म-बुद्ध देते हैं, भावना देते हैं मीनर का रंभ उभारने हैं। इसके लिए अधिक घटनाओं और पात्रों की आवश्यकता हा नहीं है? परन्तु सब से महत्वपूर्ण तत्व लेखक का दृष्टिकोण और उनकी मुख्य-रंभ की चारखा है। वह जो दिखाना चाहता है वही "अंभ" में जाता है। इसी में उसकी कला है। अतः इन उपन्यासों में दृष्टिकोण प्रयास है। अन्तः टेकनीक महत्व प्राप्त कर लेता है। जैनेन्द्र का विश्वास है कि सत्य प्रकृति है आदिभितता भी काव्यिक भी है क्योंकि

पावनी गह्वर है। ठम में रहता है और रहस्यमय है। इससे वह स्पष्टताएँ ही उभारते हैं और प्रत्येक उपन्यास में नये ढंग से। एक ही बात को जब कई दृष्टिकोणों से देखता है तो मुझाएँ भी विभिन्न रहनी होंगी।

कमलकाय जैनेन्द्र के उपन्यासों में कथा कई रूपों में सामने पाती है। "परब" "सुनीता" और "बिबर्त" में कथा तृतीय पुरुष में कही गई है। लेखक ही वृष्ट है। "तपोभूमि" में तीन पात्र अलग-अलग कई बार आ-आकर कथा कहते हैं। "रयागण" में एक प्रमुख पात्र (जब एम० इयाल यानी भतीजा प्रमोद) ही मृगास का जीवन-वृत्त उपस्थित करता है। "कल्याणी" में बकील साहब के रूप में एक वटव्य वृष्ट है जो पात्र हीकर भी कथा में शामिल है। वह उपन्यासकार का ही प्रतिनिधि है। उसी की धारों से लेखक या प्रसंगी और कल्याणी के जीवन को देखता है। जीवन की पारी भूँची नहीं घा सकती इसीलिए बकील साहब के कई मित्र बीच-बीच में प्रथम उपस्थित करते हैं और कल्याणी के परिवार को धारने-धारने दृष्टिकोणों से देखते हैं। यह स्पष्ट ही जैनेन्द्र का "धनेवाणी" ढंग है जिससे वह सत्य के अन्तर में पहुँचना चाहते हैं। "सुखरा" में कथा सुखरा के दृष्टिकोण में कही गई है। "भतीत" भी धारम-कथा है। परन्तु जहाँ "सुखरा" में मृगशा की धारमरुपा भीतरी बर् (या एम) में डूब कर कही गई है वहाँ "धनीत" में धारत केवल रेखाएँ उभारता है जिससेपण नहीं करता न धारने परिवार का कोई मूत्र हमारे हाथ में पकड़ाता है।

इस प्रकार वहाँ धारणी है कही बिखरे पन्ने मिट्टे गये हैं कही "पुनरुच" भी जोड़ा गया है और धारिर्भित एवं वास्तविक कथाओं को भरसक जीवन की वास्तविकता देने का प्रयत्न किया गया है। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार कही गई कथाओं की धारणी सीमाएँ हैं। लेखक सर्वदली होकर सिद्धता है परन्तु वह सच्चा नहीं लगता। उसकी कथा में जीवन का धम नहीं धाता। वह ऊपरी लगती है। "हाकुमेस्टरी" (प्रामाणिक) बनाकर उस जीवन की वास्तविकता दी जाती है। परन्तु वास्तविकता का यह लोम क्या इसीलिए नहीं कि जैनेन्द्र कथा पढ़ते हैं और जीवन की धारार्थ भूमि से धारने बहकर संभावनाओं को धारिक मूने हैं? जो हो यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र के उपन्यासों की रहस्यमयिता इस कारण भी है कि उन्होंने सर्वदली लेखक के दृष्टिकोण को रयाग दिया है और धारों को बीच में रखकर धारिक प्रकार से धारिक कोणों से उनको पकड़ने का प्रयास किया है। हम यह पूछते हैं कि/जैनेन्द्र मन के धारधार हैं धारंर्यय के धारि हैं वह धारिर्धय को भीतर से ही मूने हैं। इसीलिए "धामम" को पकड़ने के लिए उन्हें प्रयास करना पड़ता है। तभी तो वह कम धारों को लकर चलते हैं और जैने "कल्याणी" या "रयागण" में उनकी दृष्टि धारान धारों पर ही रही है। धारमम में उनका उभार ही धारिका धारान है। इन धारिकाओं के भीतरी धारों को जैनेन्द्र ने धारि है। कही उन्होंने स्वयं धारने भीतर धारिने की वृष्ट की है और इन धारमम में जैनेन्द्र की पकड़ में धार धा गया है वह उन्होंने हमें दे

रिया है। कभी उन्होंने प्रबान या तटस्थ पार्श्वों के भीतर से उनके भीतर भ्रूंकने की चेष्टा की है। परन्तु किसी के मन को इसपर पूछ-गूँघ जैसे समझेगा। कम यह होता है कि जहाँ 'मुसदा' में सूक्ष्मता होना हुए भी पाठों कम है वहाँ 'त्यागपत्र' और 'कस्यापी' में मृगाल और कस्यापी समझ है। बुद्धा के मन में प्रमोद की वृत्ति ही स्थिती और साहज प्रपने बकीसो ज्ञान को लेकर, या मिश्रों की कामवाजी सादी को लेकर कस्यापी के अन्तर्गत प्रदेश की हलचलों को जैसे पकड़ सकता है? इस प्रकार साक्षरी दृष्टिकोण सब की है। नये तकनीक की सीमाएँ हैं और पदार्थ का ज्ञान जाहें जो सूबा गया हो कथाएँ खुलस्यमय ही रही है। उनमें पाठक लुप्त नहीं होता। जैनेन्द्र कहेँगे पाठक को तोय उन्हें कहाँ देना क्यों देना? उन्हें तो पकड़ना है, विश्वास प्रदाना है। इस दृष्टिकोण से जैनेन्द्र प्रत्येक सफल कलाकार है क्योंकि पाठक उनके पार्श्वों में उलट जाता है और उसकी प्रताडित चेतना समाधान का मार्ग खूँडे के लिए भीतरी प्रस्ता प्राप्त करती है। इस तरह जैनेन्द्र ने उपन्यास का नहुँवाई की है और उसे सूक्ष्म बनाया है। परन्तु इस प्रयत्न में उनके अति 'आरिषता' छोड़कर समझ भी बन गये हैं। इन पार्श्वों को छुपे डंग से रखने पर वे क्या होते वह हमारे लिए अनुमान का विषय है। परन्तु अब तो वे जो हैं। उन्हें छुपना ही नहीं है। उन्हें उछी रूप में लेकर ही हमें बनना होगा।

कथा-समय

प्रेमबंध की तरह जैनेन्द्र कई कथाएँ लेकर नहीं चलते (सभी उपन्यासों में केवल सापेक्षारिक कथा ही है वह भी संपूर्ण जीवन को लेकर नहीं) जीवन ने एक प्रंग को, अधिकतर बी-आई क्यों को लेकर चली है। जहाँ कथा कुछ लकी है जैसे "अपीठ" में वहाँ जे कलात्मक डंग से उसे बीच में तोड़कर सूक्ष्म बना दिया गया है। लेखक विद में ह्याण्ड बंझने का दावा करता है, यह कुछ पौड़ से पूछी में ही वह आधुनिक समाजनामों की विषय विषयटी भर देता है। वास्तव में जैनेन्द्र का मानव-जीवन को देखने का दृष्टि कोण ही प्रेमबंध से भिन्न है। वह कतू स्व नहीं देते नाबो का फालोडम विलोडन देते हैं, बन्धन देते हैं। धार्मिक अनुप्य उनकी कथा का विषय है हाइ-मास का धरिद नहीं तो कतू स्व में बची है। फलतः उनके पात्र बेचारे हैं। वे कुछ करते-बाधे नहीं जान पड़ते जबल हाने में ही उनकी सार्वभसा है और बनार्यँ जतनी ही है जितनी उनकी मानसिकता ने उमारने के लिए काफी है। बटमार्यँ भी आरिषिक मूमि से नहीं निकलती क्योंकि मित्र अरिष को कोई निश्चित इकाई नहीं मानते। वह मानव-जीवन की बिलहालुता में बंधाम करते हैं। फलतः बटमार्यँ में तापम्य कम रहता है या उनके बीच के मूब सोडना कठिन होता है। इसने उनमें बमल्लवि रहती है परन्तु अरिषों की मनोबैधानिक बच पर वह पूरी नहीं उतरती। जैनेन्द्र ने बीच-बीच में प्रतीक रूप में 'रवण' या 'कामानिक बालिशान' की प्रवधारणा की है जैसे 'त्यागपत्र' में प्रमोद और मृगाल के विष में या संपूर्ण प्रबंध को ही प्रतीक-रूप में रखा है, जैसे कस्यापी के मन 'जम' (हेम्सू

सिनेधन) का प्रसंग जिसके द्वारा देखाबसकर की परवतारणा की गई है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जीनेन्द्र के लिए मानसिक मूमि ही पर्याप्त रही है। वह मानस के उच्च तल को ही बटना मानते हैं, बहिर्जगत् के पाठ-प्रतिपाठ को नहीं। इसी से परंपरागत रूप से बटनाओं की प्रायोजना कम है।

परन्तु जहाँ कम कर कथा कही गई है वहाँ कथा में नाटकीयता भी रही गई है और कथा धीरे-धीरे लुप्त होती है एवं घाटांशा का तलक प्रंत तक बना रहता है। 'कल्याणी' में यही स्थिति है। उसे हम परंपरागत ङग के कथा-संमेलन पर परख सकते हैं। बहुत दूर जाकर हमें मान्य होता है कि मूस में कल्याणी का प्रेम भाव है विकल प्रेम है। इस नये संबंध में डा. अमरानी (पति) के प्रति उसका बिभोम समझ में आने लगता है। यह कल्याणी के चरित्र की कुबी है जो बरा देर में मिलती है परन्तु इसके द्वारा हम उपन्यास के सारे रहस्य-रस उगुफ्त कर सकते हैं।

जीनेन्द्र की कथाएँ जीवन प्रवाह को लेकर चलती हैं या खंड जीवन को। यह खंड जीवन भी नष्ट एवं प्रधान नहीं भाव प्रधान रहता है। फलतः प्लाट की योजना उसमें उतनी नहीं। 'कल्याणी' में यह है और इसी से यह परंपरागत ङग के उपन्यास के निकट है परन्तु धर्म उपन्यासों में केवल कथा कही गई है। कथा भी क्या 'बटनाएँ' हैं या 'बिना' है जिन्हें स्वतंत्र रूप से पढ़ा गया है और धारणा तथा विवेचना के बिना यों ही उपस्थित कर दिया गया है। यह कथा बस जीवन के वैयक्तिक प्रवाह को लेकर चलती है और पाठ प्रतिपाठ की उतनी प्रायोजना नहीं होती जितनी सहज जीवन-व्यापार के उद्घाटन की। प्रति दिन प्रति क्षण की भाव-तरंगों का आलेखन लेखक करना चाहता है जिससे यह जीवन-व्यापार उसके लिए सुमन हो। बड़ी दूर तक कथा की यह सहज स्थिति चलती है पर स्पष्ट इस शृंखला की अकस्मिक सीमा तक बढ़ाया नहीं जा सकता। फलतः लेखक को किसी बिस्फोट की वसूला करनी पड़ती है। यह या तो भाव बिस्फोट होता है या क्रम बिस्फोट, परन्तु इसके पूर्वा पर सूत्र हमें नहीं मिलते और हम उसे लेकर आश्चर्य-चकित हो जाते हैं। जहाँ यह भाव-बिस्फोट आया है, वहाँ इसके बाद प्रभाव पाठों का प्रत्यावर्तन है जैसे "सुनीता" में। जहाँ क्रम का बिस्फोट है जैसे 'बिभर्त' में या 'सुपरा' में वहाँ कुछ ऐसी अकस्मिक वसूलाएँ बटित होती हैं या समस्या के उभय पक्षों में से एक के पक्ष में फैलना कर देती हैं जैसे इन दोनों उपन्यासों में हिंसा पर अहिंसा (या प्रेम-धर्म) की द्विजय दिखाई गई है और साथ ही और जितन बिफल होकर पलायन कर जाते हैं। इन पलायन के साथ ही बिबाह और प्रेम (धर्म का पर और बाहर) संबंधी अकस्मिक समस्या भी हम हो जाती है। इन प्रकार की योजना का भाव-सूत्रों को लेकर चलती है एक प्रेम और बिबाह का सूत्र है दूसरा हिंसा और अहिंसा का। वास्तव में 'सुनीता' 'सुपरा' और 'बिभर्त' तीनों उपन्यासों में यह ही भाव-सूत्र धारण है। 'सुनीता' में प्रेमो हरिप्रसन्न ही प्रतिपाद्य है और हिंसा अहिंसा

की कोई समस्या नहीं उठी है। मुनीन्द्रा हरिप्रसन्न ठो हिंसा के मार्ग से हटना चाहती है परन्तु उद्यम मार्ग के प्रति और मूल-रूप से हरिप्रसन्न की आचारानी और उद्बुद्धता के प्रति उसके मन में आकर्षण है। हरिप्रसन्न के मन की काम-संज्ञि सुनने पर 'हिंसा' की कोई आत्मबलता नहीं रहती क्योंकि हरिप्रसन्न की जाति-कारिणा स्वयं अपने से मायना ही है। यही दमित काम ही हिंसक बन गया है। इस प्रकार 'मुनीन्द्रा' में हिंसा-अहिंसा का युद्ध चलन नहीं रह गया है। "सुखदा" में कर और बाहर की समस्या काट और लाल को लेकर है और हिंसा-अहिंसा की समस्या हरिदा और लाल का लेकर है। वास्तव में हरिदा और लाल के बीच में जो समस्या है वह हिंसा-अहिंसा की नहीं मायीबायी हिंसा (जो कम-से कम हिंसा चाहती है और वैतिष्ठता पर प्रतिष्ठित होने के कारण मारी का भावमय उपयोग ही चाहती है, सर्वोपयोग नहीं।) और पश्चिमी बंध की जाति-धर्म हिंसा (जो वैतिष्ठता को बहा नहीं मानती और जन-निष्ठ न होकर वर्गनिष्ठ है) को समस्या है। इस प्रकार कथा में मायना के दो समानान्तर सूत्र फँसे हैं एक सुखदा के प्रति विश्वोद्घ को लेकर उसके अहिंसकता की कथा बनता है, दूसरा लाल के हरिदा के प्रति विश्वोद्घ को लेकर मायीबायी हिंसा की आत्मबलकारिणा और पराजय (परन्तु क्या वह दूसरी तरह विजय भी नहीं है क्योंकि हरिदा का बलिदान लाल को निरस्त कर देता है और वह अन्न से हूँ पाता है)। विवर्त में जितने में प्रेम और हिंसा के बानों लून फिर एक बार मिल पते हैं और सुखदा की अपेक्षा कथा अभिन संगठित है। जितने की हिंसा निष्कल प्रेम के कारण विरोधजन्य है। वहाँ वह राजनीतिक कम है। वर्गनिष्ठ होने के कारण साया बिक ब्याया है। परन्तु अपने मन के विवर्त से परिचित होकर जितने अपनी आत्मिकारिता की मूल बुद्धिमत्ता को जान पाता है और बस यम कर देता है। इन तीनों उपन्यासों में कथा विस्तार के लिए आत्मिकारी आत्मोत्थन को लाया गया है और उसे व्यर्थ कराया गया है। रवीन्द्र के "बड़े-बाहरे" और "चार मज्जाय" (कसुरंग) और धरत के "पक्षे बायी" में आत्मिकारी आत्मोत्थन की जो अपेक्षा है उसे ही जैनेन्द्र ने छोड़ दिया है परन्तु आत्मिकारियों के वास्तविक जीवन में जतनी कितनी पठ है, यह नहीं कहा जा सकता। आत्मिकारी बस के नेताओं ने पक्षे बायी एक को आत्मिकार कर दिया है। उनका कहना है कि यह विश्व वास्तविकता से दूर है क्योंकि इसमें आत्मिकारियों को आत्मिकता की भूमि पर से देखा है और इसीलिए जतने प्रेम प्रसंगों को भाकर आत्मिकार किया है। बल दृष्ट है इसलिए कि हृदय दृष्ट है। वह योजना आत्मिकारी बंध को स्वीकार नहीं है। परन्तु बंगला और हिन्दी उपन्यासों में इन्हीं ही आत्मिकता मिली है।

येप उपन्यासों को बँटो कथा-संपदन के तीन रूप सामने आते हैं। 'धरत' में सरवजन के सत्य सिद्धान्त की विफलता बिहारी को साकर की गई है। स्वयं सरवजन के मन में डील है। एक ओर परिभा से बिबाह करके समाज की कर्वादा मिलती है दूसरी ओर बिबना कट्टी में बिबाह करके मर्वाता जाती है। बिहारी को न साकर भी सरवजन

को विकृत किया जा सकता था। बिहारी की योजना जैनेन्द्र की धार्मिकवादी प्रकृति की विषय है। कथा को विश्लेषण और प्रत्यावहारिक धार्मिकवादी परिणति उसी के कारण (यद्यपि उसी के माध्यम से) मिली है। 'वैषम्य-यज्ञ' की कल्पना मुनीता की निराकर गथा से कम विस्फोटक नहीं है परन्तु जैनेन्द्र सूझ के धनी है। उनके उपन्यासों की त्रिभिन्नी परिणति मनोविज्ञान या कला के किन्हीं बन्धनों को स्वीकार नहीं करती। 'त्यागपत्र' में पामोमुल (परन्तु क्या ऊर्मोमुल भी नहीं) मूपास की जीवन-कथा है जो बड़े नमोत्सव रूप से संक्षेप में कही गई है। उसकी विशेषता यही है कि उसमें रूप-विज्ञान का किञ्चिद् मात्र भाग है नहीं है। जीवन बहना है इसी से कथा भी बहती है। 'व्यतीत' में धारम्भ से अन्त तक अथवा और अन्तिम की विवृष्टता की भाषा है परन्तु अन्त के अन्तिम को अतीत की भूमि देने के लिए और अन्त में उसका हृदय में अपने को बचाये रखने की प्रयासकला और पीड़ा भरने के लिए बुधिया सुमिया अन्ती और मित्रक कविम के प्रेम-निवेदन की कल्पना हुई है। पसल हम रचना का रूप-विधान कई स्वतन्त्र प्रेम-प्रसंगों की गूँथना लेकर चलता है और य प्रेम अथवा अन्तिम के जीवन-यत्न में जाने जाने बुनते हैं।

घटनाओं में प्रतीक-योजना

नई उपन्यास-कला में मानसिकता की प्रधानता रहती है। बहुत्व-वस्तु नहीं भाव-वस्तु ही सब कुछ होता है। घटनाएँ भी भाव-वस्तु से ही सृजित होकर अथवा प्रसिद्ध मात्र होती हैं या पुरक। ऐसी स्थिति में उपन्यासकार उन्हें केवल घटनाएँ बना कर ही अपने कर्तव्य की इतिमी नहीं समझता। वह दूर जाता है। वह कुछ ऐसी घटनाएँ सेता है जो दूर तक अपना प्रभाव डालती हैं। ये घटनाएँ प्रतीक रूप में आती हैं और इनसे संक्षेप में बहुत कुछ कह दिया जाता है या व्यंजित होता है। वास्तव में हम प्रतीक-योजना के द्वारा उपन्यासकार पात्रों के अन्तर्गत स्व को ही प्रकट करता है। मुनीता में 'राजगणी मोरा' प्रथम को इनीलिए साया गया है कि उस पर से भीवागत और मुनीता गरीब के बाविल के सम्बन्ध में प्रसन्नतर कर सकें। श्रीकाम्य राणा का पद सेता है, मुनीता मीरा का पद लेनी है। यही वास्तव में उपन्यासकार का ही दृष्टिकोण है। पति की धार से देखने पर राणा का पद ही स्वाभाविक है मीरा की मोर से देखने पर वह किसी भी प्रकार लायित नहीं है। हम प्रकार दृष्टिकोण का बदल कर ही हम जैनेन्द्र के पात्रों के अन्तर्गत में प्रवेश कर सकेंगे।

'कल्याण' में तो कदम सब कुछ को कल्पानी करती है प्रतीक-वाचना ही है। डॉ० अरुण के परिवार में सुलभिम आना यदि पति से स्वतन्त्र होकर पत्नी की धारमोक्षमि की योजना है तो सर्व भाव भी उसी प्रकार की योजना है। किसी भी प्रकार कल्याणी पति का भाग पति को देकर अपने किञ्चिद् स्वतन्त्र होना चाहती है। इसके बाद पर में हत्या की गई नारी की प्रेमात्मा की भाँति और बुलानीकर में हत्या

की कल्पना मनोवैज्ञानिक प्रतीक-योजना ही है। इस योजना में कल्याणी का भावपीडित मन ही उभरता है। वास्तव में जैनस्य के चरित्र उनके विद्वान्तों के प्रतीक बनकर सामने आते हैं और ब्रह्माधर्मों में भी किसी-न-किसी प्रकार की प्रतीक-योजना चलती रहती है। फल यह होता है कि जीवन का यथार्थ संचन कुछ हो जाता है और सब कुछ सम्भाव्य मामलों पर आधारित होने लगता है। घटनाधर्मों में स्वयं सचय की बाली का प्रस्ताव है" ऐसा कहकर लेखक ब्रह्माधर्मों का घाघ्रह करता है और घालोड़न विरोधन से बचना चाहता है। वह स्पष्ट रूप से घोषणा करता है कि जिस पर कल्याणी का यह जीवन चरित्र नहीं है। उनके व्यक्तित्व को चारों घोर से लेकर विश्लेषण द्वारा पुनर्निर्माण करने की मेरी इच्छा नहीं है। यह तो सिर्फ कहानी है जिसमें संवेदन हुआ तो भेने भर पाया। घहानुभूति से घाने मुझे घोर क्या चाहिए? पात्र यदि चाहिए तो उन्हीं को टिकाने के लिए। चरित्र लिखने की मेरी ताब नहीं। जो मरने है घोर घब स्वयंस्थ है उसकी मूर्ति नहने का मे कष्ट उठाऊँ तो नयो? बस कुछ घाद की बातें नहूँ कि कही हमार चित्त घू बाब घोर उधमें रस का ओठ घुल बाय। (कल्याणी पृ ११) बहूँ घटिकोण यह है बहूँ सारी कथा ही घबास्तव है प्रतीक मात्र है लगभग है। पाठक की भाव-संवेदना को भ्रमभोरना ही घहाँ लेखक का ध्येय है घेय तो घटिरिक्त उपकरण है। पर घोर बाहर, हिंसा घोर घहिंसा के घुपा को जैनस्य से विरोधी पात्रों में बाब देते हैं घोर उनकी चिया-प्रतिक्रिया बर्तुत्वमूलक न हाकर वैचारिक होती है। इसीलिए जैनस्य के पात्रों का भाव-वगल् घबूम रहता है। उनकी घक्ति उनके विचारों में है। बहूँ विचारों की रेखाएँ स्पष्ट नहूँ है या मुझमें बहूँ पात्री में ऐसा क्या है जो पाठक का घास्वाघन है सकेया। फलस्वरुप यह मूलक प्रतीकप्रयोजना घीग्यासिक कला पर घारी पकृती है घोर उठे निविधेय बना बेठी है। परन्तु बहूँ प्रतीक-पद्धति का कलात्मक उपयान हुआ है, बहूँ बाठ बोड़ घें कही की नई है घोर उधमें घुरानिष्ठ ध्यंजना है।

पात्र

जैनस्य के उपघ्यास-पात्र बहूम नहूँ है। बोड़े से चरित्रों को लेकर मे जैसे है। मुख्य चरित्र तीन चार से घाबिक है घेय पद-मूर्ति के लिए है (कल्याणक बहूँ प्रेमचन्द के उपन्यासों-जैसी बीड़ नहूँ है। पूरक चरित्रों का तो घूठ परिचय भी हमें नहूँ मिलवा। वे घाठे हैं घोर जैसे आते हैं। जैसे वे के बीठे कोई भी हो सफ़ठे में। वे पूरक चरित्र या तो किसी बल के सघस्य है, या प्रघान पात्रों के घाठा-पिता-सम्बन्धी है। नही-नही कुछ मांसघ रेखाधर्मों में उन्हें सजीव करने की भी बेघ्या है। कही-कही वे घों ही घा पये हैं। घ घाने होठ तो भी कोई बाठ नहूँ बी।

जैनस्य के ठाई पात्रों की बाठ बमाई गई है। विघाहिवा नापी प्रेमी घीग पति। बहूँ नवा है कि बति उघार है, उनमें पत्नी के प्रेमी के प्रति ईर्ष्या का काई बाब नहूँ है। बहूँ घान-उप के घरे ठठ्ठक घट्या मात्र होना ही उधकी घार्मकता है। बहूँ सघमुक

‘बेचार’ है। यह सब विवाहिता नारी और प्रेमी। उन्हें ही लेकर चारित्रिकता की सृष्टि हुई है परन्तु यह चारित्रिकता किस कोटि की है ?

यह कह देना कि “बाई पात्र है” इससे उपवासकार साहित्य नहीं हो जाता क्योंकि शारदा-इत सब उपन्यासों में (श्रीकान्त और पत्नी की छोड़ कर) पात्रों की कमी ही सामने आती है। उपन्यास-मात्र की त्रिकोणमूलकता प्रसिद्ध है। परन्तु ये बाई पात्र एक ही प्रकार की चारित्रिकता लेकर आये हैं और यह ठीक नहीं हुआ है ऐसा व्यंग्य है। यदि विचार यह है तो किसी सीमा तक उचित होने पर भी यह निश्चित नहीं है। कट्टो मुनीठा मृगाल कस्याणी मोहिनी और अनिता क्या एक हैं, समान हैं “जार्ज क्रायी” हैं। यह प्रबन्ध है कि वे लेखक के प्रयोग मात्र हैं उन्हें कहीं रूप-रूप में भी लिया गया है जैसे “मुनीठा” में परन्तु वे स्पष्ट ही भिन्न हैं। उनकी जीवनस्थितियाँ ही भिन्न नहीं हैं उनका मानसिक जीवन ही भिन्न है। विवाह और प्रेम की समस्या सब के सामने है परन्तु इस एक समस्या के प्रति उनकी प्रतिक्रियाएँ भिन्न भिन्न हैं। सबका मनस्त्व भी एक नहीं है। कट्टो बाग्यी है मुनीठा अन्तर्मुखी है, मुलका बहुमुखी मोहिनी अतिवाच्यवर्धी और व्यवहार-बहुर अनिता एकदम निद्रान्त घायु निजा जो देना ही नहीं चाहती पाना भी चाहती है। इस प्रकार जीनेन्द्र की प्रधान पात्रियाँ विद्वान्त्वप्राणा होने पर भी कलाकार के जाने-अनजाने कुछ हो गई हैं जो साहित्य के सर्व और विस्मय की वस्तु हैं।

इन प्रधान पात्रियों के प्रतिरक्षण और भी है जैसे परिना सत्या बुधिया मुनिना जन्मा मिमस कपिल भिसेम बपावर। बाल्य में पहुँची दो को छोड़कर शेष व्यतीत’ में ही जो छोटा होने पर भी दो दसकों की चित्रपट्टी सिमेट सेना है। इनमें से कुछ कम मानने आने पर भी हमारे मन को मेर जाती है जैसे जन्मी। जीनेन्द्र की कला की एक विशेषता यह है कि वह पात्रों को स्पष्ट रंग-रूप नहीं देती। वे उन्हें यों ही छोड़ देते हैं। फलतः उनका रंग-रूप आकार प्रकार अनिर्दिष्ट रहता है। वे बाई भी हो सकते हैं। उनकी मानसिकता ही हमारी पकड़ में आती है। उनके प्रभु-विश्रिष्ट मुग ही हमें सोचते हैं। परम्परागत ढंग की चरित्रात्मकता उनमें नहीं आती। वे न घण्टी हाने हैं न सुरे। पाप-मुष्य को बँबी-जबी रेखाओं में वे नहीं बँध पाते। अविश्वर के समाज की धारणा के विपरीत चलते हैं और समाज के ढँह को सह्य स्वीकार करते हैं। इन उपन्यासों में प्रेम कबाले अनिचार्य रूप में आई है। जहाँ प्रेम सामाजिक अतिक्र है जैसे “श्यामपत्र” में बहूँ भी व्यक्तिगत भूमि पर प्रेम का त्रिकोण है। यह प्रेम-त्रिकोण विवाहिता नारी को लेकर चलता है। केवल “परल” में विपदा बढ़ती है। एक धार पनि है भूमि धार प्रेमी। यह प्रेमी नारी के जीवन में विवाह से पहले भी आ सकता है जैसे “श्यामपत्र” “कस्याणी” “बिबल” और “भ्यनीन” में और दाम्पत्य जीवन के बीच में भी आ सकता है जैसे “मुनीठा” और “मुलका” में। परन्तु जब कहीं वह पनि धार पत्नी के बीच में आ

जाता है और कुछ से बसती हुई पृथ्वी को झकझोर देता है। इस प्रकार जैनेन्द्र के उपन्यास हार्मी के उपन्यासों की तरह वैवाहिक विघ्नकारणों हैं। समाज में प्रेम-कथाओं में विवाह या मरण परिणति है और प्रेम क्रिओर-क्रिओरी का ब्यस्तनिक प्रेम है। उसमें उद्गम वासना है। तीव्रता है। यहाँ पृथ्वी के बीच में (विवाहिया माटी पत्नीत्व और नारीत्व के सारे कर्तव्यों के बीच में निश्चित रहती है) प्रेम की पुकार आती है और वह धमलुनी नहीं की जा सकती। इस प्रकार "परजीया रति" इन उपन्यासों की विशेषता है। परंपुरण के प्रति प्रेम को समाज ने मर्हित माना है। उससे सती के घादों की धमलुनी आती है। परन्तु नये उपन्यासकार यह मान कर चलें हैं कि "परिपूर्ण मनुष्यत्व सतीत्व से नहीं बढ़ा है। (धरतू) और जैनेन्द्र के उपन्यासों की विवाहिया नारी को भी इस ही स्थिति के पार जाना होता है। परन्तु धरतू की नारी की तरह वह इस विषय स्थिति में संकावस्थ और मानवहित नहीं रहती। वह अपने को "पापिप्या" नहीं मानती। बुद्धि का सम्पूर्ण बेमब उसके पास है। वह विवाह को समाज-संस्था मान कर चलती है। विवाह पति को तन देने की व्यवस्था है, पृथ्वी बसाने के लिए और बच्चे लाने के लिए उसकी योजना है परन्तु इस कर्तव्य का पालन करती हुई भी नारी मन से स्वतन्त्र है। मन वह प्रेमी को देती। यद्यपि तन न दे सकने की पीड़ा भी उसे रहती। पति उदारतापूर्वक है महाराज है। वह स्वयं निष्कल प्रेमी के जीवन को सार्थक करना चाहता है और पत्नी को जरूर सहायता देता है कि वह अपने नारीत्व को सफल करे। धरतू के उपन्यासों में पति-प्रेमी के हृदय को लेकर माटी टूटी है। पति भी कबल "पति नहीं है जो नारी से पहिछी की कर्मव्यतिप्या पा कर ही घाल हो जाय। वह उसे सम्पूर्ण ही चाहता है। वह भी कम प्रेमी नहीं है। पल्लवक्य यहाँ त्रिकाल हृदयमय है और पत्नी या प्रेमी की मृत्यु से ही झूट की कल्पना की गई है। परती का या प्रेमी का यह बलिदान कथा को दुःखान्त बना देता है और बचे हुए को प्राणियों के प्रति हमारे भीतर सहायकृति के स्रोत करने मन्ते हैं। इस योजना में अन्तः स्रष्ट है और मनोवृत्तियों का स्वतन्त्र और अदक प्रवाह है। जैनेन्द्र के "पतिर्मा" की उदारतापूर्वकता ने हृदय को कृच्छित कर दिया है। नहीं तो स्वयं पति ही निरामय वाग्यत्व जीवन से उमरने के लिए अपने मित्र को साकर प्रेम की व्यवस्था करता है (जैसे 'सुनीता में) कहीं वह सत्य और सद्दिया से बँबा है (जैसे 'सूखरा' में) और उसके चरित्र में ही 'सन्तपन' है कहीं वह धनिजात्यपर्मा और संस्कारी व्यक्तित्व है जो पत्नी के प्रेम प्रसंग को लेकर हलचल नहीं मचाना चाहता। सभी स्थितियों में पति में किसी पहरी धात्मा को झकझोरने वाली पीड़ा का अनुभव हम नहीं करते। सभी कथाओं में प्रेमी पलापन कर जाता है। धरतू के उपन्यासों में जो अर्थकर बतवा बक उठते हैं वे नहीं उठते। एक प्रकार से विवाह-संस्था की अदिकता और पति की उदारता प्रेमी को निष्कल कर देती है और वह वह जानकर मान बड़ा होता है कि वह केवल माटी के धन का नहीं चाहता (क्योंकि वह तो सब उसे जरूर मिल रहा है)

बहु इसके तन को भी बाहता है। बहु दिव्य प्रेम की भूमि से व्युत् होकर अपने मन से नीचे गिर जाता है और इस धातुप्रबन्धना को समझकर पलायन करता है।

इन उपन्यासों में इन्द्र की सत्ता केवल मारी में ही रखी गई है। बहु प्रेमिका है (प्रेमी है) और पत्नी है। एक और मारीत्व की माँग है, दूसरी और पत्नीत्व और मातृत्व की। जीनेन्द्र मातृत्व की माँग को अधिक नहीं उभारते यद्यपि मुसबा कन्याणी और प्रमिता सन्तानवती हैं। वे मारीत्व और पत्नीत्व को ही लेकर बसते हैं। पत्नीत्व जब तक बचन भगता है तब तक मारी उसके प्रति विद्रोह करती है परन्तु पति की ओर से जब व्यापाठ नहीं पाया तो स्वयं अपने भीतर के इन्द्र से प्रसिद्ध हो जाती है। यह इन्द्र उसे तोड़ देता है। तन-मन को वो मान कर बहु कुछ दूर तक प्रेमी और पति में पट्टी बिखाना चाहती है। बहु कल्याण सेवा और अखिल ध्यानदान के बस पर प्रेमी को उबारना चाहती है परन्तु पीछे सीट कर बहु बेचती है कि घर दूट गया है और बहु निष्प्रियता रह गई है। सीटने के द्वार बन्द है। स्वयं उसके मन ने बीमार खड़ी कर दी है। कलत बहु दूट जाती है। जहाँ बहु पति की बाँहों में सीट नी चली है वैसे 'बिबत्ता' में वहाँ भी बहु मीठान से दूटी हुई कल्याण-मूर्ति मात्र है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीनेन्द्र के उपन्यास योजनारम्य हैं जीवन प्रयोग हैं। प्रयोग के पीछे सिद्धांत हैं और पात्रों को इधर-उधर रख कर चिपपटी बरस देने पर कबाएँ मिल बन गई हैं। परन्तु इस तरह पात्रों का स्वतन्त्र व्यक्तित्व समाप्त हो गया है। वे पूर्ण निरिच्छ, यांत्रिक और निष्फल हैं। उनमें मानसिकता ही अधिक है और कानू त्व-मज्जा कम है। वे उपन्यासभित्त हैं प्रसन्नचिन्ह हैं। हाँ पर मीठ सजाने से ही हाँक-माँस का समीप प्राणी मनुष्य नहीं बन पाता। यह सत्य यहाँ मलबता है।

अभिध्वञ्जना

जीनेन्द्र के उपन्यासों की अभिध्वञ्जना बड़ी सक्रियशाली है और यह उसका बहुत बड़ा आकर्षण है। इसका कारण यह है कि बहु कम रंग बिरल है। उसमें स्तुसता नहीं है सुलभता है और बहु केवल सत्य केवल सत्य केवल माव-मोव मात्र होती है। नीति कथाओं और धर्म-शास्त्रों में जिस प्रकार सत्य को रूप बना कर सीधी-साधी बिरल रेखाओं में उपस्थित किया गया है उसी प्रकार की अभिध्वञ्जना-सीसी जीनेन्द्र की है। 'कुनीठा' की भूमिका में और 'कन्याणी' में कई स्थानों पर उन्होंने अपनी अभिध्वञ्जना पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला है। कहानी मुनाता उनका उद्देश्य नहीं है। बहु कहानी नहीं लिखते बिरल के छोटे-से-छोटे सच को लेकर चित्र बनाते हैं जिससे सत्य के दर्शन पा सकें और दूसरों को (पाठकों को) सत्य के दर्शन करा सकें। यह सत्य क दर्शन कैसे हाने? 'सत्य' ही यथार्थ है परन्तु यथार्थ को जब हम समझने लगते हैं तो 'मग्य' नहीं रह जाना क्योंकि तब हम अपनी रुचि-मरुचि का उस पर आरोप कर देते हैं। इसलिए उपन्यासकार की अभिध्वञ्जना यथार्थ को लेकर बसे परन्तु धातुबना बिबेचना की

अप्यवता से बचे। उपन्यासकार घटना ही कहता चले क्योंकि घटना में स्वयं स्वयं की वाणी का प्रस्ताव है। प्रेमचन्द ने कहा था कि भविष्य में उपन्यास जीवन्परिच होना। जीनेत्र यह नहीं मानते क्योंकि जीवन्परिच कोई किसी का कंठे मिलना—घातमचरित चले ही मिले। कोई किसी को किठना जानता है? "जीवन्परिच" देने के लिए "व्यक्तिगत को चारों घोर से लेकर विपक्षेपय द्वारा उसका पुनर्निर्माण करना होता है, परन्तु जहाँ न जानना ही सार्वभूता है वहाँ परिच मिलने की ताक वहाँ से आनेपी? इसीलिए "कन्याधी" में बीच में सेकक ले (बकील बकता के माध्यम से) अपनी बात कहते हुए बेचन मान कहानी कहने का पापह उपस्थित किया है। परन्तु यह कहानी भी ऐसी जिसमें संवेदन हो और सहायुमृति जगा सके। चित्त को सू लेने घोर रस के झोठ झोठने के लिए ही उसे कुछ से रोना है। पात्र चाहिए, परन्तु सहायुमृति उभारने में ही उनकी सार्वभूता मानी गई है। परिचायन सफक का लक्ष्य नहीं है। इसीलिए जीनेत्र के उपन्यासों में कबल घटना देने का मायह है और झलत वह घटना भी मानसिक प्रक्रिया मात्र है या मन की प्रतिच्छाया। जीनेत्र भीतर-बाहर को नहीं मानते। भीतर मन में जो घातोद्गम-विमोहन होता है वही तो भीतर का बर्न है जिसे उपन्यासकार पाना चाहता है। बाहर को नटित होता है वह इस बर्न ही की तो अविभ्यक्ति है और भीतर को बाहर बन कर घाने में ही सार्वभूता है "सुजापन" है। इस प्रकार जीनेत्र के उपन्यास अन्त-अन्तनामूसक और मनोविश्लेषण-प्रधान बन जाते हैं। परन्तु धर्म उपन्यासकार जहाँ बीजिनता का पम्ना पकड़ते हैं वहाँ जीनेत्र मानना को सू सर लेना चाहते हैं। उनके उपन्यासों में जानना कम होता है हृदयबन करना ज्यादा होता है।

इस क्रमिका पर जब हम जीनेत्र की अभिव्यञ्जना को देखते हैं तो वह बड़ी कुट्ट मिलती है। उसमें बर्णन स्वल्प है क्योंकि स्वल्पता उपन्यासकार का प्र्येय नहीं है। प्रकृति परिस्थितियाँ प्राकार प्रकार, अस्पष्ट-समारोह, सेकक की घोर से मानव-स्वभाव का बर्णन—ये सब उसके उपकरण नहीं हैं। जीनेत्र पात्रों को उनके मन के भीतर से देखते हैं जैसे वह सृष्टा ही घोर अघनी मृष्टि के भीतर केन्द्र में बैठ कर उसके अन्त खोनों को देख रहे हो। इस तरह बर्णन में मूढपता धा जाती है। परन्तु जीनेत्र का यह शक्य नहीं है कि उपन्यासकार अपने पात्रों के मन की अस्पष्ट चिन्ता को पकड़ने में सफल है—कि वह उन्हें पुरा जानता है। अन्त-अन्तवचन बना रहता है और इसलिये कथा में बात प्रतिबात के निबन्धन में अलुप्तता भी मनी रहती है। बात के बीच में अज्ञान की भी व्यञ्जना के कारण कथा की शृ अनाय बीच-बीच में टोड़ की जाती है घोर कंठे से पकड़ा अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। यह अकहा माया-सौली की सुखम अक्षि से अत्रित है। इसे का देने में जीनेत्र बेबोड़ है।

जीनेत्र की अभिव्यञ्जना-शैली का प्रारम्भिक रूप हमें "अरस" में ही मिल जाता है, परन्तु "अरस" में जो अविगिहता है, स्वाभाविक सुहन है सहज प्रसन्नता है,

घरकी पुनर्बन्धित प्रतिक नहीं हुई है। 'सुनीता' में सूक्ष्मता अधिक है और बाह्य के विवरण अधिक पुष्ट है। घर का जैसा भीतर की रसनिष्ठ और सजीव चित्रण इन दो प्रारम्भिक रचनाओं में मिलता है, वंसा बाद में विरल है। बाद की रचनाओं में जैनेन्द्र ने दार्शनिकता का योगा पहलू मिला है और बड़ बड़ानी न कड़ कर चिन्तान्त पर रूपकों को बन्धित करने लगे हैं। इससे दर्शन का ताप कषा-रस को सोल लेता है। फिर भी मनो विश्लेषण की प्रक्रिया बराबर सूक्ष्म और ध्यंगमयी बमती गई है। सूक्ष्म रूपन को जैनेन्द्र ने बसा बना दिया है। इसका सब से पुष्ट रूप उनकी रचना 'अतीत' में मिलता है। इसमें केवल घटनाएँ ही चित्रित हैं। इन्धित प्रतिक है बन्धित कम है। परन्तु घटनाएँ बाह्य की बस्तु नहीं मन की प्रतिच्छाया बन गई हैं। इस प्रकार जैनेन्द्र में हमें कर्म की बाली नहीं मिलती (जो प्रेमचन्द की विशेषता है)। उनमें हमें कर्म की बाणी मिलती है। बाह्य के जीवन को अप्राप्त बना कर उन्होंने प्रकृत भीतों को पकड़ा है और कविता की रंजीनी को छोड़ कर दर्शन की बीछ ठड़ि-रेखाओं को उभाया है।

रूप-विधान

जैनेन्द्र के उपन्यास "सब उपन्यास" हैं। इन उपन्यासों का रूप-विधान धारणक है। परन्तु "सुनीता" "विचरत" और "अतीत" में लेखक कथा कहता है और सर्वदर्शी के दृष्टिकोण का निर्वाह करता है। ये कथाएँ जीवन-सङ्घ को लेकर बमती हैं। यह जीवन-सङ्घ कही प्रतिक विस्तार या मया है जैसे "सुनीता" में मोड़े से तिनो को ही विवरण देकर फुला दिया गया है वही (जैसे "अतीत" में) दो बर्मका के जीवन विस्तार को कुछ मोड़े से पुठों का संकोच दे दिया गया है। ये उपन्यास किसी निश्चित जीवन-पद्धति पर नहीं बमते क्योंकि जीवन (जैनेन्द्र के लिए) धबूम् है। पसत पात्रों को प्रारम्भ में सामने-सामने धरकर दिया जाता है और विषयण ढंग से उनके घात प्रतिघात बमते हैं। ये सब मनोवैज्ञानिक हूँ यह नहीं क्योंकि जैनेन्द्र के विचार में मनोवैज्ञानिकता ऊनरी तल है, भीतर जो प्रबन्धेन का विस्फोट है, वही बास्तव है। पलसबकम घटनाओं की करण-कारण शृंखला उनक उपन्यासों में स्यारित नहीं होती और चारि बिकता का कोई मुनिश्चित परम्परागत रूप सामने नहीं घाता। सब बहुरा है — घटनाएँ पात्र जीवन-स्यबहार। प्रकृत में जीवन प्रवाह ही पलस पड़ता है यह भी बहिर्बीचन नहीं प्रकृतबीचन जो मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण सास्त्र के नियमों से धारित नहीं स्वयं धपने में नियम है।

"त्यागपत्र" "कस्यापी" और "मुलदा" में रूपविधान के तीन प्रयोग हैं। "त्यागपत्र" में पत्रविधान पात्र के माध्यम से घटनाओं और चरित्रों को देला गया है। "कस्यापी" में तटस्थ पात्र है जो कथा में भाग नहीं लेता बबन दृष्टामात्र है। प्रथम पात्र घणके दृष्टिकोण को सबल बनाने या धसार्पक करने में ही नाम धाते है। "मुलदा" में

आत्मकता है। सब में सैकड़ प्रतिबिम्ब जीवन प्रवाह की ही लेकर चलता है। जान बूझ कर कथा की कड़ियाँ बह दौड़ देता है क्योंकि वह जीवन की प्रबुद्ध विजयानता चाहता है और मनोविज्ञान और मनोविरलेयन-शास्त्र को विफल बनाना ही उसका ध्येय है। तीनों उपन्यास नायिकाओं की मृत्यु या घातक मृत्यु पर समाप्त होते हैं जो बैनेन्द्र के नियतिवादी वर्णन का प्रतिबन्धन प्रकृत है।

“म्यनीत” में लटकने एक नये विधान का सहारा लिया है। इसमें जीवन यात्रा का रूपक है। अत्यन्त बढ़ता जाता है और उसके जीवन में अनिता बुनिया मुनिता और नन्दी के रूप में स्नेह-सुख इकट्ठे होते जाते हैं। भीतर भीतर वह बेबस अनिता से बँधा है इसीलिए वह सबके प्रति निष्कलम है और घण्ट में अनिता के सम्मान को विफल कर अपने स्नेह-सम्मान की पवित्रता को बना करता है परन्तु भीतर से दूट भी कम नहीं जाता। यही रूपविधान दरल्लभ्य के व्योमस्त में सूहीठ है। सब ता यह है कि बैनेन्द्र उपन्यास के समस्या और समाधान को चुन लेकर चलते हैं। समस्या सामाजिक या व्यक्तिगत है परन्तु समाधान आदर्शवादी और धर्म्यावहारिक है। वह सम्मान्य को दुष्टि में रखकर बढ़ा गया है। प्लाट बाँध कर चलने की धारक्यकता उन्हें नहीं बीजनी इसलिए कि वह मन की क्रिया प्रक्रिया को प्रभावता है। केवल कथ्य जीवन के बिना उन्होंने कहे किन्हीं हैं जो अधिष्ठत परिस्थितियों के र्थग पर धारारिठ हैं चारिबिधता पर कम और वह बरुड जीवन भी अत्यन्त नागरिक जीवन है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष में हम क्या बें ? क्या बैनेन्द्र की उपन्यास-कथा को बढ़ा बढ़ायें या छोड़ें ? क्या उसे निम्ननीय बतायें या प्रयत्नीय ? वास्तव में यह दुष्टिकोण ही चलता है। प्रत्येक उपन्यासकार का अपना दुष्टिकोण होता है जिसे अधिक उपयुक्त घण्ट में निम्नने के कारण हम “जीवन-वर्षन” कहते हैं। उसकी कथा इस जीवन-वर्षन का उद्घाटन करती है। इसी भूमि पर से चलनी सफ़सठा-मरुधलता निर्वीरित की जा सकती है। बैनेन्द्र को वह नहीं बहना जो प्रियकथ्य प्रसाद निरामा अनुरसेन बुन्दावननाम कर्ता बरुडत घर्ता यत्पान और इलाक्य बोधी नै कहा या कहते हैं। इसी से उन्होंने नई कारेखाए पड़ी। उसका धर्म्यजन निम्न है, संवेदना निम्न है दुष्टिकोण प्रथम है। वह एक ओर रबीन्द्र धरत् से अत्यन्त प्रभावित है। गारो-जीवन की समस्याएँ और उनके प्रति दुष्टिकोण उन्होंने वहाँ से लिया बिद्येपतय धरत् से उत्तर रबीन्द्र की बीजिकता और माया-धेनी की बलामयता उन्होंने ग्रहण की। “बोखेर वाली” “धरे-बाहरे” और “अनुरंग” की पुनर्गति उनके उपन्यासों में हुई है और उनकी विराम धेनी पर रबीन्द्र की छाप है। परन्तु धरत् की धारक्यता और पीड़ा के प्रति धारर्षण भी उनमें है। परिषम के लेखकों से उन्होंने “टेकनीक” बिद्या बिरीपधर कॅब कमाकागे से। उनकी सोब व्यक्तिगत है। घण्ट वह धरती रचनाओं को धार्यो-

समय बना कर नहीं बने। वेबल हिवात्मक भाँति की चौड़ी झलक उनमें घाई है। स्वयं बेनेन्द्र ने पाँचीकाद का गहरा अध्ययन किया है और हिमा-साहिबा का प्रत्येक पहलू से उनके सामने रखा है। राष्ट्रीय धारणाओं में भी उन्होंने सक्रिय भाग लिया है परन्तु यह उनका कर्तव्य-व्यवस्था है भाव-व्यवस्था नहीं। उनकी भावना व्यक्तिगत है एकात्मिक है समूह को लेकर नहीं बसती। वह व्यक्तिवादी है। इसी से 'व्यक्ति' ही उनके उपन्यासों के केन्द्र में है समाज या राष्ट्र नहीं। हम दृष्टि में हम उनके उपन्यासों की धारणा की रचनाओं के समस्त रस सकते हैं।

परन्तु विभिन्न स्तरों से बहुत कुछ लेकर भी बेनेन्द्र का साहित्यिक व्यक्तित्व निराल रस गया है। वह रवीन्द्र चन्द्र और प्रेमचन्द तीनों से मिल है। पश्चिम के लेखकों से भी मिल है। उनका जीवन-व्यवस्था अपना है सीमा निरी है कुछ छोटे से पात्र उन्होंने ऐसे खड्ड बिचे हैं जो बड़ी दूर तक प्रबुद्ध और विचारमय होकर भी बिघिष्ट हैं। इसी के बल पर उनका अपना साहित्य है। यह साहित्य हमें भरपूर ऐतिहासिक रस नहीं दे (क्योंकि हममें साधनिकता और सिद्धान्तवादिता का गहरा आरोप है और परम्परागत धारणाएँ रस आतिशक्तिता एक रागमयता के प्रति सेरक का घापह नहीं है) परन्तु उसमें ऊँचमोर्गे की शक्ति है। वह हमें अपनी घोर लीच लेता है और अपने में डुबा जाता है। यही तो उपन्यासकला की सफलता बड़ी जायगी। उपन्यास क्या है उपन्यास क्या नहीं है? ग्रेडिन्सिस स लेकर ऐन्द्र जीव तक की रचनाएँ यदि उपन्यास कहना सकती हैं तो बेनेन्द्र की रचनाएँ भी उपन्यास ही कहनासंभी क्योंकि उपन्यास की सीमाएँ नहीं बँपी हैं और वे बराबर फैल रही हैं। हमें सन्देह नहीं कि बेनेन्द्र ने हमें प्रेमचन्द-मुग स विभिन्न कई उपन्यास-कला की है या उपन्यास क कान में गई सम्भावनाएँ साई है।

जैनेन्द्र का जीवन-दर्शन

जैनेन्द्र के जीवन-दर्शन का सबसे प्रसस्त धीपन्थासिक विवरण हमें "रत्नापत्र" और "कस्पाणी" में मिलता है। यद्यपि ग्रन्थ रचनाओं में भी स्वाम-स्वान पर उन्होंने जीवन-सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण का प्रकाशन किया है और उसके प्रथम गांधीय में उतरने की चेष्टा की है। जैनेन्द्र की अन्य रचनाओं से विशेषतः निबन्धी और वाच्यो से उनके दृष्टिकोण की पुष्टि होती है। स्वयं जैनेन्द्र का कहना है कि एक ही तरह को उन्होंने निबन्ध में किया किसी माध्यम के बोजा कहा है और उपवास-कथा की में कला के बीच में रसकर और रसायन बना कर। प्रेषणक हमें जीवन देते हैं। उसके ऊपर से बर्षन बना सो परन्तु जीवन से प्रथम किसी छोटे-बड़े दर्शन को और वह उन्मुख नहीं हुए। वह जीवनदृष्टा से जीवन-विमूक नहीं। कवि से समीक्षक नहीं। जैनेन्द्र का समीक्षक और विमूक सर्वत्र समान है। इसी से उनमें जीवन-दर्शन पहले और जीवन-विमूक बाद में आता है। एक तरह से स्वतन्त्र रूप से व्यक्त कथा और पार्श्व को छोड़ कर या उनके प्रथम रसकर में उसके विवेचना हो सकती है।

को सबसे पहली बीज जैनेन्द्र की विचारधारा में सामने आती है वह उनका साहित्यकार है। वह ईश्वर को मानते हैं। साधारण मानना ही बस नहीं है। वह उठे ही मूल में रखते हैं। यह मानना प्रतर्प्य है। सब तर्क ईश्वर पर आकर समाप्त हो जाते हैं। यहाँ तक कि सामाजिक विषयता भी ईश्वर पर आकर समाप्त हो जाती है। इस प्रकार जैनेन्द्र का ईश्वर सामाजिक भाष्योय को भी अपने ऊपर आद सेता है। वह पाठक की समाधान बुद्धि को बराबर बृष्ण करता रहता है।

'परल' में एक स्वान पर जैनेन्द्र ने काल-प्रवाह की रहस्यमयता और वस्तुओं की मूलमूल नश्वरता की विवेचना करते हुए अनुप्य की उत्तमम्बन्धी लोच को ईश्वर पर इन प्रकार समाप्त किया है। वह कहते हैं 'भक्तिन दिन एक-से नहीं रहने। काल बना जाता है और बीजो को नई-पुतानी कर जाता है। नई वा काम है पुगनी हा बाब पुतानी का काम है मर बाब। यह मदी दिन सावर किसी विशेष पद्धति से नई हो जाती है। यह विशेष विधि क्या है सो हम क्या जानें ? जिन विज्ञानों ने जोजा कर पये पर नहीं पा

मरू खोज रहे हैं मर रहे हैं पर नहीं ग रहे हैं उसी का हम क्या जानें ? हममें बहुत ज्यादा येहनग नहीं होती इस खोजने-खोजने में ही पाने का मासक में खाने-पाने में हो हममें शिष्टगी नहीं बितायी जायगी । हमने तो एक घण्ट में कह दिया: "परमात्मा" और मानने पा लिया हमारी छोटी-सी पर्व तो पूरी हो गई । पर लोग हैं खोजने से पकना ही नहीं चाहते । कहते हैं हम पा कर ही छोड़ेंगे । हम उनको पन्थबाद दते हैं हाथ जोड़ते हैं बड़ी सजा से "नास्टिक" कहते हैं पर कहते हैं "नाई, खूब खोजो जितना बने उतना ।"

"रामायण" में हम प्रथम ईश्वरवाद या धार्मिकवाद के पीछे धर्मिण्यवाद (इन्डिटरमिनिज्म) और नियतिवाद (फैलिज्म) की धारा को मिलनी है । सेसक कई प्रश्न उठाता है और स्वयं ही उत्तर देता है "बहुत-बहुत जो इस दुनिया में हो रहा है वह वैसा ही क्यों होगा ? प्रत्यया क्यों नहीं होता—इसका क्या उत्तर है ? उत्तर ही प्रथमा म हो पर आज पड़ता है भविष्य ही होगा है । नियत का सब बंधा है । एक ही प्रश्न उठता यहाँ य वहाँ म हो सकेया । वह बदसता नहीं बदलेया नहीं पर बिबि का वह प्रथम सेस किम बिधाया ने बनाया है उसका उममें क्या प्रयोजन है यह भी कभी पूछकर जानने की इच्छा की जा सकती है या नहीं ? "शाय" नहीं । जानी उन कह मने है कि परम कस्याणुमय ही इस सृष्टि में धरनी परमा सीमा का बिस्तार कर रहा है । ये मान लेता हूँ कि ऐसा ही है । न मानूँ तो जिडें कैसे ? पर रहे रहकर जी होगा है कि पुकार कर कहूँ कि हे परम कस्याणुमय तेरी कस्याणीय सीमा को मैं नहीं जानता हूँ । फिर भी रोने-बिसबने की आवाज तो बारी और से मेरे जानी में धा रही है (यह क्या है) जो अपभ्रिडा तेरी सीमा के नीचे यह सब धातनाह क्या है ? सीमा तेरी है पीत-भरत हम है । क्यों बीते है क्यों मरते है ? हमारी बेला हमारे प्रथम क्या है ? क्यों है ?—पूछे जाओ उत्तर कोई नहीं मिसता । फिर भी उत्तर भीरव भापा में सदा मुखरित है । भीतर उत्तर है ताहर भी सब कहीं नहीं लिपा है जो जानता है पड़े । जो बेला जानता है बसा ही पड़े । वह उत्तर कभी नहीं चुकता है । प्रथम सृष्टि स्वयं में उत्तर ही तो है । धरने प्रश्न का वह धान ही उत्तर है ।" (पृ० १६) इस प्रथमरण में सेसक बिबि के बिधान को सर्वोर्णर रकता है परन्तु कौन है वह बिधाया और क्यों उनके बिधान में दुःख का यह ताडक है इन पर कह बिचार करना नहीं चाहता । इन प्रश्नों को वह धर्मि प्रश्न मानता है । सृष्टि यवि किमी कस्याणुमय की परम सीमा है तो यह धातनाह क्यों है ? प्रेममय ईश्वर के साथ कर्मकन की बाण स्वयं सेसर को ममम् में नहीं धाती । इस कर्मकन और ईश्वर के प्रश्न को सेसर उनके मन में कभी बडा बंधार उठा या और स्वयं गांवा जी से इस बिषय में उनका पब-ध्यबहार हुआ या । यह "यांभी जी" शीर्वक शैनेन्द्र के एक दिबन्ध से हमें मिसता है । समाधान यों मिसत है

कि ईश्वर है ।

कि वही मान है।

कि यह सृष्टि उस परम ब्रह्मात्ममय की लीला का विस्तार है।

कि इसमें कुछ और धार्यता है, जन्म-मरण है परन्तु यह सब क्यों है यह अब नहीं कहा जा सकता।

कि नियति का भेद बंधा है और भविष्य ही होता है।

कि क्रमक्रम के सिद्धांत से जिज्ञासा की सृष्टि नहीं होती।

इस समाधान-सूत्रों को लेकर भी मूल प्रश्न बना ही रहता है कि इस मानव जीवन की बान्धविकता क्या है और क्यों मनुष्य जिये ? सब तो यह है कि अन्य बातें उसी हैं भीतरी बात यह है क्योंकि मनुष्य का अस्तित्व-बोध ही उसके लिए सबसे महत्वपूर्ण बात है। जीनेत्र के अन्धा में 'पुष्टता है मानव के जीवन की गति क्या है ? भंगी है। यह अप्रतिरोध है पर मन्त्री है यह तो मैं नहीं चामूंगा। मानव जलता जलता जाता है और बूढ़-बूढ़ बर्ष इष्टता होकर उसके भीतर भरता जाता है। वही तार है। वही जमा हुआ बर्ष मानव की मानस-सिद्धि है। उसके प्रकाश में मानव का अस्तित्व जगज्जल होमा। नहीं तो चारों ओर गहन बल है किसी ओर मार्ग चुनता नहीं है और मानव अपनी खुबा-तुया राग-ह म मान-मोह में घटकटा किगता है। यही जाता है वही जाता है पर समझ म वह कहीं भी नहीं जाता एक ही जयह, अपने ही रूप में बंधा हुआ कोसह के बीस की तरह बचकर मापता रहता है।" (बही पु० ३८) अन्त में समाधान का रूप यह है कि "भीतर का बर्ष ही मेरा इष्ट हो। मन न चाहूँ मन चाहूँ। मन रीत है, मन का बर्ष भीम्य है। राग का निबाध और कहीं नहीं है। उस बर्ष की सामार स्वीकृति में से ज्ञान की ओर सत्य की व्योति प्रकट होती। अन्धका सब ज्ञान इकोसला है और सब सब की पुकार यहूकार है। इस प्रकार पीड़ा के एक स्थान का निर्माण लेखक करता है। अन्धक नकला अपरिशील सहायसृष्टि और मानव के प्रति अपरिबन्ध धास्या को लेकर लेखक जलना चाहता है यह स्पष्ट है परन्तु इस भीतर के बर्ष की पूरी-पूरी व्याख्या लेखक ने नहीं की है। उसकी रचनाओं से भी स्पष्ट नहीं होता कि यह बर्ष अस्तित्व है या सामाजिक।

जीनेत्र जीवन को यथुक्त मानते हैं। जीवन की अतद्विष्ट गति को उन्होंने समुद्र यात्रा के रूप में बोधा है और किनारे पर रहने में ही सुरक्षा समझी है। मनुष्य को चाहिए कि समुद्र के अन्धक पीलाव की ओर भी कभी-कभी देख लिया करे और बिराद की भी अंधी से परन्तु किनारे पर ही चलने में कुसम समझे। यह कर्मव्यथा और बुनीटी का मार्ग नहीं है ध्यामकेगीमता और पलायन का मार्ग है। इस पलायनवाद को जीनेत्र ने काव्य का मुनबुर रूप दे दिया है परन्तु मानव-जीवन की साक्षाती का जो तादा उन्होंने उपस्थित किया है वह न तो अतिरिक्त कहा जा सकता है, न उपमास के पात्रों के जीवन के भीतर से ही इस बर्ष का निर्माण होता है। वास्तव में इस अकर्मव्यथावारी

या क्रिकर्तृत्ववादी दर्शन को जान-बूझ कर उपमल्ल पार्श्वों में उभारा गया है और उसके पीछे स्वयं पार्श्वों के जीवनमय अनुभव नहीं धाते या उन अनुभवों के पीछे विचार-बीजस्य रहता है। उसकी स्थिति पार्श्वों और घटनाओं से बहुत कुछ स्वतंत्र स्वयं सेलरु के व्यक्तित्व में है। जीनेन्द्र के सम्बन्धों में मानव-जीवन की महत्त्वपूर्णता इस प्रकार, है - जो उभर हम न बढ़ें। पाह नहीं है। जल प्रगम है। सुनने-बोझने को बड़ी कीन है? जो है अपने पराये सब घास-पास तक है। बहो तो सन्नाटा ही सनसगाठा है। ना उभर न बढ़ेंगे।

किनारे पर ही रहें जहाँ पेर भरती से छु जाते हैं। बही तक रह बहो हमारा सगर धरती को पकड़ न और हम उह्र सकें। बस बस। उसके धावे जब तक समन्दर क प्रयाग फौलाह की घोर हम देख जिया करें यही क्या कम है? इतना भी बहुत है बहुत है। इससे भी भीतर कंप पर घाता है। जिल सहम जाता है। सिर भरता जाता है। मसा नहीं जाता। बिडनी फौल सके उठनी ही उस विराट की म्नीकी से से घोर फिर घपनी भरती के घासपास किनारे-किनारे सबसे उलझते-सुलझते जिये कम। बही उपाम है। यही मानव-जीवन है।

बहो पर मनुष्य के स्वतंत्र कर्तृत्व की बात उठती है। जीनेन्द्र नियति और मानवी कर्तृत्व को विरोधी न देखकर मनुष्य के कर्तृत्व में ही मवित्तव्य को देखते हैं जैसा सार्थ का विचार है। यह कहते हैं - पर मनुष्य जोषता है और होनहार होता रहता है। यह उही कि होनहार में मनुष्य के शोच विचार की गिनती नहीं। सब यह है कि जो होता है हमारे द्वारा ही होता है। फिर भी बुधा विचार कष्ट ही उठजाता है। इससे भावश्यक है कि विचार हो तो व्यर्थ हो। मवित्तव्य के साथ जो मतन्व्य एक रस है यह ही है श्रेय करनेवा है (कस्याणी पृ० ७) परन्तु जहाँ सार्थ में मनुष्य का कर्तृत्व उभर है बहो जीनेन्द्र के समीकरण में मवित्तव्य ही प्रधान है और मनुष्य को अपने को उसके अनुकूल बनाना है। सार्थ इसलिए मनुष्य को दुर्बल और असहाय समझता है कि मवित्तव्य के निर्माण की सारी जिम्मेदारी मनुष्य पर सा जाती है क्योंकि मनुष्य अपने कर्तृत्व से समस्त मनुष्यों को बांध देता है परन्तु जीनेन्द्र मनुष्य को बड़प्पन नहीं देते। यह उस वैचारिक समझते हैं। यह मवित्तव्य से बँधा होने के कारण बीन ही है और घपनी बीनता को मुला न सकने के कारण जीवन की मूलभूत रहस्य-अवस्था से ही सहारा लेने लगता है। अन्त में यह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि 'घटना होती है होकर जमी जाती है। हम पीते हैं और पीते-पीते एक रोख मर जाते हैं। जीना किस हीमम से धारम्भ करते हैं? पर उस जीवन के हम किनारे धाते-धाते कौमी ऊब उठनाहट जी में भर जाती है? मैं हम सोना पर इस प्रहेलिका पर सोचता रह जाता हूँ। कुछ पार नहीं मिलता कुछ मेद नहीं पाता। (स्वागत पृ० ७२)

मवित्तव्य (नियति प्रकथा जीनेन्द्र के प्रास्तिक स्वर में ईश्वर) की स्वीकृति में मनुष्य के ज्ञान की गणिमाप्ति है यह भी उहीने माना है। यह इसलिए कि मनुष्य के

लिए स्वीकार का मार्ग ध्येनाकृत सरल है और प्रस्वीकार मुश्किल होते-होते धर्म में स्वीकार पर ही समाप्त होता है। जैनेन्द्र के दृष्टी में "प्रस्वीकार काय इमं क्या पायेंगे ? वह बुद्धि वाले ज्ञान की पद्धति है। इस्कार करो और मिटाते बसो—न इति न इति। यही है प्रोचैत प्राक एलीमिणेचन"। निस्सन्देह परम तत्त्व के लिए 'मैति' से सही परिभाषा दूसरी नहीं है पर "मैति" में तत्त्व स्वयं कुछ नहीं है। उसमें धर्म है तो यह धर्म है कि मानव माया अपूर्ण है और जो ज्ञान है ज्ञातव्य सदा उससे धार्य है। इसने निस्सन्देह इकार प्रति में ता काम प्राता है पर मज्जि में काम नहीं प्राता। जो है वह न-कार नहीं है। परमात्मा इस्कार तनिक भी नहीं है। वह अविष्य की स्वीकृति है।" (अस्वाभी पृ ७७) ज्ञान का धर्म है बुद्धि की पाम्यता। जैनेन्द्र बुद्धि की द्वार मानते हैं। इसी से एक के द्वारा तत्त्व की उपसम्पि नहीं हो सकती। एक संक को पा सकता है विस्तृति उससे सही नहीं जा सकती। विराट् में उसकी सुरक्षा नहीं है। इसी से हमने मवाँवाए बाँध ली है और सीमाएँ स्वीकार कर ली हैं। इसी से जैनेन्द्र मनुष्य की आरक्षाओं को बंध कठरियाँ कहते हैं और ज्ञान को बंधन मानते हैं। ज्ञान शब्दों से बंधा है। परन्तु सत्य निःशब्द है। वह सोमता है धर्म मूर्धते है। मनुष्य अपनी चेतना को व्यापक नहीं बना सकता। कलत भरते बना कर पीता है। (एक सभाई को लपेट नहीं पाता। अपनी मायताओं को बंध और संकरी बनाता है। वही पृ ७७-८)

जब सत्य प्रकल्प है और बुद्धि हारी है तब अपने ही और मोचे रह जाते हैं ता प्राक्षिरे सच क्या है ? जैनेन्द्र सच को बाहर न डूँड कर धरर डूँडते हैं। वह कहते हैं— 'सच यह है कि धारमी के भीतर की व्यथा ही सच है। उसे संबोधते रहना चाहिए। वह व्यथा ही सक्ति है। उसमें किसी का साध्य नहीं। उसका बाध बलत है, संभव ही उसका इच्छ है। उच्छ्रवाम में भी उसे व्यय करना भूल है। जितना सच उसका धारण बन जाये उसी में से धर्म कर सकते हो। बाकी को तो धार के रूप में भीतर रखे रहना ही श्रेयस्कर है। भीतर बुलन मिरल्लर चाहिए बाहर भुसस ठीक नहीं। फना नहीं इस भीतर की धार की उपबोधिता क्या है यदि उसे बाहर नहीं पाना है और उसे जाति का धरन नहीं बनाता है। पीड़ा की मनुभूति उसी समय सार्थक है जब वह पीड़ा-निवृत्त-पण के धर्म हो। नहीं तो पीड़ा व्यसन बन जायेगी। पीड़ा में डूबे रहना ही जीवन की सार्थकता नहीं हो सकती। परन्तु मुधान और कस्याली अपने बुद्ध को लेकर ही जीती है। पी । के प्रति उसकी धनुभूति विद्वत ज्ञान पड़ती है। वह ज्ञान-बुद्ध कर अपनी जीवन को व्यन्निपत या सपात्रगठ धनाधार की बेसी पर हीम पैती है जिससे बाध हो और प्राय बडे परन्तु उनके स्वर में भुवनमोगी का प्राचोष नहीं पशारीत की धना निरुध और कस्या है। इसीलिए ये प्राशियाँ हमें धुम्ब ही करती हैं और ह्वारी अनिदिष्ट बन्धा हमें ही पाना है भीतर भीतर बुलत बनाती है।

वह नियतिवारी धर्मन जो पीड़ा या भीतर के धर्म में ही मनुष्य की सार्थकता

देखा है व्यक्तिवादी नहीं है, यद्यपि जैनेन्द्र को भ्रम से व्यक्तिवादी माना गया है क्योंकि साध की तरह जैनेन्द्र भी प्रत्येक प्राणी के कर्म को धन्य प्राणियों के कर्म से सम्बन्धित कर देते हैं और धरती सत्ता में ही धन्य सभी की सत्ता मानते हैं। उनकी पारणा इस प्रकार है "न कोई अपने को एकांत बना सकता है न कमी बना सकेगा। अपने को विघट कर अपने को बना सकते हो मृत्यु। संकलन मृत्यु की भी सत्ता है। सत्ता का मतलब कि उसका भी धर्म से नाता है। इसी कारण धन्य में भी धर्मजित सम्भावनाएँ हैं।" (कल्याणी पृ. ८१)

मरणांत जीवन और पुनरजन्म की बात भी कल्याणी ने उठवाई है। वह तार्किक और वैज्ञानिक प्रश्न की भाँति नहीं उठी है। निजी और तात्कालिक बात की भाँति भाई है क्योंकि कल्याणी के मन में मृत्यु के प्रति विनूषणा है। मर कर धारमी की क्या मति होगी है? मर कर धारमी का प्रत क्या यही मटकता रहता है? धारमा दूसरा जन्म लती है यह स्यास के दिल की प्रतीक्षा में मरने के बाद मानवार्त्ता सोई रहनी है। पर यह क्या है? और पार क्या है? ये कल्याणी ने भीतर की जिज्ञासाएँ हैं। धर्म यबाह और मायावाद के धर्म में इस प्रकार की जिज्ञासाएँ अनिवायत धानी है। 'यदि यहाँ तक माया ही है और धर्म य विवात ही सत्य है तो एक-एक दिन होकर कटने वाला जीवन किस सहारे बटे? धार्ये दिन मन में उठने वाले ऐहिक संकल्प-विकल्प लेकर हम भी लिमा करते हैं। उन्हें ही यदि भ्रम कह कर हम से छीन सिमा जाय तो पास फिर क्या रह जायगा? तब जीवन कैसे होया?' इन प्रश्नों का कोई उत्तर जैनेन्द्र नहीं देते परन्तु प्रश्न उठा कर जीवन में अज्ञा प्रेम की आवश्यकता की ओर यह इ गित करते हैं। भीतर को रिक्तता से भर कर जीना असम्भव है। इसीलिए बाहर की परासता को केमने के भीतर अज्ञा प्रेम या रई धारमक हो जाना है।

भीतर और बाहर, व्यक्ति और परिस्थिति के प्रश्न को भी जैनेन्द्र ने उठाया है और जगत् की इन्कारत्मकता की धारने रंय पर विवचना की है। वह कहते हैं— 'भीतर बाहर ये दो धार्य हैं पर ये दो नहीं हैं। प्रकृत में एक ही है। वो होकर भी एक-जैमे और और और। और जहाँ ऐसा नहीं है जहाँ जगमे सकमुच विरोध हो पड़ा है वही कसेय है। इन तरह कल्प मानवीय सृष्टि है। वस्तुतः यह नहीं है? तभी ता जगत् नाम इन्द्र का है। इन्द्र के माने हैं वा क भीष का प्रतिबाह। यह दो के धरबा धनेक क भीष एकता का धभाव ही हमारी समस्या है। धर्यात् सत्य में इन जगत् का कोई कुछ परम्पर लबबा असम्भव नहीं है। जो धरकाम भीष में रिक्तता है वह रिक्त नकार नहीं है। याग विधोग के लख-नरह के धरसह्य लखु उमये मने हैं। 'परिणामतः व्यक्ति और परिस्थिति ये दो भिन्न मत्ताएँ नहीं हैं। एष को इमरे की परिमाया में समझ जा सजता है। व्यक्ति परिस्थिति का धस है और परिस्थितियों का निर्माण भी व्यक्ति ही करता है। भीतर का बाहर के माध नाता अनिवाय है। जन्म य ही कोई कुछ नहीं

जन्म में बहुत भी मरे हैं। लेकिन हमारी यह सब उधम-धुम जोड़-झूठ का की है। तार पीछे कहीं किसी घोर के हाथ में है। हम सामने बर होने के यह उमर दीवानी जीवन-दर्शन मनुष्य के संकल्प-विकल्प को प्रसारक बना है। इसमें धैर्य ही नहीं कि टूटे हुए व्यक्तित्व को इस दर्शन से सञ्चार मिलता है परन्तु टूटे हुए व्यक्तित्वा को ही उपन्यास क्यों प्रभावता दे ? जीवन की सारी सम्पदा नदारतों को वह क्यों नहीं उतारे ? किसी घट्टम मूकधार के हाथ की कठपुतली बनने में काम्यमवता पाहे ही साधनिक प्रसाहाय्य भी साधक हो पर यह जीवन हमारी जिम्बिबीपा को कठिण करती है और जब उपन्यासकार सायद इस साध्यताओं वर्णन को उपस्थित कर रहा है तो वह बहुत कुछ अभिव्यक्तनीय हो जाता है।

'मुक्ता' के प्रारम्भ में ही हमें जैनेन्द्र की यह सार्थकिक युवा मिल जाती है जो उन्हें अपने पात्रों के जीवन से खेत करने की प्रेरणा बली है। यह युवा अपरिचित नहीं है। कभी किसी कबीर या किसी लूटन या किसी संत काउस की प्रतिष्ठा ही हमें उसे साफ मिल जाती है और फिर परिचित भूमि पर पहुँच कर हम प्राम्बस्त ही होते हैं परन्तु सखटा धीन्यासिक ब्यापार हमें बमलूटा नहीं करता ज्ञानि से ही मरता है। जिस सार्थकीयिक विषयनी से अभिरम्य और परिर्वचनीय के दर्शन से मुक्तदा प्रपमे स्वर्ण और 'अतीत' जीवन की बाया उपस्थित करती है वह इन शब्दों में प्रगट किया गया है। मुक्ता की अन्तरवेदन के प्रवाह के रूप में वह लिपिबद्ध है "जीवन की बाया जिस साक्षि-स्रोत से बनी है उसको तो किसी भी भाँति पकड़ा नहीं जा सकता। मेरे जीवन की साक्षि मेरे अपने ही जीवन से है यह भी नहीं कहा जा सकता। इतिहास के प्रवाह में बग के विस्तार में व्यक्ति क्या एक धक ही नहीं है। इसी से मेरे मन में प्रसन्न उठा कि इस जीवन के घामे को कहाँ से पकड़ूँ ? यह धाना किस प्रकार दिन देवों की मूष कर बना है और कहाँ कौन बैठा हुआ उस अनन्त धूम को इस विरल चक्र पर घुँट कर काटता बना जा रहा है। सच तो यह है कि इस जीवन के सम्बन्ध में हमारा समस्त मन्तव्य समुह के ठट पर कौड़ियों से खेतने वाले बालका के निर्णय की भाँति होगा। फिर भी हम बालकों को मस्तक मिल गया और हृदय भी मिल गया। वे दोनों निरिच्छ होकर तो रहते नहीं। इसी से जो जानने के लिए नहीं है उसे जानने की चेष्टा नहीं है।" यहाँ मुक्ता प्रपमा बाया क्यूँ लव हार जाती है वहाँ से कहानी प्रारम्भ होती है और मुक्ता की तच्छ ही उपन्यासकार का जीवन-दर्शन भी उपस्थित हो जाता है। उसमें जीवन की घट्टकन नहीं विरचित विवृष्टा ही अधिक प्रतिबलित है।

"विरल" में केवल घण्ट में लसक ने अपने साहित्यकार को दुहटा कर पाव के व्यक्तित्व पर प्रसन्न उठाये हैं "यद् ही है प्रसद् नहीं हो सकता। साध्य कर तो प्रसद् हो नहीं सकता। उपकी हस्ती ही नहीं। बा नहीं है, वह नहीं है। कितना भी कर लो नहीं कभी हो नहीं बावना फिर जो घसद् होता है क्यों होता है ? मिथ्या नहीं हो

जाता है ? कुरा क्यों हो जाता है ? ईश्वर के सर्वशक्तिमान सर्वव्यापी रहते घैतान क्यों हो जाता है ? कहां से हो जाता है ? यही सवाल है। सवाल यही है माहिनी नहीं है कही क्यों होता है ?" (पृ० २२८) मनुष्य के स्वतन्त्र बर्तुत्व की बात यही भी सलाई गई है। जितन कहना है 'हम समझते हैं मह बुनिया है और हम धाबाद हैं पर मह समझना खुद सबास है हल यह है कि मह जेज है और हम ईदी हैं। जल भगवान की है ईदी हम भगवान् के हैं। एक यही हल है मोहिनी नहीं तो धरनी नहीं से हम ही को सबा मोचते हैं और ही हमसे कभी लुम न जाय।" (वही पृ० २२८-९) इस प्रकार मानव-जीवन की धममर्बता में ही धस्तित्त्व का समाधान कर लिया गया है।

"स्वर्गीय" में जीवन धर्म भर बन गया है क्योंकि उसे बेकर लोया नहीं गया। बचा कर रखा गया। 'ईश्वर यही भी टेक के रूप में प्राया है क्योंकि टूटा हुआ जमल कहता है 'सब कही सोमता हूँ और टटोलता हूँ जानता हूँ मेघ प्रभु सब नहीं है पर नहीं एक भी जगह जो मैं उसे पा-जाऊ तो मैं रहूँ। परन्तु 'ईश्वर' क्या हाइ मीग के प्राणिया के निबा धन्य नहीं है। नियतार ईश्वर को मनुष्यप्रेम और दर् के पीठर ही तो पा सकता है। धम्य दूसरे धम के धस्तित्त्व और उमी की धाम पर समाप्त होता है परन्तु मह धास्था स्वस्व मनुष्य की धास्था नहीं टूटे धस्तित्त्व की सात्त्वता है। इस धमी तक प्रकाशित धन्तिम रचना में कुराचित् लेखक ने ईश्वर और मानव के बर्तुत्व का समाधान पा लिया है। वह कहता है 'पर भगवान् सब करता है। धारसो में भगवान् ही तो है जो करता है। वह भगवान् विचार धादमी की मुट्ठी में होकर बाहे तो घैतान बनने को तैयार होना है। धारमी मुट्ठी धाक व तो मामूम हो कुछ उसे धब करने को नहीं रह गया है। सीधी राह मामले हो धारि है।" (स्वर्गीय पृ० ८१) समाधान यह है कि भगवान् को मुट्ठी में बाँध लेने पर वह घैतान बन जाता है मुट्ठी खुसी रहते पर भगवान् भगवान् है। कर्ता में यदि उधाधामयता है प्रेम है दर् है तो उनके कर्म भगवान् के कर्म हैं। तब जो वह करता है वेता है वह भगवान् करता है वेता है। धकत्त्व और धरातत्त्व घैतान की सीखें हैं। मनुष्य वा मनुष्य के प्रति संतोष ही धकर्तुत्व है। धात्मदान पीतरी बोध से धाना है धत वह भगवान् भगवान् की धोर से धाया हुआ धाना वा सकता है। इसी सन्धर्म में भगवान् कर्ता है मनुष्य धकर्ता है, नहीं तो मनुष्य के कर्म भगवान् कर्म बन जात है।

सधप में बैनेन्द्र की धार्मिक स्थिति ऐसी है। उनके माहित्य में रम बोध उतना नहीं है जितना विज्ञान वा धावर्तन-विधत्तर्न। धयन के बाटिय पर ही उनके साहित्य सरलता बिलेर मजा है। बैनेन्द्रोप धर्शन की मुद्रिया को पहन न करने पर उनके पात्रों को ममम्रा हो नहीं जा सकता। उनरी धिन्धाधारा में ही बैनेन्द्र की धानी धिन्धाधारा धान-धोष है। इसी से पात्रों का स्वतन्त्र बर्तुत्व सधधय समाप्त हुआ गया है। वे वह करते हैं वा व वह नहीं करते जो बैनेन्द्र चाहते हैं वा धिन्धे उनके दर्शन का पुष्टि

होती है। फलतः उनका ज्ञान और कर्म परध्या है और विश्वसनीय नहीं बन सका है। परेन्तु जीवन और परिवार के उपन्यासकार के अनुभव और समीक्षित इन्दी की कथा में सफलता से प्रकृत किया गया है और यही दो पक्ष बैनेन्द्र की उपन्यास-कथा के विविध संकेत हैं परन्तु रचना की बढ्ढान बीच में धा जाती है और पाठक उनके पात्रों से प्राण-सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाता। इससे उनकी धीपन्यासिक उपलब्धि सम्पूर्ण न होकर धावी ही रह जाती है। उनका बर्तन ही उपन्यासकार के नाते उनकी सीमा बन गया है।

२

प्रेमचन्द के जीवन-दर्शन को हम मानवतावाद कह सकते हैं। इस जीवन-दर्शन के केन्द्र में मनुष्य है और उसी की सम्भावना पर बढ्ढव्य विप्लास प्रेमचन्द के साहित्य में परकथित हुआ है। इसीलिए नास्तिक होने पर भी प्रेमचन्द धास्वाप्राण है धाभाभावी और धारस्यवावी है। यह विपमता देखते हैं पुन्य का व्यापक प्रसार देखते हैं तो ईश्वर विश्वास उनका हिग जाता है परन्तु ईश्वर का नाय बिना भी यह मनुष्य के मीतर की सदासयता करणा यदा और प्रेम पर विश्वास रख सकते हैं और सदासयों की पद्यमय में भी पीठ की कल्पना कर सकते हैं। बैनेन्द्र का जीवन-दर्शन इससे भिन्न है। बैनेन्द्र प्रेमचन्द की तरह धनीश्वरवावी नहीं हैं। ईश्वर को यह पहले और भय में भाते हैं। परन्तु ईश्वरवावी होते हुए भी यह धास्वाप्राण नहीं बन पाते। यह इसलिये कि यह मनुष्य के स्वतन्त्र कर्तृत्व में विश्वास नहीं करते और कुछ बहुत धनयतावावी एवं नियतिवावी हैं। उनकी विचारधारा सुदम है परन्तु उस इम १९२० के बाद की यूरोपीय विचारधाराओं विशेषतय धान के धस्तित्त्ववाद के समकथ रख सकते हैं।

धाने के धस्तित्त्ववावी जीवन-दर्शन की पहली विधीयता यह है कि यह धस्तित्त्व को धरम तत्व (देवेष) से पहले रखता है। ईश्वरवावी दर्शन में धरम तत्व (ईश्वर या ब्रह्म) पहले है उसी से सृष्टि का विकास सम्भव है। सृष्टि उसी के मन की प्रतिरुति है। यह पहले सृष्टा के मन में बग्म लेती है। सृष्टा उस निरर्क मही बनाना। प्रत्येक सृष्टि के पहले उसके रूप और सद्देय की कल्पना है। धस्तित्त्व से पहले यह सृष्टा के मन का मान-बोध है। इस प्रकार सृष्टा के कम में ईश्वर को तटस्व बनाकर धमभ्य गया है। सृष्टा अब शून्य करणा है तो यह निश्चित रूप से जानता है कि यह क्या बना रहा है और क्यों? पूर्व निर्णय धारणा और रूप-कल्पना के अनुधार यह निर्माण करणा है। जहाँ धाष्टिक धार्शनिकता में ईश्वर (सृष्टा) बाधक भी है, जहाँ की धस्तित्त्व को धरम तत्व के मुस में रखा गया है। मनुष्य के मीतर जो "मानवीय प्रकृति" है, यह सब मनुष्या में समान है, यह धार्शनिक है उसी धवस्थाओं के मनुष्य में यह मूलमूल इकाई है। इस प्रकार मनुष्य का धरम तत्व उसके धस्तित्त्व से पहले है।

धाने की विचारधारा इसके विपरीत है। यह विचारधारा नास्तिक है। ईश्वर

कं अस्तित्व में वह परिष्कारशील है। परन्तु इसकी वह भावना है कि मनुष्य धारि में है मनुष्य अपने रूप के निश्चित होने और परिभाषा प्राप्त करने से पहले ही अस्तित्वशील है। अस्तित्ववादियों का विश्वास है कि मनुष्य परिभाषात्मक नहीं है इसलिए कि प्रारम्भ में वह नहीं था और उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में हम निश्चयी नहीं हो सकते। वह सतत बहिर्गमन वास्तविकता है। वह केवल कर्तृत्व में ही है। होमा ही उसकी सार्वभौमता है। वह अपने को जैसा बनाता है वैसा वह है। परन्तु इसी कर्तृत्व में मनुष्य की सर्वोपरिता भी प्रकटित है। मनुष्य में सर्वोपरि ऐसी चेतना है जो अस्तित्व की ओर उसे ले जाती है और मनुष्य इस अवधारणा की बात से अपरिचित है। मनुष्य चेतन है। उसका अस्तित्व ही जीवन है। भावना की उस अस्तित्वगतता के बिना मनुष्य कुछ भी नहीं है। जब मनुष्य अपनी आकांक्षित पूर्णता को पहुँच वाचना तक वह होमा। तभी हम उसे परिभाषा दे सकते हैं। इस प्रकार अस्तित्ववाद में मनुष्य अपने प्रति धारि है उसके अस्तित्व की सम्पूर्ण जिम्मेदारी उस पर है वह अपना स्वामी है, वर्तमान का भी अस्तित्व का भी। परन्तु वह अपने प्रति ही दायी नहीं समस्त मनुष्यों के प्रति धारि है क्योंकि वह समस्त मनुष्यों का प्रतिनिधि है और अपने कर्मों द्वारा मनुष्य के अस्तित्व का एक निश्चित रूप धारण रखता है और हीन मनुष्यों को अपने कर्म का दायी बनाता है। मनुष्य स्वतन्त्र है वह अपना मार्ग चुन सकता है। अस्तित्ववादी जब ऐसा कहते हैं तो उसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य अपने जीवन के अस्तित्वगत मार्ग चुनता है। उसका प्रत्येक कर्म सम्भाव्य मानवता का प्रतिबिम्ब उभारता है और समस्त मानवता का पक्षप्रदर्शन करता है। प्रत्येक स्थिति में समाधान अस्तित्वगत होते हुए ही उसका समष्टिगत पक्ष भी रहता है।

इसी विचारधारा से धर्म विचारधाराओं का जन्म होता है जिन्हें हमारा पीढ़ा (ए. ग्राहल) नियन्त्रिक (एन्डनमेन्ट) और निष्ठावाद (इसपेपर) कहा गया है। मनुष्य पीढ़ायुक्त है। ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को कर्तृत्व की स्वतन्त्रता है परन्तु यह स्वतन्त्रता उसके लिए बड़ी भारी बड़ रही है। क्योंकि वह अपने लिए ही नहीं चुनता वह सारी मानवता के लिए चुनता है। कलत समका वास्तव बड़ जाता है और वह पक्ष-धर्म पर संसृष्ट रहता है सार्वभौम पीढ़ा का समुच्चय करता है। धरि सभी वह करने से जो वह कर रहा था तो क्या स्थिति हो वह विचार ही उसके प्रत्येक कर्तृत्व को अस्तित्व महत्त्व दे-रता है। इसीलिए उसे अपनी धर्मचैतन्य प्रवृत्तियों और बौद्धिक कारणों के प्रति अविश्वासी होमा पड़ता है। इन दार्शनिक से उसके हृदय का वह हृदयमामे रहते हैं। वह पीढ़ा वैधर्म्यमूलक नहीं कर्तृत्वमूलक है। इसी से धर्म धारि उसका सत्य नहीं है उसका सत्य ही अज्ञात है। (जीनराम माने एक्विवलेन्ट नियन्त्रिक एन्ड ह्यूमनिजम १०६२।)

माने का दर्शन मनुष्य की पुनर्जाति और निःसहाम मानता है। मनुष्य पतित्यस्त है। यही नहीं कि ईश्वर नहीं है और मनुष्य उससे किसी भी प्रकार का सहारा नहीं ले सकता।

मतिक या मानवीय प्रकृति के निश्चित धारण भी नहीं है और इस प्रकार मनुष्य के पास केवल उसका स्वतन्त्र कर्तृत्व है। फल यह है कि मनुष्य इच्छेता है न भीतर का संवर है न बाहर की पतवार। बहु मात्र है। क्यों है कहे रहे इसके सम्बन्ध में कोई इंगित नहीं कोई धारणा नहीं। उसका स्वतन्त्र कर्तृत्व ही उसके लिए अभिसार है। (बही पृ १३४-४)

इस प्रकार अस्तित्ववादियों का निराशावाह अपने बंग की नीव है। बहु परिस्थितियों और कर्मों की सीमाओं को स्वीकार करते हैं और उद्यम ही अपनी सुरक्षा समझते हैं। इसीलिए इस वर्धन में प्रकाम कर्म (निष्काम) का नारा लगाया गया है। मनुष्य की दुर्बलताओं और परिस्थितियों के ध्वंश को समझते हुए अहम्य आशावाह को सब कोई हास्यास्पद ही मानेगा। इस प्रकार अस्तित्ववादी कर्तृत्व में विश्वास रखते हुए भी मोह प्रसूत नहीं होया। अपने पैरों तले की बरती के सम्बन्ध में भी मनुष्य किंचि प्रकार निश्चित हो सकता है? (बही पृ० १६)

सामे की इस विचारधारा का उनके साहित्य पर, विशेषकर पात्रों की स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ा है यह बतलाते हुए उन्होंने नीला से अपनी मुलना की है। नीला के पास भी दुर्बल है पापी है परन्तु उनके पीछे बंधानुक्रम परिच्छेद मनोवैज्ञानिक या वैज्ञानिक कारणों की योजना है। परन्तु सामे का वस्तुवाह दूसरे बंग का है। दुर्बलता है पाप है, दुर्बलता है परन्तु उसके पीछे कोई कारण नहीं है। वह है इच्छित है। प्रकृति कर्तृत्व भी नहीं है। प्रकृति से धुड़ न डोकर भी जब उपस्थाप में कोई धुड़ बन जाता है तो पाठकों पर बड़का छा जाती है। इसी प्रकार पाप सामे नाम कर्तव्य की कल्पना का भी विरोधी है। उसकी आरणा है कि कुछ करने पर पाप दुर्बल या सबल बन जाते हैं, परन्तु मूलतः न वे दुर्बल हैं, न सबल हैं। नामक दुर्बल प्राण भी सिद्ध हो सकता है और दुर्बल प्राणों में नायकत्व की कल्पना भी सम्भव है और सब तो यह है कि एक ही प्राणी दुर्बल और सबल दोनों होना है कुल समा पाप गया है, हमें यह देखना है, उसके भीतर दुर्बलता-सबलता को प्रसन्न-मलग नहीं पड़ना है। (बही) पृ ४२३)

इसमें सम्येह नहीं कि जैनेन्द्र की दार्शनिक मूमि सामे वैसी सुस्पष्ट होती हुई भी बहुत मिला है यद्यपि अन्त में औपन्यासिक उपलब्धि उसकी वस्तु कुछ उसी प्रकार की अनिश्चित है जिस प्रकार की सा की। जैनेन्द्र ईश्वरवादी हैं, यद्यपि उनका ईश्वर प्रतीक मात्र है। वह कर्तृत्व से परे रहस्यमय लीलात्मक है परन्तु उसकी सीला बही समझे। उसका होना न होना अचरम है। जैनेन्द्र मनुष्य में परमित कर्तृत्व की स्थिति मानते हैं। मनुष्य में स्वतन्त्र कर्तृत्व है परन्तु इस कर्तृत्व में ही अभिनय भी है। सामे की तरह जैनेन्द्र भी मनुष्य को "बेचारा" मानते हैं परन्तु सामे के लिए यह "बेचारापन" मनुष्य के स्वतन्त्र कर्तृत्व का स्वाभाविक विकास है और इसी में उनकी महानता है। जैनेन्द्र मनुष्य को बेचारा बना कर ही छोड़ देते

है। इस प्रकार साध के निराशावाद में आशावाद की भ्रमक धा जाती है और जैनैन्द्र का नियतिवाद घनबोर हो उठता है। मनुष्य की निःसहायता और निराश-स्मिति को जैनैन्द्र ने केन्द्र-स्थान पर रखा है। साध की तरह वह भी पीडा को महत्व देते हैं लेकिन यह पीडा समष्टि के लिए दायित्व की उपज नहीं है। उसमें उन्होंने "भीतर के दर्द" की कल्पना की है मनुष्य इकेला है। परन्तु यह "भीतर का दर्द" उसे प्राणियों से जोड़ता है। इसे उन्होंने प्रेम और मठा भी कहा है। यह "भीतर का दर्द" ही जैनैन्द्र के लिए पीडा का दर्शन बन गया है। सम्मत्त जीन-महिमा और बीड-करमा का यह ठपा रूप है। इसी पीडा को उन्होंने मुखाल और कस्माएँ में देखा है और सुलश और मुबन—मोहिनी में इसी की मूर्ती उपस्थित की है। यह भीतरों दर्द ही इकेले मनुष्य का सहारा है। वह उस बिछारे हुए को जोड़े रहता है। साधे के 'ऐम्मुइश' की तरह यह भी सुदम वस्तु है परन्तु प्रकल्प उससे भिन्न है। धर्म्यवादी और नियतिवादी होने के कारण जैनैन्द्र बुद्धि और तर्क को असारता में बिश्वास रखते हैं और कर्मफल को असार्थक मानते हैं। उनके अनुसार बाला कुछ नहीं जा सचता और जानकर भी प्रगट नहीं किया जा सचता क्योंकि वाय प्रबुद्ध है। अस्तित्ववादी भी वस्तुगत अनुभव के प्रति अविश्वासी है। वस्तुगत बोध प्रतबोध पर आधारित रहता है इसीलिए वह भिन्न व्यक्तियों के लिए भिन्न होता। इस प्रकार उपस्था का अर्थ अस्तक के मन की प्रतिष्ठाया है। वस्तु जगत् का होकर भी वह वस्तु-जगत् का नहीं है। एकान् बालविक्रता है ही नहीं। ई तो इन्द्रियजगत् अनुभूतियों के विभिन्न रूपों के ज्ञान में उनके सम्बन्धों और अन्तर्मूर्तों में बिसे कुल भिन्न कर अनुभूतजगत् वस्तु की सम्पूर्णता का निर्माण किया जा सकता है परन्तु अज्ञान ज्ञान भीतर ही मन का होता है। इस प्रकार वस्तु जगत् का ज्ञान भी आभात्मक है। भीतर-बाहर एक है। जैनैन्द्र ने भी कहा है कि "भीतर-बाहर" में दो अर्थ हैं। पर वे दो नहीं हैं। प्रकृत में एत ही है। दो ही कर भी एक जैनैन्द्र और छाग। (कस्याकी १० ८१)। जैनैन्द्र भी अस्तित्व को मूल मानते हैं। होता ही जाता है। फलतः बुद्धि द्वारा किसी को समझने की चेष्टा मूल है। इस प्रकार आरिबिहता होने में है, वन्त्व में है। जैसे वह असार है।

साध अनीरववादी है। वह नैतिकता या मानवीयता को भी नहीं मानता। इसी से वाय-पुष्य की बाण नहीं उठनी। परन्तु जैनैन्द्र वाय-पुष्य की ममत्वा को बार-बार पूते है यद्यपि वे उनका कोई मयाधान उपस्थित नहीं कर पाते।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जैनैन्द्र की विचारधारा साधे के अस्तित्ववादी दृष्टान के समान ही जा सचती है। जीवन के प्रति कही नहीं और अज्ञानमूर्ति बुद्धि और अज्ञानी प्रबुद्ध और रहस्यमयता पर बम एवं पीडा का दायित्व महत्त्व हमें उनही विचारवाच में भी भिन्नता है। साधे की रचनाधर्म में धार निराशावा" मिसना है यद्यपि वे अपने को मानवतावादी सिद्ध करते हैं और मानव की विज्ञानो-मुक्त अन्त-

प्रकृति पर उनका विश्वास है। वैनेन्द्र की रचनाओं में हमें संघर्षबाध ही अधिक मिलता है। वे एक प्रकार से नियति को ही प्रमुख मान लते हैं और मनुष्य के स्वतन्त्र कृत्य और उसके विकासमान व्यक्तित्व को महत्व नहीं देते। वह निराशावादी प्रकृति सम्भवतः उनके प्रात्यानुभव पर आधारित है क्योंकि वह न तो गान्धीवाद की शीश्रु है न वैद दर्शन की। स्वयं वैनेन्द्र के अपने व्यक्तित्व और उनकी मनोरिचि में निराशावाद एवं नियतिवाद का हल झूटना होगा। वह सुदोषर-काल की परिस्थितियों की भी प्रतिष्ठाया हो सकती है।

३

इसमें सन्देह नहीं कि वैनेन्द्र ने अपने दार्शनिक दृष्टिकोण के विकास में अनेक मूर्तों से सहारा लिया है। पश्चिम की मूल्य दार्शनिक उपलब्धियों से वह परिचित है, चाण ही गान्धीवादी विचारवादा और जैन धर्म के दार्शनिक पहलुओं का भी उनका गहरा अध्ययन है। यह सब होते हुए भी वह मूल चिन्तक है। इसी से वह बहुत कुछ बाहर से बटोर कर उस सब को अपना बना सके है जो स्वयं एक मूल्यवान् उपलब्धि है।

जैन-दर्शन का मुख्य दार्शनिक विश्वास 'अहिंसा' शब्द के अन्तर्गत आ जाता है जिसका अर्थ अहिंसा अथवा हिंसा भाव की नकारात्मकता ही नहीं है, सार्वभौमिक प्रेम है जिसके मूल में मानना यह है कि प्राणी मात्र एक है। अहिंसा-धर्म परपीड़ा को स्वीकारा समझता है और उसके प्रतिअध्ययनस्क नहीं रह सकता। जैन-दर्शन की प्रमुख विचारवादा अनेकानुवाद है कि सब को अनेक दृष्टिकोणों से देखकर ही वास्तविकता तक पहुँचा जा सकता है। जैन-दर्शन के अनुसार अरम तत्त्व अरररर और संश्लिष्ट है और उसकी प्रकृति को पूर्णतया अररर करने के लिए विभिन्न कोणों से उसे देखने की आवश्यकता है। यह आवश्यक है कि किसी विशेष लक्ष्य को सामने रखकर उस अररर अररर को हम एक विशेष दृष्टिकोण से भी परख सकते हैं। इस एकाधिक दृष्टिकोण से अररर को परखने का अरररर मूल्य भी हो सकता है परन्तु उसमें हमें अररर अररर ही प्राप्त होना अररररर अररर की उपलब्धि नहीं होगी। जैन-दर्शन की अररररि है कि अरररर अररर और अररर (अरररर) अररर की तीन प्रकृतियाँ हैं और अररर में इन तीनों का अररररर है। वह एक ही अररर में है अररर हो रहा है और अररर से रहा है। इस 'अररर' को वैनेन्द्र ने "ईश्वर कहा है। जैन दर्शन के 'अररर' की अरररर वह भी अरररररर और अररररररि है। जैन-दर्शन को अरररररररर अरररररररररर कहा जाता है परन्तु वास्तव में 'अररररररर' में अररर के अरररर में अररर अररररररि है और 'अरररर-अररररररर' के अररर में 'अररर' को अरररररररररररर पर देखने की दृष्टियाँ हमें मिलती हैं। जैन-दार्शनिक यह नहीं कहते कि अररर एक ही अरररर अरररररररररर और अररररररररर है। उनका अरररररररररर यह है कि हम उसे एक दृष्टिकोण से देखते हैं तो वह 'है' दूसरे दृष्टिकोण से देखने पर नहीं 'नहीं' हो सकता है। वास्तविकता तो यह है कि यह दृष्टिकोण नहीं अररररररररररररररि है।

जैन-दर्शन कर्मवाद का विद्वान्सी है। जीव की सांसारिक स्थिति की व्याख्या कर्मवाद द्वारा ही सम्भव है। जैन-दर्शन में घाट प्रकार के कर्मों की कल्पना है। ज्ञान वर्ण्य कर्मन् इच्छन्तावर्ण्य कर्मन् मोक्षणीय कर्मन् वैदनीय कर्मन् नाम कर्मन् धीर कर्मन् धीर धसूया कर्मन्। समस्त सांसारिक प्राणियों का इन कर्म बनना में र्बंधना पड़ता है। इन कर्मों को इत्य कर्मन् धीर भावकर्मन् में भी विभक्त किया गया है जो क्रमशः भौतिक धीर धार्मिक प्रकृतियों है। योग या तप के द्वारा धायक वैतना के उर्ध्व लोको में पहुँचकर इन कर्म-बंधनों से छुटकारा पा जाता है।

जैन-दर्शन में तपम् का प्रमुष स्वात है। तप के द्वारा ही मानवात्मा उच्चमनन करती है धीर ध्यायामन से मुक्ति प्राप्त करती है। तप धीर योग के द्वारा ही धारणा को अपनी सात्त्विक प्रकृति की उपमन्धि होती है। प्रत्येक मनुष्य अपनी धार्मिक प्रपत्ति के लिए स्वतंत्र है धीर तप धीर योग के द्वारा मुक्त बन सकता है। मुक्त पुरुष में ज्ञान यज्ञा उक्ति धीर ध्यान की पूर्णता है। वास्तव में जैन-दर्शन मनुष्य को महीमान बना देता है। बेबता भी मनुष्य बेहू चारण करने पर ही मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। वैदिक विचारवादी में देवता सर्वोपरि हैं परन्तु जैन-दर्शन में मनुष्य में ही परम ईश्वर की कल्पना है क्योंकि समस्त प्राणियों में मनुष्य ही जीवन् (या प्रकृति) के सत्त्व के सबसे अधिक निकट है।

जैन दर्शन में सम्यक् चरित्र के लिए पाँच व्रत निश्चित किये गये हैं अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। गृहस्थों के लिए परिमित परिग्रह की कल्पना है। अहिंसा धीर सत्य पर जैन मुनियों ने बड़ी सूक्ष्मता से विचार किया है धीर इनको पूर्णता उपसम विषय में कल्पित की है। कुल धारणा बीड़ा के ऊपर जय-शान्ति जैनात्मा का सर्वोपरि रूप है।

जैन-दर्शन के कई उपकरण महात्मा गांधी की विचारवादा में पूर्णतः धरना लिये गये हैं जैसे अहिंसा सत्य धीर वंच महाव्रत। सत्याग्रह में उपसर्ग-जय धारणा धाय या जाता है। गांधी की मनुष्य प्रकृति के सम्बन्ध में अदम्य रूप से ध्यासाधार् है धीर जैनेन्द्र की तरह उनका धार्मिकवाद अनिश्चित दुर्बल धीर प्रबुद्ध नहीं है। गांधी की ही ईश्वरात्मा धर्मिक है। यह उच्चमननीय या मर्मों की संतरानुमूर्ति है। जैनेन्द्र तब-वितर्क धीर बुद्धि के उद्घापोह से ईश्वर को छान जानना चाहते हैं परन्तु बत कर हार मान लेते हैं क्योंकि बुद्धि की तो हार ही है। तपन् धीर उपसर्ग जय को जैनेन्द्र ने धोपम्यासिक रूप दे दिया है उनका नारी-मात्रियों में त्रिस्त बलिदान ध्यासाधार् तप धीर त्याग की पराकाष्ठा कल्पित की गई है यह जैन धर्म की प्रजा निकल नहीं आती परन्तु सांसारिक हीन्दू भी उसपर उपम्यासकार के जैन-विद्वान की छाप है।

४ :

जीनेन्द्र के जीवन दर्शन के सामाजिक पक्ष को भी समझ लेना होगा। जीनेन्द्र पारमार्थिक और व्यावहारिक दृष्टि में मेल करते जान पड़ते हैं। उनकी सामाजिक दृष्टि व्यावहारिक दृष्टि ही है। इसी से मूलतः अंधिकारी होते हुए भी वह बहुत घाने बरने में सुरक्षा नहीं समझते। वह समाज को एक प्रावस्थक संस्था मानते हैं। जहाँ व्यक्ति और समाज के द्वन्द्व की स्थिति घाये वहाँ वह समाज के कल्याण के लिए व्यक्ति से बलिदान की ही प्रार्था रखते हैं। इस प्रकार सामाजिकता बन जाती है और व्यक्तिवाद उमर उमर घाता है। 'जो है सो है' दर्शन की सार्थकता ही यही है कि इस अज्ञानध्याता को इरीष्य सर्वोपरि मान लेता है और बिद्रोह को कुच्छिन्न कर देता है। समाज के सत्य पर ही लेखक ने धरने मारी-पाशों की बलि दे दी है। कट्टो विचारा ही बनी रही मने ही जीनेन्द्र उसे वैकल्प-यज्ञ की परिभाषा से मचित कर रहे उसके विचारापन की समस्या का यह हल व्यक्तिवादी ही रहेगा। मूलात् तो तिन तिन करके गमती है सामाजिक स्तर पर नीचे और नीचे उतरती है। वह समाज की सुरक्षा को ही अपना ध्येय बना लेती है। प्रमोद जब कहता है कि मैं समाज की परवाह नहीं करता तो वह कहती है 'गुम परवाह नहीं करो माई, तो चल सफटा है। लेकिन मैं तो ऐसा ही कर सफटी कि परवाह न करूँ। मैं समाज को तोड़ना-फोड़ना नहीं चाहती हूँ। समाज टूटी कि फिर हम किसके भीतर बसेंगे या कि किसके भीतर बिगड़ने? इसीलिए मैं इतना ही कर सफटी हूँ कि समाज से अलग होकर हमको मयलाकाशा में खुद ही टूटती रहूँ' नहीं नहीं वह प्रमोद को बिरुध भी करती है कि वह अपनी इच्छत सम्मान रहे (मद्यनि वह कृम आगती है कि सामाजिक प्रतिष्ठा की बात कम है) और उद्यते (मूलात्) सम्पर्क नहीं रखे। समझती है, 'जो समाज में है समाज की प्रतिष्ठा कायम करने का जिम्मा भी उन पर है। वह उनका कृतव्य है। जो उनके उच्छिष्ट हैं या उच्छिष्ट बनना पसंद —र सफते हैं, उन्ही को जीवन के साथ नये प्रयोग करने की छूट हो सफती है। प्रमोद यह बात तो ठीक है कि सत्य को सदा नये प्रयोगों की प्रयेसा है। लेकिन उन प्रयोगों में उन्ही की पड़ना और डालना चाहिए जिनकी जाग भी अधिक समाज-वर नहीं है।' (त्यायवत पृ ६) तात्पर्य यह है कि जीनेन्द्र के साहित्य में सामाजिक प्रश्न घाते हैं परन्तु वे अपनी तीव्रता और मर्यादा छो देते हैं क्योंकि जीनेन्द्र या तो उन प्रश्नों की दार्शनिक मूल प्रश्नों से सम्बन्धित करके उनकी जातिकारिता मत्त कर डालते हैं या वे यथावस्थता के कायल बन घाते हैं। आखिर, समाज बदलेगा कैसे? सब नये मानकर चलेंगे तो क्या प्रयोग मान करनै बाने सो-चार बने समाज को बदल देंगे? यह सामाजिक प्रश्न की व्यापकता हटा कर उसे व्यक्तिगत भूमि पर देखना है। इसलिए हम देखते हैं कि कि उन्हीने व्यक्तिगत भूमि पर पीड़ा का एक दर्शन बना लिया है। व्यक्ति (जैसे मूलात् या कल्याणी) अपनी पीड़ा के द्वारा ही समाज में नई

बेनता भर मर्क्ये । यह "सत्याग्रह" का सामाजिक रूप है । घातमपीडन और भ्रातृघात के द्वारा ही जहाँ जाति की घाटा है । यहाँ जीवन की कर्मण्यता का क्या होगा ? पन्ध्र-बीनेन्द्र के पात्रों पर निष्क्रियता छाई हुई है और वह सब प्रश्नों के धन में शब्द "ईश्वर" को रत्नकर धरना समाधान कर लेते हैं । इन प्रकार वह अपने को छान ही हैं । समाज का क्याएण तो वह कुछ कर नहीं सकेंगे ।

"हमेंसे बुधा मृगाल के तप से समाज नहीं बदलेगा । न ब्रज एम्० दामन के त्यागपत्र से । यह त्यागपत्र क्या अपने से भागता नहीं है ? यह क्या बुधा का शून्य बुजाना है ? छतरह से कुछ ऊपर बयं तक बकासत के पैसे और बुद्धिमत्ता के सिंहासन के ऊपर बैठकर राज किया और फिर एक दिन बुधा के मरने की खबर पाकर त्यागपत्र ख दिया । इसमें कौन-सी अतिकारिता रही ? सब तो यह है कि बीनेन्द्र के पात्रों का व्यक्तित्व समाज के बान्ध से बंधा रहता है और वे अपनी जान को मोबा नहीं रख सकते । बीनेन्द्र यह प्रथम मानते हैं कि धार्मिक समाज का बोझ अपने ऊपर स्वीकार कर अपने मीनर क राज्य को प्रस्थापित करता है । तो यह उसकी बड़ी शारी मूर्खता है । (त्यागपत्र पृ ७) परन्तु इस मूर्खता से न मृगाल छुटकारा पाती है । न प्रमोद न बस्याणी । इन सब की धर्मता मूमठ इसीलिए है कि ये समाज के प्रति बिद्रोह करने में प्रसफल है (या प्रसमय है) ये कर्तृत्व नहीं जानते । मूख दार्शनिक व्युत्पादक जानते हैं । इसीलिए मे हमारो लिए बुर्बोब है । बास्तव में इसी से उनमें "ईश्वर" का जन्म हुआ है । समाज-बन्ध के नीचे किसी दृष्टि कस्याणी सब समाज की मर्यादाओं को सर्वोपरि रखकर बहती है कि "सामाजिक नियमों का उत्सुकन उदासीन होकर नहीं देखा जा सकता । मर्यादाओं की रक्षा आवश्यक है नहीं तो समाज बिखर जायगा । मनुष्य और पशु में सब भेद नहीं रहेगा । आपसी सम्बन्धों में मर्यादा का निर्वाह अब तक हम करते हैं तभी तक मनुष्य और पशु में भेद है । पशुओं में एक से बूतरे में बिघपता नहीं होनी सब समान है । सब के अधिकार समान है । हर हमारे को मार जाने को स्वतंत्र है । पर मनुष्य में सम्पत्ता बनाई है जिसके कारण धार्मिक और धार्मिकों में बिघिष्टता है । सब के पदस्य भिन्न है और कर्तव्य और धर्मिकता भी भिन्न है । सब का धर्म अपनी मर्यादा की रक्षा है । मर्यादाहीन कम पशुता है । मुनते धार । समाज-विधान की मर्यादाओं का उन्मूलन घनिष्ठ है । पशुओं का इच्छा गान हुआ है । रेबड़ या ऊट होता है । लेकिन मनुष्य ने एकजिन हाकर अपना समाज बनाया है । नियम है । नी में समाज समाज है । क्या नियम की प्रथमा की जा सकती है ?" (कस्याणी पृ० ६५ ६)—तो हम धार्मिक-व्यक्ति हो जाते हैं । परन्तु यह केवल कस्याणी का बयान नहीं है स्वयं उन्मूलनकार की भी उसके प्रति सहानुभूति है और इसी से वह कस्याणी (और "त्यागपत्र" में मृगाल) को दृष्टि बना कर हमारो महानुभूति से प्रेम करना चाहता है ।

बिबाध बर्गने" जन और बिगिष्ट स्त्री और पुरुष के समाजगत सम्बन्ध धारि कुछ प्रमुख सामाजिक प्रश्नों को बीनेन्द्र अपनी रचनाओं में बार-बार लाये हैं और इनक

सम्बन्ध में हमें उनका दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से मिला जाता है। जहाँ यह पात्रों के मुँह से बोलते हैं वहाँ भी उनका स्वर पहचान लिया जाता है। यह विवाह को सामाजिक मानते हुए भी कदाचित् "स्वयंसेवा" में उसकी सामाजिकता की बिलंबी तकते हैं क्योंकि धर्मिता और पत्नी के विवाह में न "जन्म-जगन्नाथ" तक विवाह की स्थापि" नामी सार्वकता है क्योंकि दोनों धर्मरूप प्रेम को मुक्ताने के लिए ही विवाह करते हैं। पास धामा नहीं चाहते हुए जाना चाहते हैं। (स्वयंसेवा पृ. ८६) नर्म मेघ को उन्होंने "विपत्ति" में उभाया है और नर्म उभारा है। (वही पृ. ११६) स्वयं मोहिनी जितेन से पुछती है, "क्या तो तुम हमारे पने-सबे बर्त के साथ क्या करना चाहते हो? वह जिसे समाप्त करने है, तिमिन्केट। क्यों नहीं न?" और जितेन लाने बोध से अन्ति की बलीमें पेश करता है। (वही पृ. ८६-७) परन्तु प्रेम के प्रसन्न में जितेन की द्वार नर्म सिद्धान्त की द्वार बना ही गई है। वही धारम्भ में प्रमीरों का मन लेकर गरीबों में बाँटकर साम्य स्थापित करने की बात है वही सहायता के रूप में जितेन वीर से कहता है "मच्छा वीर, तिमिन्के के हाथ नहीं धम के हाथ घटा होनी चाहिए। जन्म सिक्का हो और सिक्का मिट्टी हो तब है अन्ति। बाकी समाप्त है, बाकी सब सरकार की पुषा है। मन भूट कर इसके धिवा क्या होना है कि मन ईश्वर बनना है? (पृ. १६९) इसमें मन के प्रति तुच्छता का भाव लामा गया है वही उसके धारण पर नर्म मेघ करके चलना ही मूल हो। इसी प्रकार जीनेन्द्र काष्ठ से यह दर्शन कहलाते हैं कि मन बड़ा है, विचित्र छोटा कि "यह जो मन-साधारण है— जिसकी गिनती नहीं है जो एक-सा है, और इच्छा है, पीड़ यह है।" (विपत्ति पृ. १०१) परन्तु यह पता नहीं लगता कि सारे उपन्यास में इस भाग्यता की सार्वकता क्या है और कहाँ है? वही वीर पुष्प के विभिन्न सम्बन्धों को लेकर तो उन्होंने धरणी कथाएँ ही बड़ी हैं पर उनमें पथ का बाधा ही धर्मिक है प्रबल पात्रियाँ पथ की बाधेदार बनकर नहीं घा घकी हैं।

मञ्जरी में यह कथा का सञ्चय है कि जीनेन्द्र का सामाजिक दर्शन हमारे भीतर प्रसन्न उठाता है कृपाती जिज्ञासा को उभारता है, परन्तु यह परिस्थितियों से समझीते में विरवास करता है किशोह वीर बुनीती में नहीं। भूम-पिठ कर जीनेन्द्र नहीं पहुँच जाते हैं वहाँ समाज धर्म की सन्निधि बाँधित है और सामाजिक प्रसन्न के लिए दार्शनिक समाधान देकर का भीन उच्छर प्रसन्न के साथ चल करते हैं। मूलबन्ध होते हुए भी उनका सामाजिक चेतना अन्तिवारी नहीं बन सकी है। यह कदाचित् स्वयंसेवा जीनेन्द्र की धीमापों से धारण है। भाष मूमि को छोड़ कर वहाँ निराला बोधिक मूमि पर चलने का प्रारम्भ है, वहाँ उच्छेदक में चलाने का कर बना है।

जैनेन्द्र की नारी भावना

जैनेन्द्र के उन्माधों में नारी-भावना की प्रधानता है। पात्र में लेकर "स्वपीड" तक नारी ही उनके केन्द्र में है। एक प्रकार से उनके उन्माधों को इस नारी जीवन के उपन्यास कह सकते हैं। नारी-जीवन की समस्याएँ नारी का सामाजिक जीवन उसका स्वतंत्र कृतत्व प्रेम और विवाह से कुछ प्रसन्न है जो ईतिहास के सामने बराबर खड़े हैं और अपने हृदय से इन प्रश्नों का समाधान उपस्थित करने का प्रयत्न उन्होंने किया है। नारी के सम्बन्ध में जैनेन्द्र की भावना बराबर सूक्ष्म होती गई है और उन्होंने इस समस्याओं को सम्पन्न पहचान देने की चेष्टा की है। जिस आभाषाधी युग में जैनेन्द्र ने सत्य धारण किया उन दिनों नारी "उद्योगिनी की लम्बी थी। उसके व्यक्तिगत क प्रति धारण का कोई धन नहीं था। प्रेमभर और धर्म समसामयिकों की रचनाओं में भी नारी को केन्द्रीयता मिली थी। साम्प्रत में बीसवीं शताब्दी नारी आपत्त की पत्रिका रही है और नारी की मुक्ति में ही हमारे युग के महापुरुषों और साहित्यकारों ने मानव-मुक्ति की कल्पना की है।

"परल" में हमारे सामने नारी की सामाजिक समस्या ही नहीं पानी स्वयं सेवक नारी-सम्बन्धी अपने बुद्धिदोष को एक स्वयं पर मुखरित कर देता है कि "पुरष बनाता है, विवाह विगाड़ देता है,—धर्म की की एक बहाव है। संघर्षन यह भी गया या सवता है—पुरुष बनाता है स्त्री विगाड़ देती है। ठक भी बहावत में कम लम्ब नहीं रहता। आज वास्तव में यह है कि पुरुष कम बनाता-विगाड़ता है जो कुछ बनानी और विगाड़ती है, स्त्री ही। स्त्री ही व्यक्ति को बनाती है, बर को मृदुम्ब को बनाती है। जानि और देष को में कहना है स्त्री ही बनाती है। फिर इन्हें विगाड़ती भी नहीं है। धानम्ब भी नहीं और कलह भी नहीं हृद भी और उबाड़ भी दूध भी और कूल भी पीटी भी और स्त्रीन भी और फिर प्रायशै मरम्पत और खेच्छा भी सब कुछ स्त्री ही बनाती है। धर्म स्त्री पर टिका है, सम्पत्ता स्त्री पर निर्भर है और ईशान की जड़ भी नहीं है। आज क्यों बहामो एक पक्ष में नहीं बुनिया स्त्री पर टिकी है। जो पानों से देवत है चुन चाप इस लम्ब को स्वीकार कर, सबके बीडे खेते हैं। पपादे खु नहीं कल जिनकी धीरे ही नहीं के मार्ने आज धर्में हमारी बना से।" (परल पृ० २५-६) "परल" में

कट्टो बिबना है परन्तु उसका 'बिबनापन' समाज में लांछा बनने पर सेवक को इत प्रेम नहीं करता। क्योंकि मूल में तभी संयत्नमयी बरबातमयी है। इती से इन बिबनापन को "वैदम्य-वय" बना कर शार्कता दे दी गई है। स्पष्ट ही यह कोई सामाजिक समाधान नहीं है। सामाजिक प्रश्न जहाँ का वहाँ बना रहता है। और कथा की परिणति मात्रातिरु भावसंवाप में हाँपी है जो स्पष्टतः घाटेपित और घम्यावहारिक है। यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र बिबना-बिबाह के सामाजिक प्रश्न को सामाजिक भूमि पर देखना ही नहीं चाहते। बिहारी को बीच में लाकर यह कट्टो को बिपन भीबनस्विति से उबार लेते हैं परन्तु बिहारी जैसे प्रतीग्रिम प्रेमी चितने विषेसे और कट्टो भी क्या बहाने होनी। फिर भी यह स्पष्ट है कि इस उपगमास में नाटी के अपरिणीत भास-स्वाम और भावुरन को कला की सुन्दर कपरेबाधों से उभारा गया है। अथवा और गंवाक कट्टो के घाने भिखा प्राप्त नापरिका बरिमा का ठेक कठिन हो जाता है और इस प्रकार नाटी की मूल कम्बाली प्रकृति की प्रतिष्ठा हा जाती है।

'सुनीता' द्वारा बिबने और 'अपनीत' में जैनेन्द्र नाटी की प्रेम और बिबाह की समस्यारा को बिस्तृत रूप से लेते हैं। बिबाह की समस्या के साम ही नाटी के पुरन से स्वतन्त्र जीवन की समस्या बँबी हुई है। एक प्रकार से नाटी के अस्मित्य जीवन की समस्याओं का यह केन्द्र-बिन्दु है। यह अपने लिए भी सके। बिबाह-रक्षा में पाबल नाटी पति-पुत्रों के लिए भीठी है। क्या यह अपने लिए भीने में स्वतन्त्र है? पति के रहते और जानते क्या यह प्रेम कर सकती है और फिर भी सही बनी रह सकती है? सतीत्व बड़ा है या नारीत्व। इस प्रश्न को अरुणन्द ने भी उठाया है और नाटीत्व को सतीत्व से बड़ा माना है। यहाँ एकनिष्ठा और सतीत्व का प्रश्न है यहाँ भी सुझना नाई गई है। नाटी मूलतः करनामयी है। माता है अमाययी है। आत्मदान ही उनका परम पीछण है। इस आत्मदान को ही हम नाटीत्व कहते हैं। सती बनना सर्वोच्च मार्ग है। परन्तु ऐसी भी पुकार था सकती है जब नाटी सतीत्व पर जाती हुई लांछा की लपटों को छू ले और सहमेरता प्यार और पीड़ा के घाँसुओं से विगस्कार क पथ पर बढ़े। देवदास के प्रति पाबली ने जो क्रिया यह अपने ही कुलीन घर की युहिपी के लिए उचित नहीं हो परन्तु क्या इससे पारंगती का सर्वोच्च नाम छांग होता है। सुनी पाठकों की दृष्टि में तो यह मनुष्यत्व (या नारीत्व) की प्रकृत्य हीपिछा बन जाती है। इन कारणों उपगमासों में अरुणसाहित्य के इन मूल प्रश्नों को नाई भूमि पर उठाया गया है। अरुण की बिसेपता यह है कि यह समस्या लेते हैं प्रश्न की और संकेन करते हैं परन्तु यह मूलतः कलाकार है और कला के रत में दृढ़ कर पाचों के जीवन की अ्यथा ही मानिकता पा जाती है। प्रश्न और उसके समाधान का हम मूल ही माने हैं। अरुण काक-प्रार्थ पठन नहीं करते। माया ऐनी की अरीबपी जगमें नहीं है परन्तु इसी से सहन हा में यह हमें बिगोर कर लेते हैं। जैनेन्द्र मूलतः सिनी है बिन्दु है। पाचा के जीवन के छोटे-मोटे बिन्नो का पकड़ने में भी यह विद्यहस्त है।

परन्तु हृदय का बड़े लज्ज मानसिक बिलोम घण्टाघण्ट के बाद को समीप एवं स्वविराग्य बनाना उनके बम की बात नहीं है। वह समस्या देते हैं और प्रस्त देते हैं और समाधान देते हैं। सब और से वह बीकस है। परन्तु इनकी बीकमी घबोछनीय है। पाठक समाधान में ही उमक बाठा है वह पारों के जीवन में कूक नहीं पाता। प्रस्त और समाधान उसे घन्त तक उममामे रहते हैं।

पतिनिष्ठ नारी क्या प्रेम कर सकती है यदि प्रेम प्रमप्यागिन उसके जीवन में था जामे तो ऐसी कठिन परिस्थिति में पति का कर्तव्य क्या रहेगा? यह प्रश्न इन नारों उपन्यासों में प्रबुध होकर बड़ा है। सुनीषा के जीवन में हरिप्रमन्त भाया। धाया ही नहीं पर में केने निराभन्द को ह्मने के लिए पति द्वारा बन्पुबक साया गया। मुखबा पति से समस्त बिदबाध और स्वीकृति पाकर घर छोड़ कर साय के साथ हो सी। "बिबर्त्त" की भुवनमोहिनी से बिबाह से पहले जितेन से प्रेम किया है परन्तु उससे प्रनाहिण होकर सायब उसे भूमने के लिए "गीक" का निर्माण कर लिया है। यही प्रेम उमपे एक बार ठिर याचना कन्ता है और वह उसे ठुकरा नहीं पाती। बैनेन्द्र ने पति नरेस को इनकी बूर तक उशर बना कर भुवनमोहिनी के प्रेम-बागन्त्य की रक्षा की है कि हमें यह उशरणा ललने लगती है। वह प्रम्यागहृदिक और यज्ञानिक लमती है क्योंकि पर का मपे ही माया-ममता राय-द्व प है और जहाँ पति-मली को प्रेमी को ठग देने की छू दे देना है (जैसे "पनीन" में) जहाँ हमें घाठ होने लमता है कि मम्मबन बैनेन्द्र के प्रोन्वातिठ अयन् में भुनोके के मनोबैज्ञानिक तम्य वा राय-द्वेय काम नहीं करते। जैसे वह कोई ऐसा प्रबुध देण में हो जहाँ पति-मली "सत्य" की परीभा के लिए ही बीते हों और पत्नी को परम भुस्ति देना ही कशाबिन् पति के लिए मबमे बड़ी बीड घगी याचना हो। जो हो यह स्पष्ट है कि इन नारों उपन्यासों में सबक है इस मम्माम्य राय की धोर इ पिठ किया है कि नारी प्रत्येक स्थिति में प्रेम करने में स्वगन्त है। बिबह से पहले का प्रेम सब कहीं बाग्राय में नहीं बँब जाता और यह घन्त-बाग "मी भी उमक कर नारी के बैबाहिक जोबन की घास्ति को नष्ट कर सकता है। ठिर बिबाह के बाद प्राम्यव्य जीवन में तो प्रेम की पुकार या ही मरती है और क्या नारी उमम बिदुध हो जामे? मत्रीम्व क नाम पर देठा वह करती है तो यह सनीम्व क्या बाघपार नहीं हुआ? शरत् के उपन्यासों में जब ऐसी परिस्थिति घाई है तो घन्त में स्वय नारी की घन्त-प्रहति रास्ता न पाकर टूट गई है। परन्तु उसके इस टूटने में बड़ा "धर" है, बड़ा बीस्तार है जो हमें बिजोम से भर देता है। यही नहीं जहाँ पति नाम का प्राग्जी नारों के इस "धर" को पहचान कर ही उशर बनना है। उशर शरत् का प्रेमी भी संन्यारी जोब है। वह नारी का तन मान नहीं चाहता। तन बाहने पर भी ब्यबधान लड़ कर लेगक पत्रीम्व को बचा लेता है। परन्तु तन की सुरसा रहने पर भी नारी घाने को घोगी मान लेती है और टूट जाती है। घण्ट की यह योबना "पुहदाह" में सबसे स्पष्ट रूप से

सामने घाती है। अन्व उपन्यासों में भी इती के कई संस्करण चलते हैं। मूल रचना रवि बाबू के 'बरे-बाहुर' से उधार ली गई है। परन्तु धरतू कलाकार है। वह बाहुर' को महत्व नहीं देते। उनकी सामिकाएँ जो पुकार सुनती हैं वह किसी बाहुर के आन्दोलन की (बहु चाहे हिनक हो या अहिंसक) पुकार नहीं है। वह मनुष्यनी सुनना या सुनीता नहीं बनती। धरतू नर-नायी के प्रकृत आकर्षण को ही लेकर चलते हैं। वहाँ आन्दोलनमयी पुकार है वहाँ भी क्या पुकार का आकर्षण प्रकृत आकर्षण पर ही आधारित नहीं है? यद्यपि उसे प्रकृत रत्नकर सेबक ने अपने को छता ही है। इस प्रकार धरतू की कथा रवि बाबू की कथा का परिष्कृत रूप है धीर समने धीरसाविक सम्भावना नहीं प्रकृत है। धीरों की वैवाहिक विद्यमानाधी धीर पुसावेयर, योगाना धीर अन्व कलाकारों से धरतू ने काशी सीखा है। उन्होंने 'पानी' को पानी कहा उसके चरित्र की उग्रबलता देखी धीर तथा कथित कुमत्वाएँ धीर वैक्याएँ उनके साहित्य में सती के रूप में सामने आईं। नारी के प्रति हृदय दृष्टिकोण को समझे साहित्यिक विस्तार दिया।

वैदिक क्या इससे घाने कह सके हैं या धरतू के उपन्यासों-जैसी सामिकाएँ उसकी रचनाओं में है? "सुनीता" 'सुनना धीर' 'विद्यत' में उन्होंने रवि बाबू के 'बरे बाहुरे' धीर' 'बतुरे' का ही पुनः प्रकृत किया है। रवि बाबू की इन रचनाओं से प्रकृत धरतू कह नहीं हो सके हैं। उन्होंने रत्नकर के ठाने-ठाने प्रकृत कथाएँ प्रकृत जीवन के समस्ययी विस्फोट को रूप नहीं दिया है। धीरों उपन्यासों में बाहुर की अन्व की पुकार सुन कर नारी बाहुर आई है धीर पति को परम धनुमति ही उसे मिली है। 'सुनीता' में पति के धारण पर ही उसने अपने सतीत्व को संकट में डाला है। 'सुनना' में भूमि तैयार थी। वह भूमिका बहुत कुछ चार्चितक थी। सुनना अन्व धीर महत्वाकांक्षिणी थी। पति के धारण धीर धरतू चरित्र से वह धारण थी। उद्यम प्रकृत साम के प्रति उसका आकर्षण स्वाभाविक था। बाहुर यई तो परन्तु भीट कर था नहीं सती नीतर नीतर टूट गई। यह टूटना पाप मानना के कारण नहीं धरतू जीवन-रत्नकर की धारणता के कारण था। 'विद्यत' में मोहिनी भी टूटी है धीर पति ने उसे बड़ी धारण धीर सतर्कता से संभाला है। धीरों उपन्यासों में नारी का अहिंसक तो है परन्तु पति की उद्यमता के कारण ही वह सम्भव हुआ है धीर पति ही धरित्यत नारी की परम पति है। 'अन्व' में भूमि पोड़ी बनती है। यहाँ नारी का पुत्र के प्रति उद्यम आकर्षण है। पहले प्रेय है फिर विवाह है धीर जीवन के अन्व भी धरतू की कोई सामिकाकारिता नहीं आई है। परन्तु देवी रत्नकर मानक है कथि है, पलायननील है। प्रकृत करने पर भी धरतू उद्यम धरतू उसे रत्नकर में बाँध नहीं पाती। धरतू में पति की धनुमति से स्वयं अपने को लेकर भी वह उसे लनाओरबीवी या सार्क-बीवन बनाता चाहती है। धरतू का धारण धरतू उद्यम सतीत्व की रक्षा कर लेता है। परन्तु धरतू टूटा हुआ है धीर धरतू

ने चाप 'बद' लौटने में ही सुरक्षा मानी है।

यह 'पति' महोदय जैनग्र की अपनी धूम है। उनकी उदारतायुता अपरिचीम है, धीर वह पत्नी के मार्ग में बाधक नहीं होते। वह उसे प्रायःपूर्वक बाहर लाते हैं (मुनीता) या प्रायःकृता पकने पर, धीर पत्नी की रजि देख कर, उसे बाहर जाने की छूट दे-देते हैं (मुजरा) या दाम्पत्य-जीवन के सुख विनोद के बीच में पूर्व प्रेमी के या बमकने पर प्रताड़ित न हो पत्नी के उठने ही प्रेम से धास्वस्त हो जाते हैं जो उन्हें अप्रतिहत रूप से दिसता है। अन्त में प्रेमी की ओर से हठाद्य हो पत्नी जब टूट कर लौटती है तो वह उसे अपनी ओर से सम्पूर्ण रूप से धास्वस्त कर देते हैं (बिबर्त)। या पूर्व प्रेमी के प्रति पत्नी का आकर्षण बना देख कर उस प्रेमी के जीवन की व्यर्थता दूर करने में बड़ी सहायु भूति से पत्नी के सहायक बन जाते हैं और अन्त में पत्नी को यह छूट भी दे देते हैं कि वह सब कुछ देकर निष्कल प्रेमी के जीवन को सार्थक बनाये। (अ्यतीत) पति भी यह उदारता कर्मस बढ़ती गई है और अ्यतीत में उसकी पराकाष्ठा है। जैनग्र धार्यभाही है। फलतः यह सम्भाव्य दाम्पत्य की भाँकी है धाज की व्यवस्था नहीं है। इसमें व्यावहारिक सार्थकता किन्तही है यह सुधी पाठक जानें या मनोबैज्ञानिक। पत्नी के प्रति उदारता की दार्शनिकता से परिचामित होने के कारण 'पति' का व्यक्तित्व सचीव नहीं हो सका है। उसमें उस अन्तः स्व की स्थिति नहीं है जो रजि धीर धरत् के पार्श्व को महामहिम बनाती है। पत्नी के हटने पर 'पति' के भीतर कोई पीड़ा बाधव नहीं होती वह 'मृहपाह' के महिम की तरह पापस नहीं हो जाता या रजि बाजू के "बरे-बाहरे" के नायक की तरह धात्महृत्वा नहीं कर लेता। उसमें सिद्धान्त पूरा है, प्रयोग पूरा है परन्तु जीवन-तत्व पूरा नहीं है।

धरत् बाजू का कहना है कि गरी का बाधव अनुप्यत्व या गरीत्व 'महाप्राण' प्रेमी के जीवन की असाधकता देख कर बोभिल हो उठता है। वह धात्मदान के लिए तसक उठती है। बिभवा रमा धीर रमेध के उदाहरण से उन्हेंने अपनी बाध समझाई है। परन्तु यह महाप्राणत्व रमेध के प्राणों की ऊर्ध्वस्थिता है। वह कोई नाभितकारी नहीं देख-नीता नहीं सामान्य जन है। परन्तु बिभारों धीर भावनाधों में वह प्रयतिपील है और मर्वाधार्श्वों को ठुकराने का उसमें साहस है। इसे ही कयाचित् धरत्कन्द्र ने 'महाप्राणता' माना है। इसमें शक नहीं कि धरत्कन्द्र ने अपने प्रेमी पार्श्वों को बड़ी शक्ति से उमाद्य है और उनके प्रति हमें सहज ही सहायुभूति हो जाती है। यह प्रारम्भ में अचल विनोदी अप्रतिम साहसी उदारतायु भावुक धीर बिब्रोही है। प्रेम उन्हें बरस देता है; वे भीतर के बोध से सब जाते हैं। ममतामयी गरी प्रबल करने पर भी उन्हें उबार नहीं पाती। यह महाप्राणता जैनग्र के उपग्यामों में नहीं है? क्या है जो हरिप्रसन्न ताल धीर बिबेन को महाप्राण बनाता है? नाभितकारिता (या इनके साथ हरिप्रसन्न के भीतर का बसाधार, यद्यपि मुनीता को इन कलाधार का परिचय अयिक

नहीं है पति से तो बहुत ही कम है। अग्नि का शम भर कर ही यह मारी को अपने का प्रयास है या महाप्राणता यह कहना कठिन है। सहज नैतिक धौताकार्य पर आधारित चरकण्ड की उपन्यास-कला में प्रतिष्ठित निराम प्रेमी इन उपन्यासों के ससत्य अग्नि कारियों से नहीं अधिक मानिक बन पड़ा है।

रह गई केन्द्रस्थित मारी। रवि धरतु और जैनेन्द्र तीनों में इसी की धन्य स्थिति है। यही सर्वोपरि है। सेवकों से अपनी कला का सर्वश्रेष्ठदान इसे ही दिया है। एकही जीवन स्थिति प्राप्त होने पर भी ये नारियाँ परस्पर भिन्न हैं और उनमें समानता और विभिन्नता के अनेक तत्व हैं। यही प्रमाण धारक है। मूस रूप में ये बलिदानमयी मावतामयी प्रेममयी प्रेमिकाएँ हैं जो विवाह-अन्वय में बँधकर भी प्रेम के प्रकृत धारक को अस्वीकार नहीं कर पाती और इस दुर्बलता (या सार्धकता) के कारण अपनी जीवन तप्य कर लेती है। रवि बाबू और चरकण्ड मारी-जीवन की इस ईश स्थिति को स्वाभाविक मानकर चलते हैं और सिद्धान्त नहीं गढ़ते। जैनेन्द्र इसे मारी की अग्रगण्यता मानते हैं और घर के प्रति उसके आधुनिक विरोध को विवाह का बिल्ल समझते हैं। वह विरोध मात्र भी उनके अन्त में अमल धारा है। सुनीता में इसे बुझा है "सुख" में विच्छेद है और "विच्छेद" में लालसा है। "अप्रीति" में इसे सहज रूप से लिया गया है। पति अकल्पित रूप से उठार है प्रारम्भ से ही अज्ञानता के बा नारी-स्वातन्त्र्य का नारा बीमा पड़ गया है। इस प्रकार जैनेन्द्र के उपन्यासों की नायिकाएँ धार्मिक हैं। वे गृह प्राचीरों में बँधी होना अस्वीकार करती हैं या अपने आत्मन्य जीवन से अलग हैं। इसी जीवन में तथा या पुराना प्रेमी धा जाता है। और घर की ऊँच से बचकर चलने के लिए वह उसे "दूबते का सहाय" बना लेती है। परन्तु अन्त तक चलते रहना उनके लिए अक्षम है। जहाँ रवि बाबू पति के बलिदान से नारी के प्रत्यागमन के लिए मार्ग खोजते हैं वहाँ चरकण्ड प्रेमी के बलिदान से सम्पत्ति के पास जाने की कल्पना करते हैं। प्रेमी मृत्यु हाथ हटा लिया गया है परन्तु उसकी पुष्प स्मृति ने दृष्टे हुए दो हृदयों को जोड़ दिया है। जहाँ स्वयं मारी बलि की बेबी पर चढ़ गई है वहाँ पति और प्रेमी उसी की पुष्पस्मृति में बँधे हैं। जैनेन्द्र के उपन्यासों में इस विकल्प ही बना स्थिति है? सुनीता में प्रेमी पलायन कर जाता है, इसलिए कि उसका प्रेम बाहरी तन का है और सुनीता जब निराश्रय होकर वह सत्य उस पर प्रकट कर देती है तो वह इस सत्य की चक्राचक्र को सह नहीं पाता। माय जाता है। "सुख" में माय भी यही स्थिति है। परन्तु यहाँ माय सुखदा की ओर से क्यों हटा नहीं मुठरा के धारक करने पर भी उसे सम्पूर्ण नहीं ले सका वह समझ में नहीं पाता। हरिबा ने बल ठोकर देते निरस्त कर दिया है और कदाचित् हरिबा की धारकबलि अपने बिकार भर देती है। "सुख" के भीतर माय के प्रति विज्ञानता (या विपुषा) धम भी बनी है और सम्भव

इमीलिए पति-पत्नी पास नहीं आनाते । यही 'पाप' है बिस्वके कारण सुखदा समयस्त हो जाती है भीतर भीतर यस कर मरत्य को प्राप्त करती है । 'बिबर्त' - बिनेन अपने मन की छलना को समझ कर स्वयं अपने को हटा लेता है, यह समझ कर कि कान्ति या बर्ष-इ प धात्य प्रब बना है इसके मूल में मोहिनी के प्रति उसका मोह ही है । "स्यतीत" में भी प्रेमी (जयस्त) भाव जाता है । प्रतिता उसे मुलागा चाहती है कि तन में क्या कल्प है वो वह मागता है और तन देने के लिए वह यानी प्रतिता प्रस्तुत है । परन्तु जयस्त नारी का सम्भाव नहीं चाहता तन अवाञ्छनीय है मन उसे मिस नहीं सकता क्योंकि इतनी दूर भा कर भी प्रतिता पतिनिष्ठ है । पति की स्वीकृति से ही उसे वह तन का दान लेकर भाई है । इती से यह "दान" जयस्त के लिए हेतु है । वह उसे बलपूर्वक धस्वीकार कर देता है ।

उपाराधय पति पसामनधीस प्रेमी । आ कलाकार और कान्तिकारी बनने की धात्य प्रबचना में प्रस्त है और घर-बाहर सतीत्य-नारीत्य पति प्रेमी के बीच में झुमती हुई पतिनिष्ठ परन्तु नारी स्वातन्त्र्य का दम मर कर प्रेम के स्वच्छन्द पय पर चलने का साहस करने वाली नारी के दृष्टने की कहानी ही इस उपन्यास-अनुष्टय में कथित है । बलिष्ठ ही धमिक है चिन्तित कम है । जडा की रगरेजापो से नहीं ज्ञान और टेकनीक की मुशामों से वह विनूयित है ।

केनेन्द्र की नारी भावना धमिक स्पष्ट रूप से हमें 'त्यागपत्र' और 'कस्यापी' में मिलता है । 'त्यागपत्र' में भूमि सामाजिक धमिक है यद्यपि लेखक ने उसे धब्रुम दार्शनिकता से कुच्छित कर दिया है । 'कस्यापी' में भूमि ध्यक्तिगत भी है और सामाजिक भी । दोनों में निष्कल प्रेम की पारदर्भूमि है, "त्यागपत्र" में सील का भाई और "कस्यापी" में प्रीमियर । पति अनुवार है । मुलाग का पति धीला के भाई की बात उसके मुँह से मुन कर उसे हृष्टों से मारता है और घर से निकाल देता है यह वह कर कि वह कुलटा है और कस्यापी के लिए पूर्व प्रेम की बात ही स्वर्भ है यमाकि उनी के धावार पर डा० प्रसरानी ने साक्षा की धनेष बीदार कड़ी की और कस्यापी का प्राप्त किया । डा० प्रसरानी की धनुबाछा की सीमा यही है कि वह कस्यापी के पूर्व प्रेम का भी ध्यधभाव करना चाहता है और पति के नाते उसे इतनी भी छूट नहीं देना चाहता कि वह अपने मुखिन धयम्भों के एक मुनर स्मृति को तो धनकुयिन रहने दे । बीच में है नारी जो भीतर-बाहर की बैङ्गियों से पूरी तरह बरकी है और किचित् मात्र भी बिरोध नहीं कर पाती । बिद्रोह भीतर छूटता है या नहीं छूटता कस्यापी में पूरता है, मुस्लाम में मबाधध्यता को धोड़ कर धान्त रहता है । बास्तर में इन दानों उपन्यासों को एक-दूसरे का पूरक कहा जा सकता है या नारी-जीवन के दो पहलू । विषया एव ही है मुहा भिन्न है । 'त्यागपत्र' की मुलाग धमिक धिन्तित नहीं है धायर स्वतन्त्र रूप से चलने में धसमर्भ भी रहनी । परन्तु कस्यापी सम्भ्राण्ट है मुयिधित है डाक्टर है

इर्नाट में पड़ी है। परन्तु दोनों मूलतः प्राचीन धारणों की शृंखलाओं से बनी हैं धीर पाठिब्रह्म एवं सतीत्व की सूक्ष्मतम परिभाषाओं में ब्रह्म जाती है। मृगाल स्वीकृति लेखक समनी है सब कुछ छोड़ लेती है पनि के प्रत्याचार को भी पति का धारोष मान कर पतन के मार्ग की साधना ग्रहण कर लेती है। यह पतन ही उसके लिए धारम-सुखि है। धारम-वीर्य ही तप है। काया को रण्य देना ही धारम-वर्द्धन है। तप के द्वारा ही वह कर्म बनना चाहती है। तन उसके लिए निर्मूल्य है। उसे वह तो ही दे देती है जैसे कुछ भी नहीं हो। परन्तु पता नहीं पति से कि कित्त सूक्ष्म सूत्र से जीनेत्र ने उसे बाँध रखा है। मृगाल सती है। प्रमोय को घसमनस हो परन्तु नुभी उपप्यासकार की नहीं है। सतीत्व का जो धारणा मृगाल में खिच है वह बायबी है। पतिनिष्ठा में सतीत्व सुरक्षित रखा गया है धीर नर से बाहर जाना भी पति के धारोष का पातन है। पति की इच्छा है कि पतन हो तो यही धारोष धीर-माषे। ये तर्क की बफरबार सीढ़ियाँ हैं जिनमें मलक को गया है। दूसरी धीर गारीत्व है ? जिससे ले उसे बारी नरपूर नमी नहीं दे ? है वह प्रभावित ही धीर सबको अपनी सहानुमृति से खेरा है पारणा से — धीर अपनी धीर से कुछ बदल में न दे सके तो तन ही दे जाने। यह तन जैसे एकतक गुण हो वह जैसे व्यर्थ परार्थ हो।

स्वामयन" धीर "कस्याली" दोनों में परम्परागत सतीत्व धारणा को निरूप बनाया गया है धीर गारीत्व की कस्याणमयता की स्थापना की गई है। इसी गारीत्व के द्वारा मारी की सामाजिकता प्राप्त हो सकती है। यदि सतीत्व उषे लीह शृंखला में बाँध कर व्यक्ति-विदीय से लकड़ देना है तो गारीत्व इस शृंखला का उत्पन्न करता है। उरी के द्वारा मारी की मुक्ति है। गारीत्व के विकास के लिए सतीत्व से स्वसन भी लेखक को सङ्गीय है। मृगाल क्यों पापिष्ठा नहीं है ? क्यों उसके प्रति लेखक की सहानुमृति है ? इसीलिए कि उसमें सङ्घ मारी-धर्म (सेवा करुणा मातृत्व) का सम्पूर्ण विकास वर्धना गया है धीर इस मारी-धर्म के पातन में वह अपनी सामाजिक मर्वा को भी होम देती है। वह नीचे नीचे नीचे उतरती जाती है। धार में वह नहीं पहुँच जाती है नहीं समाज का मरक बीटा है। उरी नरक को वह स्वीकार कर लेती है। प्रमोय जब उसके उबार की बात कहता है तो वह दन नारधीय कीर्तों को छोड़कर फिदी भी स्वर्ग में जाना नहीं चाहती। यह लीकेपसा ही मृगाल का मत है। यह दूसरी बात है कि वह चरित्रनाम है वा धारोपिठ। उसकी महनीयता में कोई सन्देह नहीं है।

मुनाल में पति के प्रति समाज-भरवा के प्रति परम्परा के प्रति कहीं भी बिरोह नहीं है। धारोषकों को यह बात पटती है धीर उन्होंने जीनेत्र को धपरिवर्तनकारी कहा है। इसमें सन्देह नहीं कि मृगाल में समाज की स्वीकृति धीर मायता है धरवीकृति धीर बिरोह नहीं। इसीलिए मृगाल का तप स्निग्ध है धारम है उसमें उताव धीर दीवता नहीं है। उसमें मारी का बिरोह भी प्रबल होता है तो वह धीर भी धारवर्क धीर धारवर्क

बन सकती है। परन्तु जीनेन्द्र नारी जीवन के प्रयोगी हैं और उनके एक प्रयोग के रूप में ही हम मूणाम की क्षमता हैं। "कल्याणी" में विद्रोह भी है। यद्यपि मुक्त न होकर प्रयाप्त और विवेकहीन। वह कल्याणी के सम्प्राप्त व्यक्तिगत और कुलीन संस्कारों के अनुकरण ही है। एक तरह से कल्याण में भाव-संगि है। भावना में वह समातन भारतीय नारी है जो पतिनिष्ठ है और उसे छोड़कर कुछ छोड़ ही नहीं सकती परन्तु बुद्धि में वह नवीना है जो सन्देश करती है और प्रस्त करती है जो स्वतंत्र जीवन जीना चाहती है और नारी के लिए सतीत्व से भी बड़े नारी-धर्म की माँग करती है। धर्म धर्म और प्रेम को लेकर वह स्वतंत्र रूप से चलना चाहती है परन्तु किसी भी क्षण में पुरुष से छुटकारा नहीं मिसना। पुरुष मानी पति। भीतर से वह पति-धर्म की समझ है उसके अस्कार उसके साथ है परन्तु बाहर से वह विद्रोहीणी है। भीतर की वैदियों से जगड़े रहने का धोम उसे अन्त में तोड़ देता है।

इस प्रकार इन दो कथा-प्रकों में लेखक नेबल व्यक्तिगत प्रेम और विवाह के पक्ष को लेकर नहीं थाता इनका सामाजिक पक्ष भी उभारता है। जहाँ विवाह में सर्वनाश है और प्रेम में ही व्यक्तिगत की मुक्ति है ऐसी स्थिति कल्याणी और मूणाम के जीवन में समायी गई है। परन्तु परम्पराबद्ध मूणाम पति से त्रिस्तुत रह कर भी "पत्नीत्व" या "सतीत्व" को धरोहर मान कर चलती है और समाज का दण्ड उसे भरपूर मिसता है। वह समाजबहिभूता है निर्वासिता है, समाज उस स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। उसका स्थान चोरों-उत्सवकों—समाजबहिर्गुतों के साथ है। यह भाग्य की विडम्बना है। परन्तु क्या यही सामाजिक न्याय की विडम्बना नहीं है? समाज की चुनीती को मूणाम स्वीकार नहीं करती। वह समाज के दण्ड को सिर-झाँकों पर झोड़ देती है और अपने पतिव्रत जीवन को ऊपर से हँसती भीतर से रोनी सेवा भाव और कारुण्य में बिलती है। कल्याणी का विद्रोह मुक्त है परन्तु समाज की चुनीती या पति नाम के प्राणी का अत्याचार वह सम्पूर्ण रूप से स्वीकार कर लेती है इसे उसकी आरिजिक दुर्बलता बहो या सांस्कारिक भावना। 'शैव प्रस्त' की कमल की तरह समाज की चुनीती को स्वीकार करने वाली कोई तेजस्वी पानी जीनेन्द्र नहीं गड़ सके है जो भविष्य की सम्भावनाओं की ओर इति करे और पर-बलित मारीत्व को ठेकर दे। इमीलिए इन दोनों प्रकां में उन्हें निराशावादी या निमतिवादी दृष्टन का सहारा सना पड़ा है क्योंकि जहाँ भीतर का तेज कुच्छिन्न है प्राणा की चुनीती नहीं है वहाँ परमात्मा पहल है और अन्त में बही सब कुछ है। इस तरह समस्या सामने रखी गई है परन्तु स्थिति को यथातथ्य स्वीकार निराशा है और उसे ही यथार्थ माना गया है।

संदेह में हम कह सकते हैं कि जीनेन्द्र ने कल्याण नारी भावना प्रदान है। नारी उनके नेत्र में है। यह केन्द्र नेबल आरिजिता का ही नहीं है समरवा और समाधान का भी है। कहने का तात्पर्य यह है कि आधुनिक उपन्यासकारों में जीनेन्द्र नारी-समस्याओं

के उभारने में सर्वप्रथम है। उन्होंने विधवा-विवाह। (परल) प्रेम और विवाह विष्णु के सभी अन्य और 'स्यतीत' में पर और बाहर (सुनीता सुखबा और विवर्त) बायी का कतु त्व स्वातंत्र्य और सतीत्व एवं नाटिक के अन्य (त्वाय-यच और कस्याली) जैसे कृम विषयों को सिखा है जो नाटी-जीवन के मूलमूल प्रश्नों को लेकर छावने घाते हैं। उनके समाधान बायबी हैं। शार्सनिक हैं सम्प्रकृत व्यावहारिक नहीं हैं और हम सबके उनसे सहमत नहीं हो सकते परन्तु इसमें संदिग्ध नहीं कि उनके लिए नाटी राट्ट और समाज का ये-क-एक है और उतकी मुक्ति राट्टी-मुक्ति का प्रतीक है। बायी की सर्वोन्मुखित के बिना इस देश में संस्कारी जीवन के अनुभव की कल्पना करना ही असंभव है। जीनेन्द्र का विचारक नाटी-समाज की इतिवृत्त को समने में सर्वथा सफल नहीं होता परन्तु अट्टो सुनीता सुखाम कस्याली सुखबा मोहिनी और अमिता के रूप में उन्होंने जो कथना विवर्तित नाटी-विरिच विमित किये हैं वे सङ्ग ही हमारे भीतर के प्रसन्नियों को उभ-घाते हैं और हम से पूछते हैं कि हमारे साथ ऐसा क्यों हुआ? क्यों हमारे जीवन को धार्य कता नहीं मिस सही? इन प्रश्न-विष्णु के उभारने में ही जीनेन्द्र की कला की धार्यकता है।

परन्तु प्रश्न उभार कर जीनेन्द्र समाधान की ओर इतिवृत्त नहीं करते। समाधान की ओर इतिवृत्त करना उपवासकार का काम है ही नहीं। वह हवापी सम्भेदना की कक-भ्योर कर यदि उस प्रश्न की ओर हवापी घाटी मान-बादा प्रवाहित कर सकें तो वह बत कार्य है। जीनेन्द्र से हमें नहीं दिखावत हो सकती है कि उन्होंने प्रश्नों की शीघ्रिक तल पर ही उपस्थित किया है और उनमें निवृत्तता ही अधिक है। कुछ अस्पष्टता भी है वह धरने पाशों को मोहमासिक जीवन नहीं दे सके हैं। उनमें आरिचिकता नहीं है, कचारस नहीं है। विस्मयेतना (बर्द्ध-साउटसुक) नहीं है वहाँ धीपस्वाधिक मुमि को विस्तृति देने के लिए धार्शनिकता नहीं है, वहाँ वह एहस्योसुक और पताबनबासी है। वह कर्मस्युता को माने नहीं बहाते। मृत्यु की धर्मकारपूर्वमें पोह में मृशाल कस्याली और सुधरा को पण्डित कर वह क्वाचित् मनुष्य के प्रयत्नों की अछारखा और काल की दुर्बमनीयता का निबपय करना चाहते हैं परन्तु यह मृत्यु की धर्मकार्यता बरि हैं घटे-बैलते संवर्षधील जीवनमय कर्म मय स्वकार्यों के भीतर से घाटी तो उठे हम लखित बही समझते। वे पाष सब कुछ घहन कर सैते हैं परिस्वितियों से मोर्षा सैने की अलित इनमें नहीं है, वे टूटे-टूटे हैं। इनका धात्म-वासी व्यक्तित्व हमारे सामाजिक जीवन का प्रतीक है या हमारे दुर्बमनीय सामाजिक धना-कारका विष्णु है वह कहना अठिन है। इनके कीर्त्त-वर्कर अलेवर में भी बरि जीनेन्द्र की उम्भसनापी मानना अलक बासी है तो इसका कुछ योग जीनेन्द्र की बावकक कला को है और कुछमेव धात्र की उम बापर लोक-दृष्टि की जो बराबर नाटी को केन्द्र में रखकर देखती है।

पुरव-रणी की जीनेन्द्र तल में बाकर केवल मात्र बुध्य-रणी के रूप में देखना चाहते हैं और उन दोनों के धाकर्मन-विकर्षण सम्भन्ध को एक एहस्यमय मङ्गत पोवा-योग मानते हैं। इन योगयोग को ही उन्होंने अपने पाशों में रूढ़ा है। वह कहते हैं, 'नाता

संज्ञामों विशेषणों और विविध सर्वनामों के सहारे जो मनुष्य-जाति अपना काम करताती हुई जा रही है प्रथमतः वह द्विविध है—स्त्री और, पुरुष। कुटुम्ब-परिवार पीछे आते हैं भाते-रिखते नाम-योग मत पक्ष कार्य-सम्प्रदाय सब पीछे आते हैं। (सुनीता) पृ० १४) इस दृष्टि को ध्यान में रख कर जीनेन्द्र ने भी दार्शनिकता में बाँटना चाहा है। पुरुष भावता है स्त्री बाँधती है। पुरुष उद्वेग है स्त्री विनीत और समर्पित है। संकृषित है। परन्तु विनीत और समर्पित होने पर ही स्त्री-पुरुष की विकास के मार्ग पर बढ़ाती है। वह पीछे है पुरुष आगे रहे। पुरुष पीछे की ओर भावना चाहे तो स्त्री सामने आ जाती है। सुनीता हरिप्रसन्न से बड़े पक्ष से यह बात कहती है 'हमसे पार होकर वह (पुरुष) नहीं जा सकेगा। स्त्री यह न सहेगी कि पुरुष उसके आगे मार्ग स्पष्ट न करता जाय। पुरुष इस दायित्व से भागता जाएगा तो पीछे स्त्री में गिरफ्तार होकर फिर उसे आगे बलदा होगा। (वही पृ १) जीनेन्द्र के सभी उपन्यासों में पुरुष-स्त्री सम्बन्धी यह दृष्टि भावना उभरती है। पुरुष के परम पुण्यार्थ पर नारी मुग्ध है। परन्तु यह पुरुषाभिमान नारी को घोट में करने बसना चाहे तो हममें स्त्री की पछाज्य है। इसी से नारी पुरुष के भीतर के नारीत्व को उकसाती है और उस हिंसा के मार्ग से हटाकर भीतर के हृदय से परिचित कराती है। यही 'अर्थ' उसे धारणी बनाता है। यही स्त्री की धारण्यता है और उसकी विजय भी है।

प्रेमबन्ध के साहित्य में नारी ने मातृत्व-गर्भ की विजय है। नारी ने बलिदान की महान् गाथाओं से अपना साहित्य भरा पड़ा है। जहाँ सामाजिक उत्पीड़न की कथा है जैसे 'निर्मला' में वही भी नारी का समाधीन कल्याणपरक व्यक्तित्व हमें धारण्यता करता है। जीनेन्द्र नारी के प्रियसी-गर्भ को लेकर बसते हैं। वह स्त्री-पुरुष को मूल में हमी रूप में देखते हैं। धार्मिक समर्पण और धार्मिक स्वार्थ से ही स्त्री-पुरुष का माता बनता है। इस द्विविधा को ही जीनेन्द्र ने धीरम्यासिक रूप दिया है। दोनों एक-दूसरे पर विजय पाना चाहते हैं किन्तु एक को दूसरे के हाथों पराजय ही चाहना भी है। परस्पर होड़ और परस्पर उत्सर्ग होने की धारणा ही प्रणमी जीवन की विजयना है। इन दोनों विरोधी भावों के बीच में नारी टूट जाती है और पुरुष भी क्या नहीं टूट पाता? सब तो यह है कि नर-नारी की यह मूल द्विध स्थिति बड़ी धारण्यता है और धारण्यता के उपन्यासों में श्रात-भ्रातव बन से हमका बड़ा सुन्दर उपयोग हुआ है। जीनेन्द्र में मनोविज्ञान की उतनी प्रौढ़ पकड़ नहीं है जहाँ उतनी भावुकता भी नहीं है। परन्तु नारी जीवन को लेकर उन्होंने तत्सर्वार्थ धर्मपन दिया है और वह नये जीवन के निर्माण के लिए नये मूल हमें देते हैं। प्रेमबन्ध धारण्यकारी ने परन्तु व्यावहारिकता का पन्ना वह धरत तक पकड़े रहे। जीनेन्द्र भी धारण्यकारी है परन्तु उनके समाधान धर्मव्यवहारिक और दार्शनिक है। फिर भी उनमें कुछ ऐसा है जो हमें प्रभावित करता है और विस्तृत जीवन बनाता है। यही बहुत कुछ है।

जैनेन्द्र और मनोविज्ञान

जैनेन्द्र के प्रामोक्षकों में से एक वर्ग ऐसा है जो उन्हें मनोविज्ञान और मनो-विस्तेषण-शास्त्र की माग्यशास्त्रों द्वारा पकड़ना चाहता है और इन शास्त्रों की स्थापनाओं को उनके पार्श्व और बटनार्यों पर आरोपित कर स्वयं जैनेन्द्र के प्रबोधन का उद्घाटन करना करना सक्षम बनाता है। इसमें सन्देह नहीं कि जैनेन्द्र के उपमाद्यो-कृतियों में ज्ञात-प्रज्ञात रूप से बहुत कुछ ऐसा है जो इन शास्त्रों से पुष्ट होता है या जिसे हम समानांतर विकास के रूप में इन शास्त्रों में देखते हैं। परन्तु मनोविज्ञान के संघर्ष में जैनेन्द्र की रचनाओं पर विचार करते हुए हमें यह देखना है कि वास्तव में साहित्य और मनोविज्ञान का क्या सम्बन्ध है और स्वयं जैनेन्द्र को अपनी साहित्य के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर क्या कहना है।

ऊपर से देखने से ऐसा लगता है कि मनोविज्ञान मनोविस्तेषण और उपम्यास का कोई हिस्सा नहीं होगा। वास्तव में उपम्यास में मानव-मन के घततस्पर्शी स्तरों को ही बराबर जोला गया है और मनोविज्ञान के जन्म से घटात्रियों पहले उपम्यासकार धन वेदन मन और उसके निरोधों की खोज कर चुके थे। स्वयं फ्राइड ने अपनी रचनाओं में इस सत्य को स्वीकार किया है। फ्राइड की महानता इसी में है कि उसने उपम्यासकारों में प्रतिष्ठा पकड़ कर उसे धार्मिक ब्रिद्धि की धीर उसे नियमों से प्रभुघासित कर 'विज्ञान' का शासन बनाया। उन्होंने बुरी रोपी मन का पन्नीर और सूक्ष्म धम्ममन किया बुरी उन्होंने पुण्यन साहित्य के पृष्ठों और साहित्यकारों के मनस्त्व की भी खोज की। फिर भी फलतः मनोविज्ञान धर्मवा मनोविस्तेषण साहित्य के लिए कोई नहीं खोज नहीं। फिर भी यह सत्य है कि फ्राइड का मनोविज्ञान साहित्यकार को स्वस्व और संकली खोज न मान कर उसे विभाजित कुच्छिन धर्ममार्गित और क्लृप्त-मनस् ब्रताता है। और इस प्रकार साहित्य के अपने निजी दृष्टिकोण में और मनोवैज्ञानीय दृष्टिकोण में धर्मतः पढ़ने लपना है। मनोविज्ञान और साहित्यकार के सम्बन्ध में विचार करते हुए एक धार्मिक लेखक ने स्थिति को इस प्रकार धरित किया है 'धार्मिक युग में यह बहुत उदात्तप्रद नहीं है कि मनोविस्तेषण का विज्ञान भी ब्रताकार के लिए सबसे अधिक सामर्थ्य दिखे हो

सकता था उसे विह्वल-मत्ता ठहरोता है। इस विज्ञान में बहुत-सा ऐसा है जो सर्वत्रप्राण कलाकार के अनुकूल पड़ सकता है। और जो उसके लिए शिक्षाप्रद और उत्प्रेरक होगा। निबोनेल ट्रिनिंग ने बताया है कि एक बार फ्राइड ने यह मान लिया था कि कविओं और पार्थिवियों ने ही प्रबोधन का आविष्कार किया है। उसने कहा था मैंने उस वैज्ञानिक पद्धति का पता लगाया जिससे प्रबोधन का अध्ययन हो सकता है। फिर भी निम्न जनक प्रायेण पर भी फ्राइड का कला के प्रति दृष्टिकोण उपेक्षा का है। अपने ही मार्ग से चलकर वह बेकन के तीन शताब्दियों पहले के इस निष्कर्ष तक पहुँचा है कि "कला पर्याय-सृष्टि है वह वास्तविकता नहीं माया है।" कलाकार के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रबोधन को प्वाइसीय विज्ञान की संकीर्णताओं से विमुक्त करके देखे और समझी उपलब्धि से प्राप्त शक्ति को साहित्य की शक्ति बनावे।" (मिटेबर एंड साइंस बी फ्राइबर ईशाम्प पृ० १०१-२) इस प्रकार की विचारधारा हमें राबर्ट जिरेल में मिलती है जिनका कहना है कि "एक सामान्य भाग्य यह जान पड़ती है कि लेखक-मण नहीं जानते कि क्या कर रहे हैं और मनोवैज्ञानिक प्रथा मनोविश्लेषक उनसे अधिक जानते हैं। मनोविश्लेषण एक समीक्षा के विरुद्ध एक लांछना यह है कि उसमें लेखक की लिपिबद्ध विचारधारा की ही परीक्षा की जा सकती है परन्तु उसे सर्वाङ्गी होने के लिए लेखक को मौखिक परीक्षा के लिए भी बुलाना होगा। विरंगठ लेखकों तक हमारी पहुँच असम्भव है और ऐसी भाषा नहीं है कि मौखिक लेखक इस प्रकार की हठवादिना को सहनीय मान लेंगे। फिर यह भी सम्भव है कि लेखक ने अपनी रचना में अपने सारे ही अनुभव-श्रेष्ठ का उपयोग नहीं किया हो। ऐसी स्थिति में यदि मनोविश्लेषक केवल लिखित रचना तक सीमित रहेगा तो उसकी सामग्री धनूर्ण और ध्वस्त रहेगी। (पार० जिरेल ए ट्रोटाइव ग्रॉनर माबिल पृ २६१) यह स्पष्ट है कि मनोविज्ञान की अपनी सीमाएँ हैं और साहित्य मनोविज्ञान पर आधारित होकर अपने को छोटा बनाता है। साहित्य संपूर्ण जीवन और उसकी सारी बुरी भली संभावनाओं का लेटा है। वह मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण शास्त्र के पृष्ठों पर ही समाप्त नहीं हो जाता। जिस लेखक की जीवितानुभूति अतिशय अधिक है उसकी ही जीवन में उसकी संतुष्टि यही है और वह गहरा जाता है। उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह बेंबे-बेंबाये मूर्खों को लेकर बने। बैनेन्द्र के साहित्य में हमें उसका जीवनगत विस्तृत मिलना है और मनोविज्ञान-संबंधी पुस्तकीय ज्ञान भी यद्यपि वह स्पष्ट करते हैं कि पार्थिविक कुछ वर्षों तक वह फ्राइड में परिचित नहीं थे। परन्तु तत्पश्चात् और "कस्याकी" में यह परिचय स्पष्ट है। "कस्याकी" को मनो-विश्लेषण-आत्मक अध्ययन ही बना दिया गया है और मनोविश्लेषण की पद्धति ही लेखक ने ग्रहण की है। इसीलिए यह रचना जीवन के सहज प्रवाह से हीन है। उसमें घाँटें हैं जो घुमती नहीं क्योंकि पुस्तकी जीवन के पास नहीं मनोविज्ञान के पास है या रचना लेखक ने बीच की कड़ियों को टाड़ कर सब कुछ सहज बना दिया है। वास्तव में उपरोक्त से हम "जीवन

घोर लाता है। समझ की बातें सतह की बातें हैं परन्तु यह सब क्यों सोचू ? स्वभावमिमांसा सजता है तो क्यों न ले लूँ।" (वही पृ० ११८-९) यह संपूर्ण प्रवचन एक-द्वैती का ज्ञान पढ़ता है। फाइल को पीछे डाल दिया गया है, परन्तु फाइल का प्रभाव स्पष्ट है। कल्याणी के देवनालीकर वाले 'हेस्पुसिनेशन' प्रसंग में हमें युग की यह विचारधारा भी मिला जाती है जो मनुष्य को राष्ट्रीय अंतर्भेदन या सामूहिक भेदना से दूर मानती है, जिससे विस्फोट का काम होता है। वास्तव में इस प्रसंग में कल्याणी के चरित्र को कुमिल ही किया है। पति के प्रति अपने बिरोह को चरित्रार्थ करने के लिए उसकी अंतर्भेदनी सजा ने हत्याहठ मुझी और उसके हत्यारे पति की कल्पना कर ली है और उसमें पति के प्रति अपने प्रवचन भाष्य; को स्थापित कर लिया है। कल्याणी जैसे प्रतिबंधित प्रतिभाशुक्त चरित्र में यह आरोप उठना अस्वाभाविक नहीं लगता परन्तु आरोप तो आरोप ही है। वह चरित्रिकता वास्तविकता को नहीं छू सकता। कल्याणी के मृत्यु के प्रति आश्चर्य को भी यम की मायताया (डेप इस्टिबट) में रूढ़ा जा सकता है।

कल्याणी के 'हेस्पुसिनेशन' (मनोविभ्रम) के समानान्तर एक प्रसंग हमें हेनरी जेम्स के उपन्यास 'द टन घाट द स्कू' में मिला है। एडमंड विस्मन ने अपनी पुस्तक 'द ट्रिप्लिड मिस्टर' में इस प्रसंग का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। लिटिल में अपनी रचना "ए ड्रीटाइज ऑन द नाविल" के ११८-१४२ पृष्ठों पर इस विवेचना का साराण किया है। स्वयं हेनरी जेम्स के अनुसार इस प्रसंग के बीच उन्हें एक बार्ता से प्राप्त हुए परन्तु क्या में उनकी घोर है जो कूटि हुई है वह या तो उनके अंतर्भेदन से सम्बन्धित की जा सकती है, या किसी साहित्यिक रचना से। आलोचकों में जेन ग्राहर् के एक उपन्यास "अटलांटो" से उसे सम्बन्धित किया है। घट में लिटिल इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि "द टन घाट द स्कू" की मूलमत्ता अंतर्भेदन से सेक्स के अंतर्भेदन से आई है जो स्वयं उनकी जीवनमूल्यता से परिचित नहीं है। इस निष्कर्ष से हमें भयभीत नहीं होना चाहिए हमें यह समझना चाहिए कि सेक्स का अंतर्भेदन मन उस समय अपने अंतर्भेदन पर किस प्रकार विचार प्राप्त कर रहा था। वह एक मूल्य मन्त्री बीज को कला की बीज बना रहा या और इस प्रक्रिया में उसने उस प्रसंग को बड़े जसाह में और अपूर्व साक्षिकता से क्या रूप दिया। यदि अंतर्भेदन मन के कुछ अंतर्भेदन तन्त्र इस मूलमत्ता में गुंथि हो गये हैं, और जन्मिं छन और प्रकाशना के बाजारराल को और भी बहल बना दिया है ता यह इसल उदाहरण है जिससे यह निश्चय होता है कि जब उपन्यास एक सुन्दर इति उपस्थित करता है तो सभी बातुर्ण उस इति की संख्या में सहायक हा जाती है। यदि हम अन्व की प्रतीक-योजना से परिचित हो जाते हैं और उनके अन्व में नहीं पाते तो इससे हमारी उम इति सम्बन्धी रचानुमिति तीव्र ही होती है।" (लिटिल ए ड्रीटाइज ऑन द नाविल पृ० १४४-५)

इसमें संदेह नहीं कि सर्वज्ञात्मक कृतियों में लेखक के चेतन मन की उपलब्धि, उसके अनुभव सम्पन्न धीर अनुभूति के साथ मन की अवचेतन प्रसिद्धियों का भी महत्वपूर्ण योग रहता है जो मन मूल्यों का निर्वाह करता है, परन्तु केवल अवचेतन के ही आधार पर श्रेष्ठ कृतियों की कल्पना असम्भव है। कल्पना के मन-भ्रम में हम लेखक के मन की विह्वलता ईदृशर उसके धार्मिक सम्पन्न की भी कल्पना कर सकते हैं। वही वास्तव धीर सम्पन्न को एक साथ लेकर जाता है वही लेखक की सम्पन्न-कल्पना उसके मन के धार्मिक-विषय से प्रभावित है, या अवचेतनीय सर्वभावों का विस्फोट है यह कहना कुछ कठिन हो जाता है, क्योंकि सर्वभाव ही मन-कल्पना का धीर स्वप्न-सत्य में दोनों विश्वासों में आधार प्रदान होता रहता है। जो हो यह स्पष्ट है कि बैनेन्द्र के शाब्दिक में धार्मिक प्रत्यक्ष है जिसमें उन्होंने धीरज्ञात्मिक सुखों (अज्ञानों धीर चरित्रों के कारण कार्य श्रद्धालुत्व विकार) को छोड़कर विमुक्त मनोवैज्ञानिक का मनोविश्लेषणीय मूल उभारे हैं धार्मिक अनुभव भाव-विस्फोटों को रक्त दिया है। मनुष्य के भीतर के दुर्घटित सतत आन्वेषित धीरसुखी एवं धार्मिक भावविकल्प को उन्होंने धार्मिक समर्थ लेखनी के माध्यम धीर स्वाकारण की निर्वाह मायताओं से बाहर बाहर, पक्कना पाया है। दुर्घटित ही वही लक्ष्य है वही यह कैसे कहा जा सकता है कि यह एकदम अचानक हो गये हैं। उन्होंने बुद्धिबल सामाजिक मनुष्य न देखकर धार्मिक में समाविष्ट व्यक्ति पर मनुष्य हमें दिया है जो स्वयं उनके अवचेतनीय मनुष्य-जातीय की प्रतिष्ठाया है।

“धार्मिक” धीर “धार्मिक” में बैनेन्द्र बहुत कुछ परम्परागत उपस्थाप ही हमें देते हैं। जिनमें धार्मिकता की गई कला चाहे हमें मिले परन्तु धार्मिकता धार्मिक बंध की है यानी धार्मिक के धार्मिक धार्मिक नहीं है, उनके कार्य-स्वाकारण कार्य-कारण श्रद्धालु पर चलते हैं धीर के कोई भी ऐसी धार्मिकता बन्त नहीं करते जो धार्मिक हो मनोनिष्ठ न हो या धार्मिकता हो। उनमें चेतन मन का (चाहे वह फिर धार्मिक-स्वाकारण से ही उत्पन्न क्यों न हो) विकास है। कष्टों की विहाय में क्या बीजा कि वह बतते इतनी बड़ी मीन का छोटी कि वह धार्मिकता रह कर धार्मिक-मन” में उभरते बंध धार्मिक यह हम नहीं जानते परन्तु इस एक मूल को छोड़ दें जो धार्मिक है ता कष्टों का धर्म कुछ निश्चय धृता धार्मिक है।

“धार्मिक” में हम पहली बार बैनेन्द्र के मनोवैज्ञानिक प्रयोगों को देखते हैं। जो उभरता है धार्मिक धार्मिक प्रयोगों में उभरने का प्रयत्न उभरता नहीं हो परन्तु धार्मिक धार्मिक की धार्मिकता धीर धार्मिकता के प्रति उनके धार्मिकता में कुछ धार्मिक एवं धार्मिक धार्मिक है जो धार्मिकता की धीर धार्मिकता है, या जो “केव-निष्ठता” मन जाता है। धार्मिकता धार्मिक में धार्मिकता को धूर करने की धार्मिकता (धीर धार्मिकता को धार्मिकता) स्पष्ट ही धार्मिकता धार्मिकता है जो धार्मिकता की धार्मिकता धार्मिकता की धार्मिकता धार्मिकता धार्मिकता है। धार्मिकता के धार्मिकता में धार्मिकता धार्मिकता की धार्मिकता धार्मिकता धार्मिकता है,

वहाँ प्रबोधन मन हृदिप्रमत्त की धीर धार ही सिद्ध आता है। सुनीता को निराकरण करके उसे धन्त में लेकड़ ले बसा दिया है परन्तु यह निराकरण मनोवैज्ञानिक नहीं बाप निक ही प्रथिक है परन्तु पुस्तक के धन्त में सुनीता को पति के प्रेम की सम्पूर्ण उरसिब हुई है धीर निराकरण हन्त मया है। यह स्पष्ट है कि सुनीता में जीनेन्द्र मुक्त मनावैज्ञानिक स्थिति को लेकर नहीं बने है वह रबीन्द्र क साथ है धीर अपनी सुन्दरुम् मी उनमें है। मध्यवर्तीय जीवन के चित्रण में वह पूर्णतय सफल है धीर एक प्रकार से प्रबुद्ध रहते पर मी मामलता धीर धीयन्यासिबता इस रचना में सब ही रचनाओं से अधिक है। इसमें हमें एक नई मुख्य संवेदना (मेन्सिबिलिटी) मिलती है जो प्रेमचन्द क उपन्यासों में नहीं है धीर बाद की भी कम रचनाओं में है। मन के निरोध संश्लेष धीर प्रकार का बड़ा व्यापक बिब हमें यहाँ मिल आता है। सर्वदली नबक के दृष्टिकोण की मरुत लेकड़ धरने पात्रों क धन्तप्रमत्त में सफलतापूर्वक उतर मका है।

परन्तु "रयापत्र" धीर उसके बाद "कस्याण" में मनोविज्ञान जीवन पर धारारिब न होकर स्वतंत्र हो गया है जो बटनाओं धीर पात्रों को प्रसंगत धनक्य धीर प्रबुद्ध बना देता है। रयापत्र की मृपाल को मरुत ले धारण क हिमधिबकर पर पहुँचा दिया है धीर निरन्तर पठन में ही उनके "व्यस्तित्व" के नाप का नापा लीबा है। धन्त का सर्वनाम ही तो मुक्ति है परन्तु मृगाल का समस्त जीवन धरने प्रति पलायन का जीवन है धीर उसके मानसिक स्वास्थ्य पर हमें सन्देह हो सकता है। प्रमोद क साथ उसका सम्बन्ध तो मनोविज्ञान की दृष्टि से विचारणीय है ही उनक मार का कर प्रमत्त होने में भी धारमपीडन की मनावैज्ञानिक प्रवृत्ति ही है जो बमित नाम का ही प्रसार है। "रयापत्र" में प्रमोद के मन में जिस हीनता का विस्फोट दिखलाया गया है वह क्या केवल नैतिक है क्या उसमें बुधा के प्रति प्रकटम्न एव सर्वैब रतिमाध तो नहीं है "कस्याणी" में विद्वान्त धीर मनोवैज्ञानिकता हो ऊार है कबा बलु चरिब सब उसक सहादे चलते है। सबम बड़ा प्रवर्तबिहू कल्याणी ही है। कई दृष्टिकोणों की कस्याणी के चरिब पर केन्द्रित करके मी लेकड़ उसे मुरभ्य नहीं सका है। यहाँ भी मृगाल की तरह मारी में धारमपीडन को लिप्या कल्पित है। पति की धार के धारा हुआ सब क धारार कस्याणी को सका है। सेवा धर्म डाकरी बानबिनोद सब में वह धरने को मुलाना चाहती है परन्तु धन्त में ये सब उसे बसा नहीं पाते। इस उपन्यास में देवनालीकर के प्रथम में जा कस्याणी का मन-प्रव धारा है उसे क्या इस बाल्यबिक्रता मारें कि धर लक्षमुब प्रेन-कन्त ह्यारा है या इस कस्याणी के पनि स बरमा लेने की भावना का क्रांतिर समर्थे। पनि उमम बिबन हो सकता है ह्यदा का ब ना लेने की धार इस बमित धारारता के मुलाने के लिए जो बड़ मानम् का प्रकम्ब (प्रोबकान) माध हो या स्वयं प्रेन-कनी में उनने धरने व्यस्तित्व को धारारिब कर दिया है। धीर देवनालीकर का पुबक प्रतीक क रूप में दिया हो। ऐसी स्थिति मनोवैज्ञानिक धरने हुए भी धीरधामिक नहीं बही जा सकता। कम यह

हुमा है कि "कस्वाली" बाठकों और समीक्षकों को आश्चर्य नहीं कर सही है और वह रहस्यमयी बन गई है। क्यों वह रहस्यमयी बन गई है? इसलिए कि उसमें हमें विकृत मनोस्मिति से पासा पकड़ा है और सम्भवतः वह स्मिति विकृत वा दमित काम की उपज है, या पति के प्रति ईर्ष्यामय है। परन्तु इस प्रकार की रचनाओं में हम लेखक की दुर्बलता ही नहीं उसकी सबलता भी देख सकते हैं। फिर भी कस्वाली का यह उमाार धरैत्र हृदयिक नहीं है। उससे उबकी मनोस्मिति पर प्रच्छन्न प्रकाश पकड़ा है। इसका मूल प्रबन्ध में है यह स्पष्ट है, क्योंकि इन्हीं दिनों यह स्वस्थ और लठकें यह कर घरने अंतिम काटी जिस पात्र की रखा करणी है और पुनित के प्रबन्धों का विफल बनाती है। "कस्वाली" के चरित्र का सम्बन्धन इतीसिए है कि लेखक अपनी धोर से कुछ देना नहीं चाहता केवल सम्भावनाओं को उमाारता है और जीवन को प्रत्यक्ष और अनिश्चित बना कर चलता है।

परबर्ती सीनों उपम्याओं में जीनेन्द्र 'कस्वाली' की तरह प्रबन्ध नहीं है। 'व्यापक' या 'कस्वाली' में मनोभौतिक सूत्रों का जैसा व्यापक आचार है वैसा इनमें नहीं है। इसी से वे रचनाएँ न उतनी रहस्यमयी हैं न प्रबन्ध। कम-से-कम "सुखदा" और "विवर्त" को हम "बरे-बाहरे" और "बदुर्द" की भूमि पर रख कर देख सकते हैं और पति-मारी के अधिकारों एवं हिंसा घृष्टि के प्रसंगों के समाधान के कारण मूल और प्रकल्पित विस्तार मन प्रकृष्टि से बड़ा या लिंगा है। विचलित भावविच्छेद जीनेन्द्र के पात्रों का प्रमुख धर्य है जिसके द्वारा वे हमें प्रकल्पित कर देते हैं परन्तु इनके मूल में उनकी आत्म-बोधन है वा प्रेम-धर्य का कुंठमात्र है। इस मनोभौतिक भूमि पर ऊँचे सब कला कल्पित है। जो हो यह मनोविज्ञान पुस्तक से नहीं परिकल्पित होने पर भी जीवन से आया है। इसी से वे रचनाएँ हमें आश्चर्य करती हैं। इनमें जीनेन्द्र एक बार फिर उपम्या के रूपमें उपकरणों (कला-वस्तु चरित्र-विचल) की धोर लीते हैं और अनिश्चितता नहीं और सूत्रम होने पर भी हमें एकदम निरस्त नहीं कर देती।

परन्तु "अप्यतीत" में लारी की दुष्प्र-प्रिया बनने की दुर्बलगीय आकांक्षा की उमाार बना है और उबका आ-नाका घाटेक रूप सामने आया है। अन्तिम पृष्ठों में अन्तिम का आचलितधोर और अचल का उसके प्रति प्रकाश-आर्य आर-विचल का आह को रूप हो परन्तु उसकी स्मिति भी सुलीठा की निरुत्तरता से कम निरंकुश नहीं है। कला की दृष्टि से इस रचना में जीनेन्द्र का मूलम बलत्त्व और विचलित समम पृष्टम्य है परन्तु विचलित आदिता वा प्रति आर्यवाक के कारण अन्ती जीते सुते चरित्र भी रहस्यमय हो पये हैं। जीनेन्द्र मूलतः आर्यवाकरी और नैतिक लेखक है। यथार्थ और अनीतिकता का अल्प सेव्य कारण कर ऊँहने आधुनिक बनने का प्रयत्न किया है। उनकी प्रति-आधुनिक अनिश्चितता के कारण यह भ्रम धोर भी कुछ ही आया है परन्तु लल में देखने से इस सम्बन्ध में अन्तिम होने की कोई भी सम्भावना नहीं। परबर्ती रचनाओं में वह मनोविज्ञान की परिचर्य में

रखकर बसे हैं। यह उनकी रचनाओं के साहित्य-रस के लिए प्रच्छा ही हुआ है। पन्थासकार का उपबीज्य जीवन का इन्द्रबनुपी वैविध्य है, मनोविज्ञान धीर मनोविस्लेषण-के दास्यों की खोजें नहीं। यही स्वस्थ विद्या है। सम्भवतः जैनेन्द्र ने इस सत्य को यत्र समझ लिया है।

जैनेन्द्र की रचनाओं को देखने की एक दृष्टि यह भी हो सकती है कि हम उनके भाषों धीर योजित घटनाओं में उन्हें देखने की चेष्टा करें। स्वयं जैनेन्द्र ने कुछ इस धोर दिगित किया है,—कि "परल की कट्टो कोई है, सत्य यह स्वयं है धोर बिहारी उनका सपना सम्भाव्य रूप है। क्या "मुनीता, कस्याणी" धीर अन्य रचनाओं के सम्भव में ही ऐसा कहा जा सकेगा? हरिप्रसन्न साल धीर जितेन भी क्या सम्भाव्य जैनेन्द्र नहीं है? क्योंकि जैसा जैनेन्द्र के कुछ लेखों से स्पष्ट है वह अपने चान्तिकारी मित्रों के प्रति धारणित रखे हैं धीर चान्तिकारी जीवन के प्रति उनकी विन्युष्टा है — जिसका प्रथम विस्फोट "फोसी" है। यह सम्भाव्य रूप हिसक होने के कारण विकृत हुआ है धीर यहिसक जैन दर्शन (वास्तविक जैनेन्द्र) की जय हुई है। "त्यागपत्र" में क्या भतीज प्रमाद के रूप में जैनेन्द्र अपनी किसी वास्तव-स्मृति को उभार रहे हैं एक विषय का मुझा का उरससत उन्होंने किया है। "कस्याणी" में यह तटस्थ बट्टा है धामय बकील बरना है कहानी बाहर की है। "अपतीत" में यह कहाँ है यह कहना कठिन है। क्या जगत के रूप में उनका कोई विन्युष्ट मस्करण है या कथा के कट्ट में किसी मित्र को रखकर जैनेन्द्र जगत के जीवन की धनुसलक्ष्मि-भाव में स्वयं है? यह कहना सम्भव नहीं है कि जैनेन्द्र के उपन्यासों में "धाय-बीती" कितनी है धीर "जग-बीती" कितनी है। सम्भवतः दोनों हैं पर धाय-बीती थोड़ी है या अपने पर बीत सकनी भी उसकी कस्या धारिक है — धीर जग-बीती भी बहुत है। कमी यह जग-बीती स्वतन्त्र रूप से धार है, कमी लेखक ने स्वयं उठे घ गने पर पठित कर लिया है। सम्भव है कुछ प्रसंग धीर पात्र पश्ये हों या वे उनके लिए धाय लेखकों के खरणी हों क्योंकि लेखक की धायत चेतना जग-बीती धीर पद्यमी सामर्थ्य को भी धायना बना सकती है। परन्तु इतने गहर जाना सम्भव नहीं है धीर इतने कुछ हाथ धाता नहीं बीजता।

यह कहा क्या है कि जैनेन्द्र में काम-कुच्छ है या धायतरति है परन्तु जैनेन्द्र यहि कहते हैं कि उन्होंने प्रतिरिक्त काम को रचनाओं में उभार कर स्वास्थ्य-भाव किया है तो उन्हें बोपी कैसे माना जा सकता है? मुनीता की निरपहरणता धीर धनिया की निर्मंगलता में क्या लेखक भाव-वृत्ति पा रहा है? यह प्रकाश्य रूप से कहना कठिन है। काम कहाँ नहीं है? मर्ती में तो है। कामोत्पन्न भी हो सकता है धीर कामावसित भी। हमें देखना है कि धाय में लेखक ने काम से क्या साधा है — बिट्ठिन ही न? फिर उस पर काम को धायय देने की माँघा कैसे लघाई जा सकती है? पात्रों में काम-कुच्छ है तो क्या उठे धनिधर्म का से समय में ईशना ठीक होया? सम्भव है "काम" की विकलता

लिए ही वह हो। प्रत्येक व्यक्तिगत भूमि पर इन प्रश्नों को उठाया जाय का बर्णना पर है। यह धारणा है कि केवल अपने अनुभवों धार्मिकताओं और मन की प्रतिबन्धित धारणा रचनाओं में रूब देता है रूब क्या होगा ये स्वयं ही सम्बन्धित रूप से भा जाते हैं परन्तु यह भी सम्भव है कि केवल की जीवनानुभूति का एक बड़ा भाग बाहर रह गया हो प्रकृत उत्तम पुस्तकों की अनुभूतियों का महाराज लिया हो। प्रायः पात्र की आर्थिक दुर्बलता के लिए उसे धरणी नहीं उठाराया जा सकता।

२

वैनेन्द्र के अपने जीवन के कुछ उत्तम उनके मनोविज्ञान को समझने के लिए महत्वपूर्ण है। उन्होंने अपने जीवन-विकास की चर्चा करते हुए ज्ञान-समाप्त रूप से कई मूल छोड़े हैं और उन्हें हम उनके साहित्य से सम्बन्धित कर सकते हैं।

वैनेन्द्र के व्यक्तित्व पर जिन दो सम्बन्धियों की धर्मिता छाया दिखाई पड़ती है वे उनकी माँ और मामा महत्त्वाभावधानी है। पिता के देहाण्ट के समय वह प्रयोग के कथावित् को बर्ण के थे। कमलरूप माँ ही उन्होंने बचपन धारणा रूबा है और अपनी धोर से वि सहायता का अनुभव किया है। एक प्रकार का प्रतिक्रम निरुपवी माँ के मित्रित भाव उनकी जीवनानुभूति में मिलता है जिसका मूल मतार्थज्ञानिक कारण बचपन की इसी निराश्रयता में रूबा जा सकता है। माँ में उन्होंने कर्ममता और छाह्य का ज्ञान बोधक देखा, परन्तु बड़े होने पर समाज की उनके प्रति लाक्षा और पुस्तकों के विरोध से उनका नाट्य-सम्बन्धी दुष्टिकोष बुझ गया। 'स्थापन' और 'कम्पाजी' में मृच्छा और कल्याणी के रूप में वैनेन्द्र ने अपनी माता की आर्थिकता ही उपायी है। वे नाट्यी समाज की ताता को प्रोद्धार की कर्तव्य-मय से विचलित नहीं होती और अपने स्वतन्त्र जीवन के अधिकार की रक्षा के लिए बचपन चुनौती की उत्तमरानी रहती है। वैनेन्द्र की माता की बुद्धता भी इन तारिकों को निभी है। अपनी माता के सम्बन्ध में 'माता जी' शीर्षक लेख में वैनेन्द्र ने जो कहा है उसे हम इन नाट्य-मात्रियों पर भी लागू कर सकते हैं। वह कहते हैं "उनके प्रति विस्मय और यथा बढ़ती ही गई है जो दूसरी धोर गहरा प्रभाव भी मेरे मन में बैठ गया है। अन्त के प्रति जोर जोर का-का जो भाव भीतर समा गया है मुझे हमेशा बलता रहता है। माता जो वैनेन्द्र-समाज की उत्पत्ता की धोर उत्पत्ती की छात्री से जानता है कि जीवन के धर्म में पञ्चीस बर्ष उनके उत्तम समाज की सेवा और चिन्ता में बीते। इस लक्षण में उन्होंने अपने को दया या धमा नहीं दी। लेकिन उनको जो पुरस्कार मिला मेरी भाँवों के समान है। मन्त्र में घर में सुनी उड़क पर उनका धनमान हुआ। वह मरी तो समाज की अनुभूति उन पर थी। इस पर कभी तो जोर नास्तिकता मेरे मन पर छा जाती है। फिर सोचता है कि धारण केव-जने की नहीं पटीजा है। जो हो एक बहुरा धाक तथा ही मन को उसे रहता है जो वैनेन्द्र-समाज से मुझे अपनीत और उसकी सेवा से कुछ दूर बनाये रहता है। जीवन की इस गम्भीर महत्ता

पंजा को लेकर मुझे बीना बड़ रहा है।" (वे और वे पृ० १४२) "त्यापयत्र" में प्रयोज के मत में जो व्ययंता उभाए गई है (जो त्यापयत्र के मूल में है) उसे भी शैलेन्द्र में ही बुझा जा सकता है। यद्यपि यही प्रथम भाषा ही है। उनके माते मेरे पास तो प्रायश्चित्त ही दीप बचता है कि जीते-जी उन्हें कुछ तो देता रहा। मरने के बाद ऐसा तो बतू कि तबिक उन्हें सुख हो। पर हाथ प्राणी कितना घबरा है और अपने ही बर्तों के बंध से कितना बड़िना है कि मन के भीतर भी जो बाह्यता है वह बनी नहीं हो जाती। इस दिव्य यत्ना पर जानना है कि मुझे क्या कर बेगी जैसे कि सदा ही कर्मी रही है। पर मेरा बलता मुझसे बंदे छूटे।" (पृ० १४२)

मा की रोगग्रस्ता का उन्हींने कुछ वैशाचिनों में भी उल्लेख दिया है और अपने प्राग्नििक लेखक-जीवन की अल्प-व्ययता की एक घड़ी इमें भी है। विशेष और लाइका के कृतान में जो बूझ रही उनी मानुसृष्टि में शैलेन्द्र की मारियों को अपने व्यक्ति के प्रति संवेतन और आपत्क बना दिया है। "कल्याणी" का सारा संवर्ष ही अपने व्यक्ति-विश्राम को लेकर है और मृगाल भी पनि से अलग होकर अमात्रनिष्ठा में बाधत रहकर अपने भीतर को पाना चाहती है। समाज हम व्यक्ति-विश्राम में बाधक है तो वह समाज की अक्षयता बर देती है। लाइका के भीतर से उसके वैश्वी चरित्र को लेखक ने उभाए है। प्रेम-वहामियों में (मुनदा मुनीता और विवर्त में) यह व्यक्ति-विश्राम प्रेम-व्यवस्था की पुकार बन जाता है और पनि-गनी के अतिकारों में प्रिय घाता है। विशाह से बरा बाटी के अतिव्यक्त का नाम ही हो जाता है। प्रेम की भूमि पर यह समस्त शैलेन्द्र को "बरे-बाहरे" में निनी और इन उन्हींने अपने उपस्थानों में बरे-नये बुर लेकर विवर्तित किया। शैलेन्द्र की सभी पाशियों प्रियमीत्व और अत्यंत के अत्यंत पक्षों को लेकर बसती है। प्रियमीत्व नागी की हार है, अत्यंत जीत। इससे यह स्पष्ट है कि शैलेन्द्र की नागी की बहाना बलिदान त्याग और सेवा को लेकर विवर्तित हुई है। इसमें बसती मात्रा ही की प्रतिष्ठाया है। यह धारणें नागे व्यक्तिगत जीवन की भूमि पर अमरतन होते हुए भी समाज के नामने अपनी त्याग और लग्न्या की एक प्रकाश-नेवा शीघ्र जाती है। यह नागी बहाना-भूमि है और इसमें वह अक्षयता बर बाधत है जिसे युग ने "प्रोयोग्य अकट्टर योग्य कुमेन" कहा है। इसीलिए उमकी प्रेरणाओं को सामाज्य मनोविज्ञान के अंतर्गत बर समझना अत्यंत है। "मुनीता" "अनदा" और विवर्त में शैलेन्द्र ने नागी के योग-प्रदान प्रियमी कप को हुगाया है और उसके पीछर की बलिदानमयी और सेवाश्री नागी हो जीनी है। युग ने स्पष्ट का से कहा है कि पुरर का बाटी का प्रायश्चित्त और सब से महत्वपूर्ण अनुभव उमकी मात्रा के माध्यम से प्राप्त होना है और उसके नागी अक्षय्यी रूप के निर्माण में अमरता योग सबसे अतिरिक्तपूर्ण है। कुछ पुरर उमकी मोहक धर्म से जीवन बर मुक्ति नहीं पा सकते। मा का व्यवहार कैसा है, यह बातक के लिए महत्वपूर्ण नहीं है। बातक उसके बार्द-व्यापार के अत्यंत

में कित्त प्रकार माबिठ होता है, यही महत्वपूर्ण है। वैनेन्द्र के उपन्यासों में उनकी माता का यही माबिठ रूप सुरक्षित है।

दुखरात व्यक्तिगत मामा का है, जिनके सम्बन्ध में "महात्मा भक्तवत्सल" धीरे-धीरे निबन्ध में उन्होंने लिखा है। उ-सात वर्ष की धातु वैनेन्द्र की भी उन मामा बिरक्त हो गये और बाद में उन्होंने इतिहासपुर में बालकों के लिए एक वैम-धायक बोसा। वैनेन्द्र इस धायक में कई वर्षों तक रहे। बाद में वह माता के संरक्षण में जा गये जिन्होंने दिल्ली में एक, वैम-महात्मायक की स्थापना कर ली थी। परन्तु हाई स्कूल तक उनकी शिक्षा-दीक्षा बिजमोर में हुई। मामा धातु ही नहीं हैं बल्कि रचनाएँ भी प्रकाशित हो चुकी हैं। ये प्रमुख निबन्धों और कहानियों के रूप में हैं। वैनेन्द्र की रचनाओं पर उनकी बीबी की स्पष्ट छाप है। मूलतः चिन्तन और ब्यक्तित्व और ब्यक्त व्यक्तियों में धातु कहने की प्रकृति वहाँ जैनायकों के धर्मग्रन्थ का प्रभाव सुबिठ करती है वहाँ महात्मा भक्तवत्सल की साहित्यिक व्यक्तित्व की छाप भी बतानी है। धायक-बीबी की यह स्वामाबिठता छेड़पन और प्रभावलेपाबिठा दोनों में है। इस प्रकार वैनेन्द्र के व्यक्तित्व पर मातृपन का प्रभाव प्रभाव है जो बाद में धार्मिक शिक्षा और वैम-धायक की महती में प्रकट हुआ है। परन्तु इस प्रभाव को वैनेन्द्र अपने कथा-साहित्य और निबन्धों के द्वारा ब्यक्त स्वयं भी दे सके हैं।

वैनेन्द्र की रचनाओं में बटनाओं और चरित्रों का जो संकोच दिखाई देता है पक्षका मुख उनका लकोपी चरित्र है। साहित्य में यह संकोच धर्मप्यता और रहस्य की कृष्टि करता है। "वैनेन्द्रकुमार की बीबी" धीरे-धीरे अपने काल्पनिक धर्मप्यता में उन्होंने अपने संबंध में लिखा है "मिथने मुझने और दुनिया में राह बनाने की उनमें लिखाकृत न थी। वह बीबी जिन्हकी न थी किछका धरर और रीक पकठा है। ऐसे धारणी के पाठ कुछ धरने धरर बना हो धायक करते हैं पर धरनों में धन नहीं होता और धरमिधत के धारे ने धूमकर हो रहते हैं।" यह स्पष्ट है कि वैनेन्द्र के साहित्य में उनका लकोच धन ही है, कि वह धन ही लकने थे। धरनों को ही वह धनार्थ बनाने का प्रयत्न करते हैं परन्तु स्व निजता छोड़े नहीं सूटती।

स्वयं उनका व्यक्तित्व उनकी रचनाओं में कहीं है, यह कहना कठिन है। उन युक्त निबन्धों में वह स्वयं लिखते हैं "वैनेन्द्र की जिन्हकी में बने उठार पड़ाव नहीं धारने। यह कुछ बीबीजिन्हकी यही निबन्धमें लहरे लठी तो बाहरी हवा के बनेने पर, नहीं तो जिसकी लहरे पाहिण सोरें बड़ी यही। न धरने राक की बात उसमें दिखाई देती है। जिन्हकी वह धायकी धारणी की है और उसमें रोमाणी रक की रीक नहीं है। परन्तु वैनेन्द्र "धाय बीबी" को भी लेकर लकते हैं और "धाय बीबी" को लेकर थी। अपने साहित्य की धीनाओं को उन्होंने यों बतलाया है "इस लव साहित्य में धारणी के धन के धरों को धायक पमा है और धरमनों को धोरने की कोधिण है। व्यक्त को धरिधि मानकर धायक धारने

धीर बूझिये हैं, पर इस तरह अस्मत्त सवालों का हल मिलेगा ऐसा नहीं मान्य होता । सवाल एक के मन का नहीं सारे समाज के निजाम का है । दिक्कतें घबराती हैं धीर जैनेन्द्र का साहित्य क्याही है । पहले मैं वह उलझाता धीर इन्हीं से किसी ऊपर धक्का समता है । भावनाओं को कुछ उभार भी वह देता है पर क्या वह बल धीर प्रकाश भी देता है ? (वे धीर से पू० १२६) उपन्यासों में इत्यादी कैंडिक्टर धीर बिस्म के उत्तरोत्तर कम होने की बात भी उन्होंने कही है । कथाविद् नहीं उपन्यास-कसा की धीर उमका इतिवृत्त है । परन्तु जगज के प्रति जैनेन्द्र की दृष्टि बस्तुगत न होकर ध्यात्मगत है जो उन्हें दूर तक घटकाती है । जैनेन्द्र ने स्वयं अपने इस दृष्टिकोण को ही कथा के रूप में कहा है एक दिन मैं कहा जैनेन्द्र हमारी दुनिया के पीछे-जापते सवालों को लेकर अपनी कल्पना बनाओ । ' जैनेन्द्र ने कहा — "मे लेकत नहीं है । इस लाकत नहीं है कि तुम्हारी कुछ भाग उठा सकूँ ।" कहा गया— "तुमसे उम्मीरें हैं माई । समाज के लिए उपयोगी हो कुछ ऐसा लिखो ।" उसने कहा— ' समाज ! मैं उसको नहीं जानता हूँ ।"

यह है जैनेन्द्र की मन-सम्पत्ति । उनके साहित्य में 'जग-बीती' मान-बीती बन कर घाई है धीर धीपन्यासिक क्षेत्र में उसने गारी क अस्तित्व की स्वाधीनता का रूप ले-लिया है । मन के भेदों को उन्होंने सोलना चाहा है धीर मनुष्य किसी दूसरे के मन को क्या जानता है ? जानता है अपने मन को । इसी से यह कहा जासकता है कि जैनेन्द्र ने अपने साहित्य में अपना ही मन जोला है । धीर, जैला उन्होंने एक बगइ कहा भी है इस प्रक्रिया में उन्होंने स्वास्म्य-नाम किया है । साहस्यबादी ध्यात्मविद्वा की जेतन दृष्टि के नीचे मन की घटल गहराइयों के बनाव को प्रबोधन से बार-बार उभारा गया है । इस प्रक्रिया में कभी-कभी कुछ गड़ित भी घा गया है परन्तु वह परतर्क धीर घबूम भी है । इसमें गदेह नहीं कि जैनेन्द्र बस्तुबयस् को कलाना धीर भावना से परकना चाहते हैं धीर कबल बुद्धि को अपना आधार न बनाकर मन की प्रबोधन धीर प्रबोधन प्रक्रियाओं की प्रधानता देते हैं । प्रारम्भिक कहानियों की सर्वत्र प्रक्रिया का जो उल्लेख उन्होंने किया है उससे यह स्पष्ट है कि उनके साहित्य में ध्यात्मानुभव प्रबोधन धीर प्रबोधन मन की प्रक्रिया मिल कर उकारण हो गई है । इसी से केवल बुद्धि धीर तक से न उनके उपन्यासों को बनावों की व्याख्या हो सकती है न पात्रों के चरित्रों की । उनमें मनोवैज्ञानिक मूर्तों के पीछे भावना का कलाना धीर सैपक के साहस्य-रत्न का भी समावेश है । जतनी रचनाओं में जग-बीती ध्या-बीती बन कर घाई है धीर ध्या-बीती जग-बीती बन गई है । ध्यान यह दृष्टिकोण नदि का दृष्टिकोण है सततत उपन्यासधार का नहीं । इसी से जैनेन्द्र मन की भूमि को अपनाते हुए भी सृष्टम मन से कवि है । उन्होंने कथा धीर चरित्र में अपने ध्यात्मिक के घबूम तलों का भी मिला लिया है जिससे यह रहस्यमय हो उठ है । मन धीर एतर्क न प्रति किन्तु धार विचार पर धीर बाहर प्रबोधन विचारिता मारी के व्यक्तित्व-विचार का प्रत्यक्ष हिना धीर साहित्य का समाधान ध्यात्मरान धीर ध्यात्मसंकोच का इन्द्र में उनके उपन्यासों की

मूल स्थितिमें है और इनका मूल स्वयं उनके व्यक्तित्व में (चरित्र में तो नहीं क्योंकि चरित्र में तो जैनग्र विश्वास ही नहीं करते) खोजा जा सकता है। संभाव्य प्राकृतिक अन्तर्निरोध अन्तः स्व और बाह्यनिक ऊर्जावीह पर आधारित जैनग्र का उपन्यास-साहित्य अत्यन्त ही पर भी उर्क-वितर्क का विषय बन गया है। 'ऐन एपापटेन भुंजीवा' वाली सृष्टि को जम्हूँने एबीग्र की रचनाओं की भूमिका पर ही बहल किया है और आत्मदान में ही आत्मा की उपलब्धि का संदेश हमें दिया है। ठगका साहित्य उनकी आत्म-साधना का ही एक पक्ष है और इती रूप में उसे स्वीकार करके उसके साथ म्याय किया जा सकेगा।

नया उपन्यास और जैनेन्द्र

हिन्दी में नये उपन्यास का प्रारम्भ बीनेन्द्र के "परख" उपन्यास से माना जा सकता है जिसका प्रकाशन १९२६ में हुआ। परन्तु इस उपन्यास में जो खलीपत और रूपवत विशेषताएँ थीं उनका जन्म यूरोप में बहुत पहले ही हुआ था। इंग्लैंड में नई प्रवृत्तियों का जन्म १९१० के लगभग हुआ परन्तु प्रवृत्तियों को स्थाविरत्व तीसरे दशक के प्रारम्भ में प्राप्त हुआ। फादरस्टर की रचना "बेनेजेड टु इण्डिया" (१९२४) में हमें नई कोटि की एक प्रत्यक्ष प्रभावशाली धार्मिक रचना के दर्शन होते हैं और बाद के बीस वर्षों में यह रचना अनेकी उपन्यास-कथा को बराबर प्रभावित करती रही है। इन नई प्रवृत्तियों का उदय अर्ध शताब्दी के उपन्यासों में प्रस्तुत प्रवृत्तियों और प्रयोगों से हुआ और आन्तर में उपन्यास समीक्षकों की परम्परा से विच्छिन्न हो गया। अमरीका के उपन्यासकारों के कुछ नवीन प्रयोगों में भी नई कथा के संयोजन में सहायता पहुँची है। जो हो वह आश्चर्य की बात है कि हिन्दी उपन्यास में "परीक्षा-पुत्र" से "परख" तक १० वर्षों में ही पश्चिमी उपन्यास के विकास की तीन शताब्दियाँ पार करनी और नये उपन्यास का उदय इंग्लैंड की इस खेती की रचनाओं के बहुत बाद नहीं हुआ। एक प्रकार से इस विकास को सकारात्मक भी कहा जा सकता है।

परम्परागत उपन्यासों में उपन्यासकार मूलतः एक मनोरंजक कथा को लेकर चलता था और साथ ही वह कुछ व्यक्तित्वों को भी अवस्थित करता था जिन्हें पाठक चरित्र की विविध और बेबी रसालों के घोंघर से देखते थे। ये पात्र हमारे मित्रों और परिचितों से प्रभावित होते थे और उनकी कपड़ेवा प्रशस्त होते थे। उनकी सम्पदा, उनकी मुद्राओं, भाषाओं और प्रवृत्तियों का विस्तारपूर्वक सेना-बोधा रहता था। यह धनस्पष्ट है कि प्रारम्भ से ही ऐसे उपन्यासकार भी थे जो कथा के साप-साव जीवन-वर्तन भी देखते थे। धनवा कथा में सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध विहार करते थे। इनमें संदिह नहीं कि प्रारंभ से ही उपन्यास समाज-सुधार का प्रयत्न बन गया था और इस लक्ष्य को अंशतः सामने रख कर डिफेंस जैसे कथाकारों ने नई पश्चिमी रचनाएँ अवस्थित की थीं। परन्तु ऐसे भी उपन्यासकार थे जो सामाजिक समस्याओं से घाबरे हुए अपनी कथा द्वारा सामाजिक,

नैतिक और राजनीतिक विचारों का भी स्पर्श करते थे। अंग्रेजी उपन्यासकारों में वास्तु किम्बले का नाम इस क्षेत्र में लिया जा सकता है।

इंग्लैंड में जिन लोगों ने नई उपन्यास-रूपा के विकास में सहायता पहुँचाई उनमें हेनरी जेम्स हार्डी घोस्मास बेनेट पासवर्दी सामरसेट माम और कोनाई प्रमुख हैं। बेस्टरटन फिफथिय और सेमुएल बटनर का भी नाम लिया जा सकता है परन्तु इनकी सभी रचनाएँ एक प्रकार से युग-परिवर्तन की सूचना नहीं देती। इन लेखकों के "द ग्रेट हवाइ बस्टेड" किम" (१९०७) और "द वे ब्राउ प्रास एवेस" को हम ज्ञान से सकते हैं। इनके प्रतिरिक्त १९१० तक की रचनायाँ में ई० एम० फार्स्टर के चार उपन्यास हैं जिनमें प्रतिम 'होबड्स एण्ड' (१९१०) है।

जिस मनोवैज्ञानिकता की नये उपन्यास में दिखाई है वह उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में हेनरी जेम्स के उपन्यासों में ही महत्व पाने लगी थी। इन नई रचनाओं में लेखक अपने पाठकों को साक्ष-साक्ष सेकर चलाता है और पाठकों की कास्परिक सहायमूर्ति ही पाठों के अंदर प्रवेश पाने की एक मात्र कुंजी है। हेनरी जेम्स ने ही पहले-पहल पाठों के कार्य-नकारों को अज्ञानता ही और उनके अंतर्भवत् को विशेष महत्व दिया। जेम्स के उपन्यासों में पाठों की संख्या बहुत बड़ी है और इन कुछ पाठों के कूर्वों के पीछे उन्हें और भावना का एक विस्तृत अर्थ है जो कहानी को रोचक और महत्वपूर्ण बनाता है। इसके यह ज्ञान हुई कि उपन्यास मनुष्य के व्यापक कार्यक्षेत्र को छोड़कर अरिष और प्रेरणा के विशेष क्षेत्र में लभ गया। इस भावनासे उपन्यास बुद्धिमत्क बना और बीसवीं शताब्दी के उपन्यासों में भी यह प्रवृत्ति बचकर मिलती है। कथा-श्रेय पीछे पड़ कर और बौद्धिक अज्ञापण प्रभाव हो गया। कुछ उपन्यासकारों ने जैसे हार्डी ने बुद्धि और मन के बीच में अनुभव को बनाये रखा परन्तु हार्डी के उपन्यासों में वातावरण की प्रभावता मिलती है जो नये उपन्यास का नया तत्व है। एक नये अर्थ की विशेषता इस प्रकार की रचनाओं में धा जाती है। हार्डी ने काम्योपमता और कथा के कलात्मक संमेलन के रूप में ही नये तत्व की गभीर उपन्यास-भारा को बिने। हेनरी जेम्स के चार मनोवैज्ञानिकता का सबसे सुन्दर रूप हमें कोनाई में मिलता है जिसकी रचनाओं में हमें संवेदनापदी और आकर्षक कथाओं के साक्ष-साक्ष पाठों और प्रेरणाओं का मनोवैज्ञानिक विकास भी मिलता है और साक्ष ही जीवन का व्यापक एवं विस्तृत समालोचन भी रहता है। वास्तव में सूक्ष्म कलाकारिता और मनोवैज्ञानिक पक के कारण कोनाई में इस युग के अन्य उपन्यासकारों की अपेक्षा धार्मिकता सबसे अधिक है। इन क्षेत्रों में हेनरी जेम्स से ही बसकी तुलना हो सकती है। जेम्स इस कथा में अग्रिम है और बीसवीं शताब्दी के उपन्यास पर उनका प्रभाव बहुत महत्व है।

नये ज्ञान के सूत्र और निर्माण में बौद्धिक तत्व का अधिक समावेश हुआ है। परंपरागत उपन्यास से इन दिशा में वह नितात्त भिन्न है। उपन्यास में कथानी

घोर वस्तु (प्लाट) की आवश्यकता पर संदेह किया जाने लगा और हार्डी एवं मैटिडिब से एक इष्टम धामे बहकर उपन्यास की जीवन-संज्ञा का बाह्य मान लिया गया। उद्देश्य या बीज प्लाट और पात्रों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण हो गया। प्रत्येक नये उपन्यास के मूल केन्द्र में एक विचार अवश्य प्रतिष्ठित मिलेगा। इस विचार को पत्मबिंदु कहने में ही कथा और पात्रों की सार्थकता है। उपन्यास की पृष्ठभूमि चुनते समय भी इसे ही ध्यान में रखा जाता है। शून्य विचार पहले है इसलिए उसके विकास के लिए प्रस्तुत कथा में घसस्य का कुछ संघ होना अनिवार्य है। पुराने उपन्यासकार पहले पात्रों की कल्पना करते थे और फिर उनके अनुकूल कहानी गढ़ने से या पहले कथा की कग-रेखाएँ बनाते थे और तब उसे चार्डिजकता देते थे या कथा और पात्रों को एक साथ ही सर्वत्र प्रक्रिया में निर्मित करते थे। इससे उपन्यास में मान्यता रहती थी और कथा एवं पात्र विश्वसनीय रहते थे। नये उपन्यासों में सिद्धान्त ही सब कुछ का घोर औपचारिक मूल पर से मानवीय हस्तक्षेप को हटाकर उसे सीमित कर दिया गया। यह कहा कि पात्रों की पब्लिक मंथना केन्द्रीय विचार को पत्मबिंदु कहने में बाधक होती है। पत्र-पाप विने चुने रखे गये। इसमें संदेह नहीं कि कथाकार उपन्यासकार के रूप में ऐसे उपन्यास बड़े उत्प्रेरक हैं और बीरे-बीरे उनकी लोकप्रियता बढ़ती जाती जाती है। पब्लिक नये उपन्यासों में जीवन की समस्त और विविध भूमियों के उपभोग और कथा-निर्माण में विभिन्न व्यक्तियों के बात-व्यतिपात के स्थान पर केवल जीवन के संबंध में केवल बौद्धिक ऊहापोह रहता है। इस प्रकार नया उपन्यास विचार-केन्द्रित है और उसकी अभिव्यक्ति प्राथमिक रूप से मनोवैज्ञानिक है यद्यपि बीरे-बीरे यह नहीं मनोवैज्ञानिकता की पुराने संघ की मनोवैज्ञानिकता से दूर या पड़ी है। इसमें संदेह नहीं कि एक भी घनेक ऐसे लेखक हैं या परंपरागत उपन्यास को ही लेकर बड़ रहे हैं या उसे अपनी व्यापक विवेचना और नये उपन्यास के तन्त्रों के सम्मिश्रण में महत्वपूर्ण बना रहे हैं परन्तु यह निश्चय है कि धारा के उपन्यास की साम्यवादी नीति-वर्णनीय रूप पहले के स्पष्ट उपन्यास की साम्यवादी से भिन्न है।

१६२० से पहले ही सर्वेजी उपन्यास ने नई दिशाएँ टटोलनी शुरू कर दी थी। कुछ उपन्यासकारों ने जैसे जाम्पटन मैकेन्डी और एच० बी० बेस ने बचपन और युवावस्था का विषय किया। कुछ अन्य उपन्यासकारों ने जैसे डी० एच० लारेन्स ने बचपन और भावना के प्रतिरोध को अपनी कथा का आधार बनाया और सजैव प्रेम के रूप में नई संवेदनाओं का विमल रूप मन के सहारे पत्रों का दुष्सा। लारेन्स का "सम एंड लवर्न" इन दिशा में जातिकारी रचना है। कथाबिंदु इतनी घनिष्ठ और काव्यमयता के साथ लिखी थी उपन्यासकार ने जीवन का संस्पर्ष नहीं किया है। तब तो यह है कि लारेन्स ने उपन्यास को अपने नये धर्म की प्रचार-भूमि बना लिया। तर-नारी के बीच व्यापारों और प्रेम-पुण्या के संवेदनात्मक विचार ने उपन्यास बचपू में हस्तक्षेप मचा दी। इन सब उपन्यासों में धर्मप

और विविध स्थान वेदों का है जिन्होंने उपन्यास को वैज्ञानिक कल्पना और वैचारिक प्रयोगों की भूमि बना दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपन्यास की वैदिकी बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में ही टूटने लगी थी और उसका क्षेत्र विस्तृत बन गया था।

परन्तु नये उपन्यास का जन्म १९२० से ही माना जा सकता है क्योंकि इसी समय के जयमग पुराने ढंग के उपन्यासों पर कड़ी चोटें पड़ीं और नये प्रभावों ने उसकी धारों भूमि ही बदल दी। ये नये प्रभाव से उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त से ही पड़ने लगे थे परन्तु सामूहिक रूप से उपन्यास इनसे फिर भी प्रसूता था परन्तु ये नये सिक्क बसने लगे और नई नूतन प्रवृत्तियों भी लगीं। ये प्रभाव तीन दिशाओं से आये

१—फ्रेंच उपन्यास का प्रभाव। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में ही बार्ब मूर और चामरसेट नाम के उपन्यासों पर फ्रेंच प्रभाव जिसलाई पड़ने लगा था। यह प्रभाव अंततः आभा के जन्म मर्बा (प्रकृतवाद) का प्रभाव था परन्तु स्वयत्! भाषामय प्रभाव भी कम महत्वपूर्ण नहीं था। फ्रेंच उपन्यासों में अस्मिन् और अस्मिन्त्वता को अतिवर्धित; महत्वपूर्ण स्थान मिला है। वे अन्धे रातों में कलाकृतियाँ हैं। पुराने ढंग के उपन्यासों में उपन्यासकार निर्बल भाव से बसता है, कभी-कभी तो कई कथाएँ लेकर चलता है। परन्तु फ्रेंच उपन्यासों में सूक्ष्म अस्मिन्त्वता और प्रासादिक शैली का महत्व है और उपन्यास का स्वनिर्माण भी सुपटित होना आवश्यक माना जाता है। १९२ के बाद प्रुस्त के उपन्यासों की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अस्मिन्त्वता-शैली का भी प्रभाव पड़ने लगा।

२—दूसरा प्रभाव जर्मनी उपन्यासों का है। यह प्रभाव अतिक्रमण पड़ा। टास्त गाव दोस्तोव्स्की तुगनेव और बेखोव की रचनाएँ अनुदित हुईं और पाठक और लेखक दोनों उनमें डूब गये। ये कृती कथाकार मानव-आत्मा में प्रवेश करने की प्रभुत्व क्षमता रखते थे। अंत ही उपन्यासकारों ने इन गहुराहियों को नहीं छुमा था। मानवीय व्यक्तित्व के अंतःस्वर्गीय मनोवैज्ञानिक आदर्श इन रचनाओं में उभर आये। इन उपन्यासों की संवेदना सार्वभौमिक थी। इन में या तो वैश्व-व्यापी आन्वेषित चित्रित थे या मनुष्य की अंतःआत्मा की पीड़ा उभायी गई थी। इनका संसार ही दुःखरा था।

३—इसी उपन्यासों के प्रभाव के साथ ही अन्ततम मन संबंधी प्यार के मनीन आधिकार भी सामने आये। १९२ तक मनोविज्ञान की नई उपलब्धियाँ साम्य हो गईं और मनोविश्लेषण की पद्धति लोकप्रिय हो गई। इन नवीन तत्वों ने व्यापक रूप से उपन्यास को प्रभावित किया।

अंग्रेजी उपन्यास को नई अध्यात्मिक भूमि देने का योग जम्स ज्वाइस और बर्डी दिया मुक्त को है। ज्वाइस का पहला प्रकाशित उपन्यास आत्मकथात्मक था (ए पोर्ट्रेट ऑफ़ द आर्टिस्ट एण्ड ए दंग मेन १९१६) परन्तु बहु कुछ दिन पहले से एक विस्तृत प्रयोग में सबा हुआ था। यह प्रयोग "उमीसस" (१९१४-२२) का। आखिर में इतना

मानवीय मस्तिष्क की एक प्रसिद्ध विषय-वृत्ति हमारे सामने उज्ज्वल होती है। धरेबी उपन्यासों में हास्य-विशेष के प्रसंगों और मातात्मक प्रसंगों में इस प्रकार की एक झलक बिन बाती है परन्तु जीवन की रहस्यमय महारङ्गों की छतनी विस्तृत और निपुण झंझी हमें नहीं मिलती। बहिर्निष्ठा बुद्धि की प्रयोगात्मक रचनाएँ "जेकम्स स्मिथ" और "मिस्टर डेलोवे" हैं परन्तु "टु व लाइट हाउस" (१९२७) में उनकी उपन्यास-कला का परिपक्व रूप मिलता है। इसमें चेतना के धार्मिक-वैज्ञानिक प्रवाह को धारणा के प्यार-भाड़े के रूप में चित्रित किया गया है प्रतीकों का भी उपयोग है और एक धार्मिक संवेदना थीस कलाकारिता भी है जो काव्य रस देने में समर्थ है। पुराणमंडल की कथा समाप्त हो गई परन्तु आरिक्तता (जो धरेबी उपन्यास की विशेषता थी) फिर भी सुरक्षित रही।

परन्तु नये उपन्यास का वास्तविक विकास बाद में हुआ। इन दोनों लेखकों ने उपन्यास-सम्बन्धी बहिर्निष्ठा को नष्ट किया और नई सम्भावनाओं की धीरे-धीरे इम्तिहानियाँ किया। वास्तव में नये उपन्यास का गारा एतद्दश हृदयमयी रचना "घाइलेस इन पाउंड" (१९३६) से प्रारम्भ होता है। इस उपन्यास में काल-व्यापार को तीन छतों पर बराबर बनाया गया है। सब तो यह है कि १९२२ से १९३६ तक उपन्यास के क्षेत्र में सब से बड़े परिवर्तन टेक्नीक के क्षेत्र में नहीं के नैतिक क्षेत्र में नये विचारों की उद्घाटना बना में थे। प्रथम महायुद्ध ने बहिर्निष्ठा विचारों की बड़ों हिताधीनी की धीरे-धीरे फलस्वरूप उपन्यासों में नई नैतिक चेतना की बुझाई की जाने लगी थी। टेक्नीक के क्षेत्र में ई. एम्. फोर्स्टर, जी. एच. सारेस और एनडस हकलेने कड़ी धार्मिक महत्त्व पूर्ण हैं।

नये संवेदना-क्षेत्र भी सामने आये। महायुद्ध को लेकर कई रचनाएँ प्रस्तुत की गईं जिनमें फोर्स्टर हेमिंगवे की रचना "ए फोरवर्ड टु पार्स" (१९२९) प्रमुख है। विन्सेन्ट लेविघ "फोर्स्टर और इतर अन्य मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों के जिन्होंने युरोप की नई औपन्यासिक चेतना को प्रभावित किया। कुछ उपन्यासकार धीरे-धीरे सामाजिक जीवन की सामने लाये। बचपन और किशोरावस्था को लेकर भी कई रचनाएँ उपस्थित हुईं। कल्पनिक युवाओं और बुरे लोगों को लेकर भी रचनाएँ सामने आईं। ऐतिहासिक रोमांस का एक प्रकार से पुनर्जन्म हुआ। नागरिक जीवन की विविधिकाओं से भाग कर उपन्यासकारों ने ग्रामीण जीवन के काव्य-चित्र उपस्थित किये और उसे मातृक जीवन एवं उद्योग-व्यवसाय के विषय में पेश किया। धरणी जीवन-सम्बन्धी रचनाओं और सामूहिक रचनाओं की भी बाढ़ आ गई।

उपन्यासकारों की इन बाढ़ों ने उपन्यास पढ़ने वाली जनता को कई बर्षों में बाँट दिया। एक बर्ष केन्द्र केन्द्र और कोनाई जैसे परम्पराविष्ट उपन्यासकारों को पसन्द करता था तो दूसरा ग्लोबल और बुद्धि के प्रयोगों को तीव्रतापूर्वक विमल

को बीबा साहसिदा या बीबी पुष्टभूमि को। वास्तव में अनेक प्रकार की विचार धाराओं ने उपन्यास को विभ्रंशमिड कर दिया था। १९३७ के बाद 'प्रोलेटेरियेज नाबिल' के रूप में मानसुबासी और साम्यवादी विचारों पर आधारित रचनाएँ सामने आईं और बवशाह और प्राग्नेहनों को महत्व मिला।

विद्यमाने बेड़ बसकमें उपन्यासों का जो विकास हुआ है वह विशेषतः टेकनीक की दिशा में। उपन्यास का क्षेत्र छोटा होता गया है यद्यपि नये-नये क्षेत्रों की खोज भी की गई है। अब उपन्यास सम्पूर्ण जीवन को मसकर जीवन का एक सख मात्र होता है यहाँ तक कि बीबीस घण्टों का जीवन या कुछ घण्टों का जीवन भी उसके लिए काफ़ी हो जाता है। इन कुछ घण्टों में ही सेवक की बेतना काल-प्रवाह में घावे-नीछे दीकती है और उसक जीवन के अनेक श्रुतल-विभ्रंशत बिच पकड़ने में सार्कक होती है। इन्हीं बिचों में पात्रों के जीवन की कथा बगती-बिगड़ती है। वास्तव में उममे कतू ल्ब नहीं होगा भाव-संबेदन ही होगा है। फलस्वरूप उसमें कथा की कड़ियाँ भी गही बगती घबवा कथा सूडम ही रहती है। बीच-बीच में से कथा की श्रुतसाएँ टूट जाने पर पात्र धबूध भी हो सक्ते हैं। इस प्रकार पाठक के पस्से मानसिकता ही पड़ती है चारि भिकता नहीं। उपन्यास में सामस-भूमि पर जो ठिरता बिसाई पड़ता है वह केवल घस्तिरब-जोब मात्र। घबिकांघ कथा एक प्रबान पात्र घबवा दो-तीन पात्रों से संबन्धित होती है। अग्य पात्र रंग मात्र भरते हैं। प्रबान पात्र के सबल या दुर्बल होने का कोई प्रबल ही नहीं लठगा। वाग्म्य में मनोबिज्ञान ने बतला दिया है कि सभी मनुष्य मूमत दुर्बल हैं और चारिभिक स्वास्म्य घलम्य बरनु है। वहाँ बह है नी बहाँ नीचे ठल में बिहृति ही मिलेगी। फलतः नये उपन्यास में न कथा हाव लपती है न चारिभिकता न मनोबिज्ञाननिष्ठा न तर्कसम्मल बालतें, बजोंकि चारिभिकता बहाँ नहीं है, बहाँ मनोबि ज्ञान और तर्क-संमति भी महत्वपूण नहीं है। फल में उपन्यास विचार या सिद्धान्त का बिस्तार मात्र रह जाना है और उसमें उपन्यासोत्तर अनेक अग्य तन्त्र भावर्पण देने के लिए महत्वपूण ढप से सामने आ जाते हैं। पुस्तक के एक उपन्यास में एक पात्र रेल में सफ़र करते हुए एक भावमी को जान बूध कर डकेल बेना है जिसमे बह स्वयं बाय-नारण की श्रुंतसा से स्वतन्त्र रह सके। (ले केम्ब दु बेठिजन (१९१४) यह निगदप कर्म (न एकते घ बुई) का प्रमुक्त उदाहरण है एक प्रकार से जीन पात्र मात्रों की घस्तिरबवादी विचारधारा का सूत्र हमें इसमें मिल जाना है क्योंकि यहाँ कर्म स्वतन्त्र घस्तिरब का सूचक मात्र है उनका न कोई पूबौरर सम्बन्ध है न कोई उद्देश्य। इस प्रकार नया उपन्यास मनोबिज्ञान पर भी उम तरह आधारित नहीं है जिस प्रकार हेनरी जम्म और जोनार्ड के उपन्यास। बह मनोबिज्ञान से भी स्वतन्त्र हाना चाहता है। इस प्रकार जहाँ एक घोर मनोबिज्ञानिक उपन्यास है जो फाइड एबलर और युंग की सिद्धान्तिक साम्यवाधों से घाय बही बड़ने और "बेस-हिस्ट्री" बन जाते हैं अथवा साइकोधेरपी मात्र रह जात हैं बहाँ

करने के लिये उनमें नये षडयुगों का विकास किया है या पुराने षडयुगों को ही संवेदना की नई मार दी है।

नये उपन्यास के कुछ प्रमुख तत्वों की ओर हमने पीछे संकेत किया है। ये तत्व हैं

१—जीवन-क्षेत्र का संकोच। काम-विस्तार और जीवन-विस्तार दोनों को बहिष्कार घास उपन्यास का क्षेत्र संकुचित है। २४ पंक्तों या कुछ ही पंक्तों के जीवन प्रवाह को कथा में बीजने में घास उपन्यास की सार्थकता है। श्री गिरिवर योपाल के “बादली के कदहूर” उपन्यास में एक दिन और एक रात की कथा कही गई है और प्रयागाच्य के साथ नये जीवन के अभिनयन के साथ वह समाप्ति को प्राप्त होती है। आर्यभट्ट और बज्रिविद्या बृहत् इस क्षेत्र में यथार्थी रहे हैं। वास्तव में देखा जाय तो जीवित घंटे भी बहुत होते हैं। उपन्यासकार घास खंड मनुष्य को न देकर संपूर्ण मनुष्य को देना चाहता है। परन्तु यह मनुष्य की संपूर्णता उसके सर्वत्व में नहीं है उसके मन के आलोचन-विलोचन में है। इसी से नया उपन्यासकार घास घण्टीकाभीय हो उठा है। उसके लिए पिछ ही ब्रह्माण्ड का प्रतीक है प्रतीक नहीं वह स्वयं ब्रह्माण्ड ही है। जैनेन्द्र में हमें वही दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है। उन्होंने समस्त जीवन की कथा न कह कर खर्ब जीवन की कथा कही है। काम के साथ जीवन की चिपचपी भी छोटी होती गई है। घास घनेक उपन्यासकार पारंपरिक जीवन के उपन्यास लिख रहे हैं या बचपन और युवावस्था तक सीमित है कुछ ने केवल गीत को ले-लिया है, कुछ सामूहिक चेतना के किसी धर्म को लेकर चलना चाहते हैं। घास उपन्यास के जीवन का एक लक्ष्य ही बहुत है। उसका दृष्टिकोण विशेषतः का दृष्टिकोण है।

२—काल-प्रवाह की घटती-बढ़ती कल्पना। आइंस्टाइन की खोजों ने घास देस और काल के सम्बन्ध में हमारी चारणा ही बदल दी है। वह नहीं कहा जा सकता कि यह बदली हुई चारणा उपन्यासकार के उपयोग की वस्तु है या नहीं परन्तु घास घटना बहिष्कार की वस्तु नहीं घटती-बढ़ती की वस्तु बन गई है और उसके कर्म-विकास की कोई निश्चित कल्पना नहीं है। बज्रिविद्या बृहत् ने अपने ‘५ बेन्डा’ उपन्यास में काल प्रवाह के तीन स्तर एक साथ बताया हैं और घटनाओं की असंभति और कर्महीनता से कालक्षेत्र का सामास किया है। प्रत्येक में पीछर एक जीवनी में स्थान-स्थान पर इन नई टैकनीक का प्रयोग किया है और बीती हुई घटनाओं को पीछर की विगुलत मानसिक संवेदनाओं के माध्यम से देखा है। इस प्रकार के प्रयास उपन्यास में कथा रस छीन लेते हैं और जसे चिरोपकों की वस्तु बना देने हैं। पाठक पात्रों के घटती-बढ़ती में भाग नहीं ले पाता वह बेचारा बूट्टा मात्र रह जाता है। उपन्यास-लेखक का मन स्वयं काल की घीमाओं में बेबा हुआ है। वह काम के पार कसे देख सकेगा ! रेमो ने राण बनम् या प्रतिबोधित क्षणों में काल और व्यक्तित्व के पार देखने की कल्पना की थी परन्तु यह कल्पना उसकी कुछ कविताओं में ही बंध कर रह

वर्ष। आधुनिकता के नाम पर उपन्यासकार उसे फिर लेकर चलना चाहता है। जो जो काल प्रवाह की प्रत्यक्ष-वेतनामूलक रहना नये उपन्यास का बहुमुख्य संबन्ध है।

३—मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण। अर्थात् फ्राइड एडसर घोर युग की मनोवैज्ञानिक घोर मनोविश्लेषणारम्भक मास्वताओं पर आधारित घटनाओं का संश्लेषण घोर नई आधुनिकता का विकास जो प्रत्यक्ष-वेतन की प्रतिक्रिया मूल्य देती है। यह स्पष्ट है कि नये उपन्यास ने परम्परागत उपन्यास से आधुनिकता का अर्थ मात्र लिया परन्तु उसे बहुत दिनों तक मुदित नहीं रख सका। इसका कारण मनोवैज्ञानिकों की मन-सम्बन्धी कोशें थीं। मनोवैज्ञानिकों ने प्रायः मन को अनेक खण्डों में विभक्त कर दिया है। जो वस्तु पहले एक स्वतन्त्र इकाई घोर अभिव्यक्त थी वह प्रायः टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गई है। इन बिखरे हुए टुकड़ों में घटनाकृता है परन्तु उनका अर्थ प्रायः व्यर्थ ही है। उनसे हमारी जिज्ञासा भी भी क्षान्ति होती है घोर हमें। अन्तर्-जीवा-जीविका का अर्थ ही होता है। स्वयं विधाता की भाँति हम मन को तोड़-छोड़ भेदते हैं घोर टूटे हुए टुकड़ों की जमी एक तरह की बुरी तरह रखकर अन्तर्-सृष्टि कर सकते हैं। ये मन के टुकड़े मात्र हैं परन्तु ये मानवीय प्रकृति के अंग होने के कारण उपन्यासकार के लिए महत्वपूर्ण हैं। ये वे ईंटें हैं जिन पर वह मध्य मन्त्र का निर्माण कर सकता है। इसलिए प्रायः का उपन्यासकार इन बिखरे मन के टुकड़ों का उपयोग करता है तो हमें कोई अस्वभाव नहीं होनी चाहिए।

परन्तु प्रश्न यह है कि वह इन टूटी-फूटी ईंटों का उपयोग किस प्रकार से करे— क्या वह इनसे एक निश्चित रूप घोर अकार का निर्माण करे? पिछली उन्नीसवीं शताब्दी के उपन्यासकार अस्वभाविक करते समय अस्वभाविक के विभिन्न टुकड़ों को एक-दुसरे से बिलकुल सटाकर एक सम्पूर्ण घोर निश्चित अर्थ का निर्माण करने में प्रयत्न करता ही सार्थकता समझने से। यह नहीं कि वे मानव-अस्वभाविक की अस्वभाविकताओं घोर अस्वभाविकताओं को नहीं समझते थे घोर मनुष्य को बेवशा या राक्षस मानकर ही अपने कर्तव्य की इतिहास समझ लेते थे। हमें ऐसे अस्वभाविक अस्वभाविक रिपे हैं जो अनेक घोर अनेक रंगों के मिश्रण हैं या जिनमें हेमसेट ग्रेडी रख्यवादिता है जो निश्चित अस्वभाविकताओं में अर्थ नहीं पाते परन्तु फिर भी इन उपन्यासकारों का लक्ष्य यही था कि वे अस्वभाविक को "अस्वभाविक" से अर्थान् वह निश्चित सुनम्बन्ध अस्वभाविक अस्वभाविक घोर अस्वभाविक इकाई हो अस्वभाविक की इतिहासों के तारे परस्पर अर्थ हैं वे मूल्यहीन न रहे। परन्तु बीमरों अस्वभाविक की मनोवैज्ञानिक कोशों से "अस्वभाविक" अस्वभाविक मास्वताओं में अस्वभाविक अस्वभाविक है। यह अस्वभाविक है कि अर्थ भी पुरानी परंपरा के अस्वभाविक अस्वभाविक है जो अस्वभाविकों की अस्वभाविक घोर अस्वभाविक इकाई अस्वभाविक अस्वभाविक में ही अस्वभाविक की अस्वभाविकता समझ है परन्तु उपन्यासकारों का एक दूसरा अर्थ भी है जो परंपरा की घोर अस्वभाविक नहीं देखता चाहता। उसकी अस्वभाविक अस्वभाविक पर है घोर उसका अर्थ है कि किसी भी अर्थ को अस्वभाविक घोर अस्वभाविक अस्वभाविक

वास्तविकता से दूर चले जाता है। जीवन में ऐसा नहीं होगा। जिन व्यक्तियों से हम परिचित होते हैं वे हमें अविष्ट रूप में ही मिलते हैं और हमें स्वयं उन अविष्ट चर्चों का जोड़ कर अपने लिये एक सम्पूर्ण मास तैयार करना होता है। इतिहास पात्र का उपन्यास सम्पूर्णता पर बल नहीं देता वह अविष्ट के विभिन्न धर्मों या लक्ष्यों पर प्रकाश डालता है। मनोवैज्ञानिकों ने मन की जिन विभिन्न टुकड़ों में विभाजित कर दिया है वे विभिन्न स्तरों की चीजें होते हुए भी अविष्ट के पुनर्निर्माण के प्रासंगिक धर्म हैं क्योंकि मात्र हम यह जानते हैं कि यद्यपि मनुष्य चेतन मन से कार्य-क्षेत्र में उत्तरता है (या वह यह समझता है कि वह चेतन मन की प्रेरणा से संभावित है) परन्तु उसके पीछे उसकी अज्ञान-चेतना के परस्पर विरोधी कभी-कभी असम्बद्ध और भयावह तत्व हैं और उसकी चेतना उसके अचेतन के निरन्तर प्रहारों से प्रभावित होती रहती है। पात्र उपन्यासकार ने मानव-मन के अचेतन के तत्व को समझ लिया है और उसका विश्लेषण भी बखत गया है। वह अपनी ओर से कुछ भी सहायता हमें नहीं देता। न कोई छोटा सा निश्चित सा रैखित है न कहीं सारांश। वह असम्बद्ध अविष्ट अविष्ट मान को सामने रखकर तटस्थ भाव से चलता ही जाता है। वह पाठक और अविष्ट के बीच में क्या भी खड़ा होना नहीं चाहता। नये उपन्यासकार अपने अविष्टों की कई टुकड़ों में देते हैं। कभी वे स्पष्ट और सम्बद्ध हो जाते हैं कभी विरोधाभासपूर्ण। उनका कहना है कि मनुष्य का मन सभी असंगतियों और विरोधों का घर है। फिर उसे हन उसी प्रकार नहीं नहीं विभक्त करें। एक दूसरी कठिनाई यह है कि ये सब मन-क्षेत्र एक ही प्रकार के नहीं होते। उनमें कुछ चेतन विचार और कर्म से सम्बन्धित है कुछ अज्ञान-चेतना का प्रकाश मात्र अचेतन में बहती हुई विचार-प्रक्रिया मात्र और कहीं अचेतन की अज्ञान-शक्ति हमारे सामने घाटी है जो पात्रों की चेतन सामर्थ्यों की अक्षमता डालती है। इन विभिन्न स्तरों और चर्चों को लेकर हमें एक अविष्ट अविष्ट तैयार करना होता है।

इस प्रक्रिया का फल यह हुआ कि उपन्यास के लेख से अब कालानुक्रम लगभग समाप्त ही हो गया है। नायक के जीवन के चित्र हमें मिलते हैं परन्तु वे किसी निश्चित कालक्रम से नहीं। कभी हम सहसा धाने बढ़ जाते हैं कभी अज्ञान-आकर एकदम पीछे उसके बचपन या विद्योत्तर जीवन के वर्त में गिर पड़ते हैं। चेतना की विषय और असम्बद्ध गति की भाँति क्या और अविष्ट-भूमियाँ मात्र विषय असम्बद्ध और अविष्ट-हीन बन गई हैं। उपन्यासकार मात्र हमें अविष्ट सम्पूर्ण नहीं देता। वह हमें जीवन-अविष्ट हो देता है। वह निश्चित होना नहीं चाहता और अविष्ट के अविष्ट लेकर तटस्थ भाव से चलता ही जाता है। या वह देता है उनमें एकसूत्रता स्थापित करना पाठक का काम है।

परन्तु वह एकसूत्रता अविष्ट या विचारगत एकसूत्रता नहीं होती। इसे हन भावत एकसूत्रता वह अविष्ट है। वैदिक से लेविस ने इसे "इनीयनल टीक्रेण्ड" कहा

है। वह कहते हैं 'तर्क-संघति के निरालस प्रभाव का घाबी न होने के कारण पाठक पहले तो चिढ़-सा जाता है। संघति सोचने के प्रयत्न में उसे अपनी बुद्धि पर जोर डाल कर उसे प्रतिस्तेबित कर लेना ठीक नहीं होता। इस व्यवस्था में धार-संवेदन के द्वारा ही वह रसनिष्ठ हो सकेगा। यदि वह कल्पना-चित्रों को अपने भीतर पड़ा रहने देगा तो उसे सनेगा कि उसने धुन को पकड़ लिया है। जैसे एक स्फुलिंग-मात्र से सारी पार्वभूमि बलमगा उठी हो।' वास्तव में मया उपन्यासकार चेतन मन का उपयोग नहीं करता। इसलिए तर्क-संघति सम्बन्ध-सूत्रों की उसके उपन्यास में स्थापना असम्भव होगी। जब तक के साहित्य में तर्क-सम्बन्ध और विषय निर्वाह को सर्वोपरि माना गया था परन्तु वहाँ साहित्यकार व्यर्थी मन के बराबर को छोड़ कर उपचयन या प्रबन्धन के विरोधाभास-पूर्ण असंगत और अशुद्ध विचार-प्रवाह को अपना स्रोत बनाता है, वहाँ तर्कशास्त्र सम्मत निर्वाह की कल्पना ही असम्भव है। परन्तु यहाँ प्रश्न यह हो सकता है कि ये असंगत भाव-सङ्घ सम्पूर्ण निज कैसे दे सकेंगे। धार का उपन्यासकार इसकी कोई धार-स्यकता ही नहीं समझता। यदि वह कहा जाय कि इस प्रकार हम चरित्र को पूर्णतया नहीं जान सकेंगे तो मया दृष्टिकोण कहता है कि हम अपने निकट से निकट सम्बन्धी का घन्त-वाह्य पूर्ण रूप से नहीं जान सके हैं। कभी जान भी सकेंगे यह भी नहीं कह सकते। जब वैदिक जीवन में ऐसा है तो हम उपन्यासकार से यह क्यों चाहें कि वह हमें सम्पूर्ण व्यक्तित्व का चित्र दे। धार का उपन्यासकार यह विश्वास करता है कि मनुष्य की घन्त-रात्मा उसकी अपनी चीज है। उसे छोड़ कर कोई उससे सम्पूर्ण परिचित होने का दावा नहीं करता। फिर भी जो असम्बन्धित चित्र धार हमें उपन्यासकार देता है वे धार के मन की एक झँकी देने में समर्थ हैं। केवल यह जानना होगा कि इन चित्रों में तर्क-सिद्धता और मूलित का मोनफल हमें नहीं झूझना है। जीवन में तर्कों पर प्राचारित है, न मणित पर। उसमें अकल्पित और असम्भाव्य का भी स्थान है। वहाँ हमें यावकल से बड़ी या सब तरह से तर्कित उपसम्बन्ध भी मिल सकती है। धारस्यकता है कि हम अपने को पर्याप्त संवेदनशील बनाएं। हम उपन्यासकार के कल्पना-चित्रों में डूब जाए और उनके प्रवाह में अपने को बहने दें। तभी हम जीवन प्रवाह की वास्तविक अनुभूति प्राप्त कर सकेंगे।

४—नये उपन्यास में घन्त-जीवन की प्रदानता है और उसके भीतर से बहिर्जीवन को देखने का प्रयत्न है। कल्पकल्प एक ही घटना को या एक ही चरित्र को विविध दृष्टि-कोणों या पार्श्वों के माध्यम से देना जाता है। नई चरित्र-दृष्टि चरित्रों को असंगत प्रबन्धनीय प्रतिस्तेबितों का समाहार मानती है। इसी परम्परागत ढंग की चारित्रिकता और अस्तु-संवेदन को धार प्रभाव्य समझ गया है। धार का उपन्यासकार-मानव-जीवन के शय-शय के भावोपदान-यत्न का धारोपदान मात्र करता है और जमी में जोड़ना-माम हमें देता है। परन्तु यह निश्चय है कि उसकी घबनी सीमाएँ हैं जिनका व्यतिथम वह नहीं कर

सकता। प्रायः उपन्यासकार के लिए कालक्रमगत जीवन उलगा महत्वपूर्ण नहीं है बितना मूल्यपत्र जीवन को ले कर चलने से बटनामोंकी श्रुद्धाकारण ही टूट जाती है और कथा, कथा नहीं रह जाती। वास्तव में कालक्रम और 'मूल्य' दोनों ही महत्वपूर्ण हैं और एक के लिए दूसरे की बलि अधिक नहीं है। फारेस्टर ने अपने ग्रन्थ "प्रायोजनस प्रायस व नाथिल" (१९२७) में उपन्यास के बस्तु-संपन्न पर विचार करते हुए इस सम्बन्ध में अपनी मांगवा देते हुए कहा है कि उपन्यास के लाने-बाने के भीतर कालक्रम को एकदम पसन्दकार कर देना उपन्यासकार के लिए असम्भव बात है। चाहे किन्तने ही मूल्य रूप में हो उसे कथा-मूर्तों से बिपटा रहना होगा काल के अपरिचीम बापप्रवाह को उसे पनि चार्ज रूप से छूना होगा मही तो वह प्रबुद्ध हो जायगा और उपन्यासकार के लिए यह बातक यकीनी मानी जायगी। प्राकृतिक उपन्यास कालक्रमगत जीवन से ऊपर उलगा जाइता है। एकप्रायः मूल्यपत्र जीवन ही कह देता जाइता है। परन्तु कथा में घाक्राका के चिक्रासा और समाधान के जो सूत्र हैं वे उसकी परकड़ में जाते रहते हैं और इसी से उसकी रचना में जीवन-प्रवाह की वास्तविकता होने पर भी उससे हमें संतोष नहीं होता। प्रायः जीवन का प्रत्यक्ष सचित्र होने पर भी रचना प्रवास्तव ही रहती है।

प्रायः उपन्यास कथा के सूत्र प्रमुख उपन्यासकार के हाम में रखने का काम नहीं है। बस्तु-संपन्न तकमूलक शक्ति प्रक्रिया है और प्रायः कर इस प्रक्रिया को लेकर चलने से रचना निप्याण ही हो सकती है। बहुधा घटनाएँ और चरित्र उपन्यासकार के सुर्तों से स्वतन्त्र हो जाते हैं और उपन्यास को परिणामाप्ति देने के लिए उपन्यासकार उनके साथ बलात्कार करता है। तथा दृष्टिकोण इसे घनाचार मालता है। उपन्यास कथरेका की लेकर चलने ही क्यों ? क्या वह स्वाभाविक सचवा प्रकृत रूप से विकसित नहीं हो सकता। वह समाप्त हो ही क्यों ? क्या वह सुसा नहीं रह सकता। जीवन की भाति नहीं भी सब कुछ सम्भावनाओं पर ही क्यों नहीं छोड़ दिया जाय। सुत्रधार न होकर उपन्यासकार रचना के भीतर चलने को भी क्यों नहीं बाध दे और किसी एककल्पित नरम की ओर बहुते का भावबध न। इसमें संदेह नहीं कि बस्तु-संपन्न कथा को प्राथमिक और रोचक बना देता है परन्तु बस्तु-संपन्न नाटक से उचार भी गई थी है और उचमंच की लीलाओं की उचम है। उपन्यासकार किसी भी रंगमंच से बैबा नहीं है। वह जीवन की व्यापकता का प्राचास क्यों नहीं है ? यह स्पष्ट है कि नए उपन्यास में चलने की नाटक और काल के प्रतिबन्धों से मुक्त करना चाहा है और इसीलिए कालक्रम और बस्तु संपन्न की उचने उचने की। इसीलिए प्रायः उपन्यास कही जाने वाली चीज एक गई साहित्य-कोटि बन गई है।

३— नए उपन्यास की एक अन्य विशेषता उसकी विचारमूलकता है। वेते हेनरी जेम्स के समय से ही उपन्यास विचारों का बाहन बना हुआ है परन्तु प्रायः वह विचार मूलकता जीवन-दृष्टि में बदल गई है। दम्सटाय ऐन्स और चार्ज सब कथा को जीवन

सम्बन्धी व्यहारोह का साधन बनाते हैं। जहाँ बीबन-प्रवाह को पकड़ने की चेष्टा है वहाँ भी बीबन-दृष्टि की लचीलता ही प्रसिद्ध है। इस प्रकार नया उपन्यास बीबन का चित्त नहीं बीबन का समोच्च है। वह 'मूर्ख' होता है धीमत्प्रायिक उस चारित्रिकता धर्ममन की उपलब्धि में उसके लिए धाब महुत्सवुण नहीं है। रैफ़्र फ़्रांस ने इसी परि वर्तन में उपन्यास का ह्रास देखा है। परन्तु वो हो यही नहीं देखा धाब उपन्यास ने ग्रहण की है और इसी में उसने कई सम्भावनाधा की कल्पना की है।

६— नये उपन्यास में सामूहिक और व्यक्तिगत जीवन के बीच पट्टी बिठाने की चेष्टा भी दिखलाई पड़ती है। कसी उपन्यासों का तो यह विषय है जो कजोरि रूप में सामूहिक जीवन क विकास का प्रयत्न हो रहा है और नये समाजवादी मसाल में मनुष्य की व्यक्तिगत चेतना नहीं उसकी समाजगत चेतना ही प्रकृत है परन्तु परिधमी यूरोप के उपन्यासकार भी एक दम से इसी प्रश्न को लेकर चल रहे हैं। उपन्यास ही क्यों काव्य और नाटक भी मूस रूप से इसी समस्या का सकार बनते हैं। इस्मन और सों के नाटक और बेस्म की रचनाएँ इस दृष्टि को प्रारम्भ में हमारे सामने साय और उन्होंने मनुष्य की मौखिक समाजमूसकता का उद्घाटन किया। बाद में व्यक्तिवाद के समर्थक भी सामने धाये और समसामयिक युग में साज क नाटकों में यह व्यक्तिवाद धपने सबसे नय रूप में दिखलाई देता है। इन समय परिधमी यूरोप मनुष्य की व्यक्तिगत चेतना का प्रतीक है और पूर्वी यूरोप सामूहिक जीवन क प्रयोग कर रहा है। उपन्यास में यह दृष्ट स्पष्ट रूप से सामने धाता है।

७— उपन्यास में अज में मज स बड़ा परिवर्तन टेकनिक क सत में हुआ है। धाब उपन्यासकार निर्देयविकर रूप में व्यक्तिगत होना चाहता है। उन्मत्ता उसकी कला का प्राण बन गई है। उन्मत्ता कला बहने के विविध बंधों का उसने धाविष्कार किया है। धाब उपन्यासकार मनुष्यत जीवन नहीं देना चाहता। इसी म धाब वह कहानी में मनुष्य की सम्पुण्य धामा को ही पर बना चाहता है। उसकी कला धाब कपकालम धा धमि ध्यंजनात्मक है। धाम्तरिक संवाद और धाम्तरकतन प्रवाहमूसक पद्धतियाँ उपन्यास की धाम्प्रात्मिकता प्रदान करने में समर्थ हैं। वह बहिर्जीवन की बीबन न होकर धम्यान्तर जीवन की जनलम्भि हो गया है। कई-कई धमिध्यंजना-दासियों का धाविष्कार हो रहा है और भाषा-नीची क नये मायिक प्रयोग सामने धा रहे हैं। "मूण्ट धासप" (फ़ी एन्ते-निएसन) की पद्धति माकेतिकता का प्रयाग प्रतीकवाद (विशेष रूप में स्वयं प्रतीकों और धीन प्रतीकों का ध्यायक उपयोग) और इसी प्रकार की कुमरी लचीलताएँ कई उपन्यास-कला का निर्माण करती हैं। उपन्यासकारों में लक्रे-मंदिनि को छोड़ दिया है और वे भाब-मगनि को प्रयाग बना कर गये हैं। लक्रेड शीठिकता के द्वारा नहीं भाब मूसक प्रतीक पद्धति क द्वारा नया उपन्यासकार हमें कई औरन्यायिक मवेरधा देना चाहता है। यही नहीं उमना गिफन भी धाब उसकी कई धावरकताओं की पूति करने

पर ही सकल है और उसका रज भी बरत गया है। उपन्यास का प्राथमिक विकास वाटक आख्यान और महाकाव्य के आधार पर हुआ। और बहुत नाटकीय आकांक्षा निर्वाह की पद्धति बस्तु-संबन्ध में प्रमुख माली गई, वही उपन्यास के कल्पितान में महाकाव्यात्मकता को प्रथम मिला। धात्र का उपन्यास उपन्यास को निर्बन्ध निबन्ध और संदीप्त की पद्धति पर से आ रहा है। फारेस्टर ने टास्टराय के "बार एंड चीस" उपन्यास में और प्रस्त की रचनाओं में संनीयात्मक अनुभवों और तथ्यों की खोज की है। एक ही प्रकार की स्थिति भावना या अज्ञातकी की पुनरुक्ति भवना समानान्तर चटनाओं एवं तथ्यों के विकास से उपन्यासकार "सिम्फोनी" (बीतिबन्ध) का ध्यास हमें देता है। उपन्यासकार की ध्यतर्पेता और धर्मिष्यवना संनीत-रत्ना के विकास के समानान्तर रची जा सकती है जो तर्हि उपमन्वि है।

हिन्दी उपन्यास का प्रथम चरण 'परीक्षा-सुख' (१८८२) से प्रेमचन्द के सेना-सहन (१९१६) तक चलता है। इन ३४ वर्षों में हिन्दी उपन्यास प्रमुखतः बंगला मराठी और उर्दू के उपन्यासों को धारण मान कर चलता रहा। फारसी उपन्यासों के अनुबाध के रूप में तिकिसम-ए-होशिया और कमरु ऐबार बीसी रचनाएँ भी सामने आईं जिन्होंने कभी न "अज्ञातकांक्षा सन्धि" और "नूतनाच" जैसे उपन्यासों को प्रभावित किया। रेजाक बास्टर स्काट और डलीसबी छती के जलपठ के अपठक-सम्बन्धी आसुसी उपन्यासों ने हिन्दी उपन्यास की आसुसी-बाध का प्रदर्शन किया। अपने वही की काव्यात्मक आख्यान (कादम्बरी) — परम्परा की धोर नी लोनों का ध्यान गया। परन्तु प्रमुख रूप से बंकिम सामने धात्रे। वास्तव में इन वर्षों की मौखिक रचनाएँ धात्र ऐतिहासिक दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण हैं। यूरोप के उपन्यास से हमारा परिचय धंसेबी के माध्यम से था। कल्पस्वरूप धंसेबी उपन्यास ही हमारे पथ प्रदर्शक बने। परन्तु इकना-नुकरी रचनाओं की खोज से तो इन वर्षों का धीपन्यासिक विकास पकिबन की धार नहीं देखता। वह धम्य भारतीय भाषाओं के साहित्य से रस लीचकर समृद्ध होता है।

प्रेमचन्द ने ही पहली बार पकिबन के उपन्यास-साहित्य से ध्यापक रूप से हमारा सम्बन्ध जोड़ा। नेरी कारेली और हेनर्ष के लेकर डिरेन्ड पैकरे, नेस्सर्षी और टास्टराय तुर्षनीच तक उनकी धीइ की। योर्की के साहित्य को भी उन्होंने रस लेकर पढ़ा था और योर्की की नृत्य का समाचार पाकर उन्होंने रोमधय्या से जलकर धीपन्यासिक बपड की इत महान् धति पर जोर प्रकट किया था। एक प्रकार से यह कह सकते हैं कि प्रेमचन्द ने हमें १९१ तक के यूरोपीय उपन्यास-विकास का बहुत कुछ धा बताया है। १९१०-१९२० की तर्हि धीपन्यासिक पकिबनों (डी० एच नारैन्स फार्स्टर, नकिनियन बुल्ड) से वे परिचित नहीं थे। फेंच उपन्यास को उन्होंने सुधा भी नहीं। मोपोसा जोना और प्रस्त जैसे उपन्यासकार उनके क्षेत्र में बाहर थे। प्रेमचन्द का नैतिकता-प्रदान एवं सुनन्ध हुआ अविनय नए प्रदीपों में पड़ना नहीं चाहता था। ये नये प्रदीप नये कुत-धर्म की

पुकार है वह वे जानते थे परन्तु अपनी सीमाएँ भी समझते थे जसा उन्होंने बीनेन्द्र से स्वीकार किया है। जहाँ तक उनके उपन्यासों के प्रारंभिकी स्वर और उनकी धार्मिकता तथा मर्मत्व है वही उपन्यासों ने उन्हें प्रेरणा दी। तुर्वनीक और टास्मटाय के माहिर्य से उन्होंने सरल हंस से मानवीय रूप की गहराइयों में उतरना सीखा। "प्रेमात्म" "रंगभूमि" और "कर्मभूमि" में वही उपन्यासों का प्रभाव स्पष्ट है यद्यपि "गोदान" में वे अपनी नई शीर्षक तक हैं। "सेवा-गदन" "निर्मला" "प्रतिभा" और "शबन" में उन्होंने धंध भी उपन्यास की ओर बढ़ा है। वास्तव में उनकी कला में धंध की ओर वही उपन्यास का अनुबंधन हुआ गया है।

परन्तु बीनेन्द्र नई भूमि साए। यह भूमि योगाना और प्रुप्त की भूमि थी। जहाँ हिंदी उपन्यासकारों के एक वर्ग ने शोषा के प्रकृतबाध को अपनाया जहाँ बीनेन्द्र विचार और अभिव्यंजना के नवीनतम प्रकरण लेकर उपस्थित हुए। उन्होंने कई बार कहा है कि उनके उपन्यासों में फ्राइड को बुझना बेकार है क्योंकि फ्राइड उन्होंने बहुत बार में पढ़ा। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि फ्राइड उपन्यासों को उन्होंने पढ़ा था और मुरोग की नई धीप न्यायिक प्रपत्ति से उनका परिचय था। इसीलिए उन्होंने कप-गठन टैकनीक और अभिव्यंजना के क्षेत्रों में नए प्रयोगों से धारम्भ किया। "परल" और "मुनीज" में उन्होंने चारित्रिकता बनाए रखनी चाही परन्तु चरित्र की विस्तृत रूपरेखाएँ देने पर भी उनकी धंधरंग प्रकृतियाँ रहस्यमय और मधुम गयीं। बाद के उपन्यासों में उन्होंने परम्परागत धंध की चारित्रिकता को एकदम छोड़ ही दिया है।

बीनेन्द्र के उपन्यासों में दो प्रश्न प्रतिपाद्यतः पाते हैं—हिंसा-अहिंसा का प्रश्न तथा विवाह और प्रेम का प्रश्न। पहला प्रश्न मांकीवारी विचारधारा में प्रस्तुत है और रबीन्द्रनाथ ने "धरे-बाहरे" और "अनुरंभ" की धीपन्यायिक भूमि पर इस प्रश्न को विवक्षित किया है। बीनेन्द्र हिंसा पर अहिंसा की विजय दिखलाते हैं और हिंसात्मक राष्ट्रीयता को नैतिक पक्ष में दुबल और धारमप्रवचनात्मक मानते हैं। १९१३ में गांधी जी की बुनी बुनीनी ने हिंसात्मक राष्ट्रीयता को सहारा बरका दिया। धनेक एक ठोड़ रिये गए और जालिन्कारों नेता या तो पलायन कर गए या ब्रांसेम समाजवादी एक प्रवक्ता साम्यवादीयों में समा गए। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ने उन्हें हिंसा-अहिंसा के प्रश्न को राजनैतिक भूमि पर उपस्थित करने की प्रेरणा दी। जालिन्कारियों से उनका धंधना परिचय भी था और उनके रोमांटिक मन का एक शोषा उनके लिए बराबर गुना रहा। परन्तु बीनेन्द्र हिंसा में भी बड़ी दूर तक अहिंसा देखते हैं। उनकी धंधरंगता का कारण जालिन्कारियों की प्रेम-सम्बन्धी धारमप्रवचना है हिंसा-अहिंसा सम्बन्धी कोई धंधमार्ग नहीं।

इसका प्रश्न हाथों धाम योगाना प्रुप्त सपनय सभी धाबनिक रूपधाराओं में धिलता है। विवाह संस्थागत है, सामाजिक है। प्रेम व्यक्तित्व। व्यक्तित्व और समाज

संस्था का हृदय बीसवीं शताब्दी की सबसे प्रमुख समस्या है। प्रेम और विवाह के हृदय में यह हृदय छिपा है। मूल समस्या है प्रेम की। प्रेम क्या है ? क्या वह तन का है या मन का है या दोनों का है। मूल से बहुत पहले स्टेनड्रैम ने प्रेम-सम्बन्धी एक सिद्धान्त उपस्थित किया था जिसे उसने "प्योरी प्राफ क्रिस्टलाइजेशन" (धारोफ-सिद्धान्त) कहा गया है। इसके अनुसार प्रेमी के मन में भावी प्रेम-यात्रा का एक कल्पित चित्र रहता है और अपने इसी कल्पित चित्र को वह किसी व्यक्ति विलोप में प्रतिष्ठापित बेचता है। वास्तव में प्रेमी अपने इस कल्पित चित्र से ही प्रेम करता है, अपने प्रेमपात्र से नहीं। मूल में "प्योरी प्राफ ऐबसेन्स" (अनुपस्थिति सिद्धान्त) के रूप में एक नया सिद्धान्त रखा जिसके अनुसार प्रेम कल्पना की व्यक्तिगत सृष्टि है,—इतनी कि प्रेमपात्र के सामने आने पर उसका अस्तित्व ही नहीं रहता। प्रेमपात्र की बहिक अनुपस्थिति अनुपस्थिति निष्पूरण या सतीत्य के प्रति संदेह जिसके फलस्वरूप ईर्ष्याजन्य काम का जन्म होता है प्रेम के स्वाभाविक के प्रतिबन्धक घण्टे हैं। प्रेम में इस विचारधारा को बड़ा भार्यक विस्तृत और क्रमात्मक रूप दिया है परन्तु इस विचारधारा को ठाढ़ी तन से ग्रहण करने पर कस्तूरबाह का सम्मतम और विजुप्युक्त रूप उपस्थित हो सकता है। "सुनीता" में जैनेन्द्र ने सुनीता के सतीत्य को छठरे में ज्ञान कर भीकाण्ट की काम-आपत्ति की जो योजना की है वह ऊपर से ईर्ष्याजन्य नहीं है, परन्तु प्रबन्धन में ईर्ष्या है। मूल और ऐन्ड बीर जैसे समसामयिक कथाकारों ने अपनी रचनाओं में व्यक्तिगत मनस्तरक का विवेकपूर्ण करते हुए संरति को ही प्रमुखता दी है और संरत चरित्र का निर्माण किया है। भीकाण्ट के चरित्र में क्या जन चरित्रों की छाया नहीं है ? त्वागपन और 'कस्याणी' में मुखान और कस्याणी पातिव्रत्य की मुख्य व्याख्या बन गई है। मुखान घसठी रह कर भी परत पुम्प है क्योंकि वह तन ही रैती है और धुर समझ कर देती है और तन मारी नहीं है। 'कस्याणी' में मारी के व्यक्तिगत और सपात्रकत (या विवाह संस्थापक) जीवन का इन्द्र विभाया गया है और इस निम्न में कस्याणी टूट गई है। मन से एकनिष्ठ रह कर भी कस्याणी ने ऐसे व्यक्ति का वरण किया है जो उसे प्रिय नहीं है। वह उससे पत्नीवर्ष विभाए जाती है और विवाहिता मारी का दामित्य पूरा करती है जो कमाती है वह भी उसे ही धर्मगु कपती है स्वतन्त्र जीवन की प्राप्ता छोड़ कर वह जर्म से मन सवाती है परन्तु मूल में वह इस पत्नी वर्ष को पूरा करने के लिए उसे अपने प्रेमपात्र (या प्रेमी) के प्रति भी धार्यप्रर्षक बनना पड़ता है तो वह ज्ञानि से मन जातो है। पति और प्रेमी का इन्द्र 'मुलका' "विचरत और 'अपनीत' तीनों में मिलता है कहीं हिंसा-ग्रहिता के प्रथम से बुझा हुआ कहीं स्वतन्त्र परन्तु प्रेम की रहस्य-अन्धि फिर भी कल नहीं सको है। वह प्रबन्ध है कि जैनेन्द्र ने पति नाम के मारी से पत्नी के प्रति अपरिचीम उदागता की धारीत की है जिससे वह अपने स्वतन्त्र जीवन जी सके और अनुप्य मान के प्रेम करने के प्रथि कार का उपभोग कर सके। फेंक उपग्यासफागे जैनी मूरमरधिता और कलागमिता इन रचनाओं में मन ही नहीं हो इनमें सन्नेह नहीं कि ज्ञान-अज्ञान रण से जैनेन्द्र सिद्धान्त चरित्रा और विवाहोत्पत्ता की उड़ी भूमि पर बन रहे है। टैकनीक क लिए तो वे फेंक कथाकारों के श्रेणी है ही।

जैनेन्द्र की भाषाशैली

जैनेन्द्र के साहित्य में भाषणा का सहज प्राचादिक प्रवाह नहीं है। भाषा भी उनकी पग-पग पर रुकती है। जैसे सतर्क हो संवेचनाशील हो और लज्जालु हो। इससे यह भ्रम भी होता है कि वह बहिर्पक्ष पर अधिक बल देते हैं। यानी टेकनीक पर। परन्तु उन्होंने इस स्थिति को प्रस्वीकार किया है। "टेकनीक" सम्बन्धी एक प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने जो कहा है उसे हम उनकी कला का मूल सूत्र मानकर बल सकते हैं। "टेकनीक तो होती भी है और नहीं भी होती। वह तो अपने भाषा ही भ्रम लेती है। उसके लिए भाषा प्रयत्न नहीं करना पड़ता। कहानी-लेखक किसी बटमा को सत्य को या भाव को अनुभव करता है और सहसा उसे पकड़ लेता है—वह उसके मन में बैठ जाता है। उस इसी बिन्दु से कहानी शुरू हुई और अपने भाषा ही बढ़ती गई। वहाँ खतम होता है वहाँ खतम ही गई

वहाँ जेठे रोका टेकनीक बिगड़ गई। उस समय तो हमें अपनी कसम का वैतृत्व एकदम मान लेना चाहिए, वह वहाँ से जाए यदि मुझे बल देना चाहिए। यदि हमारी अनुभूति सत्य है तो हम निःसन्देह सही रास्ते पर जायेंगे।" (कहानी क्या पृ० ३७३) "टेकनीक" के साथ कला का सम्बन्ध जुड़ा है। "टेकनीक" कला ही तो है। जैनेन्द्र नैति कला समाजापेक्षिता बर्म पधंन छत्र टकनीक धारि सभी उन बग्ननों को जो बाहर से पाते हैं प्रस्वीकार कर देते हैं। परन्तु भीतर का बग्नन उन्हें स्वीकार है। उनके पद्यों में "एक होता है धारमनिबन्धन। वह तो कला में होता ही है। नहीं हो या कम हो तो कला हीनता या कला की मृतता होती है। परन्तु वह वस्तु-यमित है।" (कला नियन्त्रण पृ० २१८) इस प्रकार "टेकनीक" वा कला अनुभूति से परिचित है। सत्य को मूँदना नहीं उसे खोलना ही उसका प्रेम्स हो सकता है। यर्थात् "साहित्य और कला की रचना हमें बग्ननों से उतीर्ण करनेवासी हो सकती है।" (साहित्य और कला पृ० ४३०)

यह है तो कलाकार या साहित्यकार भाषा-शैली अन्य धर्मकार रीति धारि की बिन्ता ही क्यों करे। वह धारमनिष्ठ है तो ये सब अपने को संभाल कर चलेंगे ही। शैली की बिन्ता में अपने को बुझाना बुद्ध है। शैली धारमना का प्रतिदिब है वह तर्क नहीं है। वह व्यक्ति से धर्मिन है। यर्थात् धारमना के अनुकूल हमारे समूचे व्यक्तित्व को बलत जाना

होना। बंसी को व्यक्ति के अनुकूप और बप-भावा को टुक के अनुकूप होना होना।" (बड़ी पृ० ४२६) भाषा प्रयोग के क्षेत्र में जीनेन्द्र कई चीजें बतलते हुए बतलते हैं। उन्हें भाष्य प्रयोगों से अधिक सहारा नहीं मिलता है। व्याकरण की कड़ियों को उन्होंने बखूब बगहू तोड़ा है। अमरबन्धित और असाधारण प्रयोग भी बहुत हैं। उनकी भाषा अतृप्त है। वह सीधे उनके मन को कायब पर उतारती है। वाक्य की रंगीनी उसमें नहीं है। वह तृप्त होती है शुष्क तृप्त परन्तु एकाग्र मोड़ यह बता बैठा है कि यह दार्शनिक की भाषा नहीं कलाकार की भाषा है यद्यपि बोझिलता बर्षक भी उसमें बपहू-बगहू है। कहने का तात्पर्य यह है कि जीनेन्द्र की कला का सबसे सुन्दर रूप उनकी भाषा में देखा जाता है और कला भी यह कि कला नहीं है केवल लगी है। भाषा के सम्बन्ध में जीनेन्द्र कहते हैं "सम्बन्ध जब मुझसे बाहर उठना अपने को नहीं बिना मेरे भाव को कहते हैं तब साफ हो जाता है कि सम्बन्ध और भाषा की बिना अपनी छाठिरे अनावश्यक है। गलत या सही भावनी होता है, भाषा स्वयं बलत या सही नहीं हो सकती। उसका मान तो मुझे और सहृदय पाठक के पास है।" (साहित्य और कला पृ २९८)

"प्रेमबन्ध का मोचन यदि मैं लिखता" निबन्ध में जीनेन्द्र ने प्रेमबन्ध के कलाबन्ध पर भी विचार किया है। उनका दृष्टिकोण प्रेमबन्ध के ठीक विपरीत पड़ता है। जीनेन्द्र बोधें में कहने की कला बतलते हैं। वह बतलते हैं कि धर्मों को नहीं चुक जाना चाहिए।" दृष्टि की भाषा ही सांख्यिक है, ब्यथा मौन दाप बोलती है। प्रेमबन्ध में बहू भी सम्बन्ध सुन्दर है जहाँ में अपने हार मान बैठा और सम्बन्धीनता से सहारा ले रहा।" (प्रेमबन्ध का मोचन पृ ६६) परन्तु तब कहीं यह सतर्कता कदाचित् अवाञ्छनीय है और कहीं कहीं दृष्टि और बोझिल हो जाती है। निबन्ध जैसे सुतलाने लगा है। फिर जैसे उसके कर्म पर बोझ बन गया है। बहू जीनेन्द्र मानसिकता का प्रकाशन करना चाहते हैं बहू यह अपने धर्म-सम्बन्ध प्रयोग में भी अभावधानी बन जाते हैं परन्तु भाषा के सम्बन्ध में यह कृपणता कभी-कभी प्रतिबाह की सीमा तक पहुँच कर अचरने लपटी है। माना कि भाषा रूप-रचना है परन्तु रूप का शृङ्गार क्या सर्वैक ही उपेक्षणीय है? क्या वह धर्म के भीतर हमें नहीं पहुँचा सकता या उसके द्वारा धारणा की किसी-न किसी धरा में धर्मव्यक्ति क्या असम्भव बात है? साहित्य में धर्म-बोध चाहिए, दर्श चाहिए, परन्तु क्या धर्मों की कंकाली से वह धर्म-बोध या दर्श हमें अधिक सुगमता से मिल जाता है। जो ही यह स्पष्ट है कि जीनेन्द्र ने धर्म प्रकार उपमास के अन्तर्बोध के विषय में एक सिद्धांत बना लिया है जैसे उसके अन्तर्बोध बहिर्बोध के विषय में थी। वास्तव में उनकी कला की परिभाषा उनकी उपमास-बहामी की परिभाषा से ही कृती है। वह बोधों बोधों में भावना-मान देना चाहते हैं। परन्तु जहाँ भाषा अतृप्त है वहीं भी है धर्मबोध है बहू यह धर्मों का सहारा नहीं लेती। इसी से जीनेन्द्र का कहना है कि "साहित्य की भाषा की अन्तिम मोर्चम न होकर भी है। व्यक्ति की स्वर्ण नहीं बल्कि ब्यथा उसकी अन्तिम है। (गद-

मूर्खता हो और मूर्ख को सोलता हो। भाषा के सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण रोमांटिक कलाकार का दृष्टिकोण है। जीनेन्द्र की एहस्यमूलाक 'ईस्वट'—बाबी जीवन-दृष्टि और उनके प्रथम भाव-संलक्षण को इस दृष्टिकोण को लेकर बसनेवाली भाषा से बहुत सहारा मिलता है।

कला का एक रूप ऐसा होता है जो सहज बोध को लेकर चलता है। उसमें विवेक बुद्धि के स्वान पर प्रबोधन मन की भाव विकासता को अधिक भाग्यता मिलती है। प्रत्यक्ष के इस सहज बोध को पकड़ना सरल काम नहीं है। मन के भीतर की चींटियों को टटोलते हुए लेखक जब अपने प्रबुद्धमान व्यक्तित्व को बोधप्रिय प्रतीकों और भावमय कल्पना-चित्रों के द्वारा चरित्रों में बाँधता है, तभी वह अपने अंतरात्मिक को निबाहने में सफल कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में भाषा व्यक्तित्व में बुरा जाती है और उससे प्रत्यक्ष किसी भी कल्पना की कल्पना प्रसन्नता बाध जाती है। प्रत्यक्ष लेखक के भाषा-रस की प्रत्यक्ष से विवेकना प्रकल्पित हो जाती है। उसमें बहिष्कृत और बाह्य प्रत्यक्ष और बहिष्कृत, प्रार्थ और प्रार्थ की विभाजन-रेखा समाप्त हो जाती है। जीनेन्द्र के साहित्य में भाषा की यही स्थिति है। वह भाग की नहीं कर्म की नहीं मन की भाषा देते हैं परन्तु यह मन की भाषा विवेकमूलक नहीं है। विवेक में मनुष्य की पराजय है ऐसा जीनेन्द्र मानते हैं। इसी से जीनेन्द्र विद्युत् भाव देना चाहते हैं या विवेकनिष्ठ भाव या नाबलिष्ठ विवेक। भाषा की प्राचीन व्यञ्जना-शक्ति से उन्होंने अपने सिद्धान्तनिष्ठ भाव-अवगु को चिह्नित किया है।

जैनेन्द्र प्रेमचंद, शरच्चन्द्र और रवीन्द्रनाथ के परिपार्श्व में

प्रेमचंद और जैनेन्द्र साधुनिक हिन्दी उपन्यास के दो प्रभु हैं। दोनों में हा प्रभुओं जैसी चिन्मिता है परन्तु उन जैसा व्यसन और केन्द्रीयता भी है। दोनों की साहित्यिक प्रक्रिया और उनके बाह्यत्व की तुलना अबाधनीय नहीं होती। प्रेमचन्द ही जैनेन्द्र को सामने लाये और अपने पाठीबाँध की सारी शक्ति देकर उन्होंने उन्हें अपने उत्तराधिकार छोड़ा और हिन्दी ने उसे माना। स्पष्टतः प्रेमचन्द जैनेन्द्र में कुछ देखते थे। वह क्या देखते थे और जैनेन्द्र से हिन्दी को क्या मिला जो मिला वह प्रेमचन्द को पारबस्त कर सक्ता था या नहीं ये विचारणीय प्रश्न हैं।

स्वयं जैनेन्द्र ने प्रेमचन्द पर काफी लिखा है और 'प्रेमचन्द का योदान यदि वे लिखता' में उनके साहित्यिक वैशिष्ट्य को भी बताया है। इसी लिखे को लेकर हम बँटें।

प्रेमचन्द बड़ी लज्जक हैं। उनकी कतियाँ बड़ी विस्तृत हैं। कई उपन्यास पाँच सौ पृष्ठों से अधिक लम्बे हैं और लोक-जीवन को उन्होंने बड़ी व्यापकता से देखा है। परन्तु अपने भीतर वह कम दूरे हैं। अपने को उन्होंने कम सोला है सम्भवतः छानने का कुछ अधिक था ही नहीं। वह स्वस्थ और सन्तुलित अन्तर्जीवन से सम्पन्न थे। इसके विपरीत जैनेन्द्र उपन्यास-राज में डूबते-डूबते घायल। उन्होंने २ ७-२३ पृष्ठों से बड़ा उपन्यास नहीं लिखा। उनके उपन्यास की पुरानी परिभाषा के उपन्यास कब है वे लम्बी कहानियाँ या मात्र वे "लघु उपन्यास" की कोटि की चीजें हैं। बहिर्जीवन से उनका परिचय अधिक नहीं है। उन्होंने या तो अपने को घाला है या छिपाया है या अपने कथा-साहित्य में अपने को पाने को देखा ही है। वह भावना और कल्पना का सहारा लेते हैं और अपने लोक-ज्ञान को कमी को इनसे पूरा करने हैं। फलतः उनकी साहित्यिक प्रक्रिया भिन्न है। उपन्यास उनमें प्रेमचन्द से भिन्न एक लम्बे हो रूप को ग्रहण करता है।

पारधा की व्यपत्ता और कल्पना की मूक-बूझ प्रेमचन्द में अधिक है। वह कहानी के रूप और एक पीता देने हैं उनके त्रिजिह्मी कलम के जोर से उनके रवीन्द्रनाथ

उठते हैं। परन्तु उनमें तीव्रता उठनी नहीं है। विस्तार अधिक हो गया है। कैसाब स्वाभाव है महानता-गहराई कम। जैन-मनो-दुर्बलता को जागते हैं। बाहर के संसार को उठनी स्वायत्तता से आगता उनके लिए कठिन है। फलतः उन्होंने अपने लिए विद्व-वर्धन बना लिया है। जो विद्व में है; बड़ी ब्रह्माण्ड में है। इसीसे सारे मनुष्यों को पढ़ना ठीक नहीं न पढ़ा ही जा सकता है। कुछ पर से ही सब को पढ़ा जा सकता है। फलतः जैन-मनो के उपन्यासों में न पात्र बाहुस्य है न यत्ना-विस्तार। कुछ इने-विने पात्र है। लोगों में तो बार्ध पात्र तक कहा है। और को होता है। यह बाहर से अधिक भीतर मानी मन में होता है। इस प्रकार उनके कथा-साहित्य की कोटि प्रेमचन्द से भिन्न हो जाती है, एकदम नई कोटि। इस बात को स्वयं जैन-मनो ने इस प्रकार स्वीकार किया है (पार्श्व की) संख्या की अधिकता अथवाहम में सहायक नहीं भी होती महानता विस्तार में छिप जाती है और दुःख रूप प्रदुःख गुण से प्रभाव ही जाता है। उससे समाज का और समय का विश्व तो मिलता है, पर धारणा की उठनी गहरी अनुभूति कदाचित प्राप्त नहीं होती। मुझे ठीक नहीं भाग्य कि साहित्य का क्या लक्ष्य है यह हमें वस्तु-बोध देने के लिए है कि धारण प्रकाश देने के लिए। साहित्य का जो भी दृष्ट और उचित हो स्वीकार करना चाहिए कि मरी अपनी इच्छा विविध आनकारियों के प्रति उठनी नहीं है न बन्धन के विस्तार के प्रति। परिचय अधिक से न हो किन्तु अविश्रुता कुछ से भी हो तो मुझे यह बड़ा लाभ जान पड़ता है। बहुरय भिन्न एक हो तो अथवा कौमल ही आन-वहचान बालों से मेरे लिए पयाबा हो जाती है। निरन्तर प्रेमचन्द हमें बहुत देते हैं उठनी तरह-तरह की आनकारियाँ देते हैं कि हम समा नहीं सकते। लेकिन एक दृष्टी तरह की उपसर्ग भी है। बौद्धिक से अधिक उसे धार्मिक कहा जा सकता है। यह व्यथा को सचनता के रूप में मिलती है। (प्रेमचन्द का पौदान यहि में लिखता पृ २१२-२१३।)

प्रेमचन्द का साहित्य में बसतम्य स्पष्ट है। यह सोह रूप है। सब कुछ सत्-असत् में बैठा है। बर्मी पूर्ण है नास्तिक सम्मन है। बर्न है और उनमें परस्पर स्वर्ण है। लेखक को यह साफ करना पड़ता है कि यह किसके साथ है। और नहीं तो अति-विश्रुत में यह दृष्टिकोण मूलकता स्पष्ट हो जाती है। प्रेमचन्द सामाजिक शक्तियों के बात प्रतिपात को अविश्रुत सम्मन है और प्रयत्नशील शक्तियों को धामे बढ़ाते हैं। यही बात उनका है। परन्तु जैन-मनो स्वायत्तकारिक नहीं है, उनका प्रारम्भिक रोमांच संश्लेष है, किन्तु अन्ततः उद्यम कम है या है ही नहीं। यह उद्यम पुष्टा है। समाज की विषमताओं और समस्याओं से यह परिचित है परन्तु उनके प्रति सम-द प सेकर यह कथा की दृष्टि नहीं करते। प्रेमचन्द ने "बोबाल" में होरी का सामाजिक अन्तर्गतों का शिकार बनाया है। परन्तु जैन-मनो यह है 'मेरी कोशिश होती कि दिखाता कि सब बीके शिकार ही है और बुधा एक-दूसरे की शिकार बनाने का प्रयत्न करते हैं। अन्त में शक्तियों निर्बल निरुक्त है और उनमें सत् के साथ उद्यम और असत् के साथ लड़ने के लिए सहानुभूतियों

का संस्कार करने की जरूरत नहीं है। (वही पृ २३६) यह उदरवृत्ता धीर वैज्ञानिकता ही जैनेन्द्र के उपन्यासों को सजीव और सजीव नहीं बनने देती। उपन्यासकार सांस्कृतिक नहीं है, वैज्ञानिक नहीं है, निर्बलविकृत व्यक्तियाँ भी उपन्यास की धनुभूति में बंधित रूप ग्रहण कर लेती हैं। राम-के-पमूनाक जागतीय भाव ही मूल धीपन्यासिक भाव है। उसे बना कर हम उपन्यास को गीरस और बड़ ही बना सकते हैं। इसी से जैनेन्द्र ने उपन्यासों में सांस्कृतिक नहीं है। उनमें सिद्धांतवादिता का बमस्कार ही प्रबिध है।

मनोदर्शन और विद्यतेपण उपन्यासकार की बौद्धिक परब क प्रमाण है। प्रेमचंद में ये तत्व उतने प्रबिध नहीं हैं जितने सारब में परन्तु इनका नितान्त प्रमाण भी नहीं है। शरिण के मूच इन्ही दोनों तत्वों पर आधारित रहते हैं। परन्तु जैनेन्द्र उनके प्रतिपादन में कुछ भी निश्चित कहने से बचते हैं। कहते हैं कि 'साव प्राशिर हमारा अनुमान है। क्या उसके धाने प्रबन-बिन्धु नहीं है? इससे कतिपय मर बेना विधान नहीं'। (वही पृ० २३४) यह हीक है कि हम प्रपमो को भी पुरा नो जानत धपने को नो धबुल ही जानते हैं। परन्तु यह जीवन की विपनतामता है। उपन्यास जीवन से कुछ भिन्न है कुछ कम है कुछ प्रबिध है उसमें जानकर ही बना जाना है। उपन्यासकार का सज्जता का शारा भने ही प्रमत हो आभक हो परन्तु धाना मृष्टि से वह सुपरिचित क्या नहीं रहे। किसी भी व्यक्ति का समस्त संदर्भहिर हमारे सामने नहीं धाता। फलतः हमारा प्रगमन भी हमारे लिए धबेय है। परन्तु उपन्यास के पृष्ठो में जो शरिण उमरते हैं उनके प्रतर्बहिर हमारे सामने इतनी पूर्णता से क्यों नहीं व्यजित हो सके कि हमें जानने को कुछ धैय नहीं रह ? वास्तव में प्रज्ञान बचन का विषय है कसा के धन में उसे धारोपित करने पर उलभन ही बड़ेमी।

दोनों के विरल विधान में ही धरणी-प्राधान का धंतर है। प्रेमचन्द तुषकर कहते हैं जैनेन्द्र मीन की बसा में सिद्धहस्त है। यह देते कम है छिगाते धभिक है। उनमें व्यजना का एरुधय है। प्रेमचन्द की बाहुनी भापा उम्हें नहीं प्राप्त है ? उनही बसम को बादसात्त से वह धपरिचित है। प्रेमचन्द की मरी-मुगी प्राधारिक धस्तुड मुतर भावप्रबन भापा-सीली जो सविध सांगोपाय बाठ बहूनी है जैनेन्द्र को नहीं धिनी है। यह कही कही प्रेमचन्द की कसा की दुर्बलता भी पा गई है परन्तु वही उनकी गबसे बड़ी प्रबिध भी है। उसने सज्जता है आयरुपाता है, प्रबलता है परन्तु धरणी बनाबट नहीं है। जैनेन्द्र में भी बनाबट नहीं है यह विरल धीर टेकनीक से भावत है, परन्तु मरल धनधर धटपटी भापा में वह धभिकीय दुर्बल्य ही रह है। उम्हने भापा को गध से ऊपर उठने नहीं दिया। उस पर बाधनिबता का बोध बावकर उने पंगु नहीं कर धामा। क्य रंग धाधार प्रकार प्रवृत्ति धिनी को भी भापा की विध-मक्ति देकर उम्हने म्हा उभारा। विचारों का कसाव धीर भावनाओं का विरुधेड ही उनही भापा-सीनी में हमें धिये। यह तो है कि जैनेन्द्र की भापा विचारानुबक है परन्तु वह जीवन में नहीं धाती रमी स

सीमात को छू कर बनी जाती है। उसमें अपने हृदय का 'ठेठ हिस्सी का ठाठ' है। सुनो और मुक्तिपथों में उतरी भाषा को बह-बह बमका दिया है परन्तु वह हमें फिर भी घासस्त नहीं कर सकी है। हम उसके प्रति बराबर संकासु बने रहते हैं। अपने भाषा सम्बन्धी दृष्टिकोण के विषय में उन्होंने स्वयं लिखा है 'मुझे व्याकरण की चिंता पढ़ते समय बहुत नहीं रहती। भाषा की शुद्धी का या उसकी शिथिलता का ध्यान उसी के ध्यान की गरज से मैं नहीं रख पाता। भाषा की कृषी या कमी को सम्पूर्ण वस्तु के मर्म के साथ उसका किसी न किसी प्रकार सामंजस्य या वैषम्य बिठाकर मैं लेना चाहता हूँ। घबराहूँ नहीं कि मैं उस ओर नितांत उदासीन या धर्मापीन रहना हूँ, परन्तु नहीं समाप्त करके नहीं बैठ रहता। (प्रेमचन्द की कला पृ० १००) यह स्पष्ट है कि प्रेमचन्द की भाषा कला जैनेन्द्र की भाषा कला से भिन्न स्तर की थीज है। जैनेन्द्र में भाषा को भीतरी तरह से घसन करके देखा है परन्तु बाह्य में वह भीतरी तल के साथ चलती है। प्रेमचन्द की बात निर्णित कृषी निश्चित होती है इसलिए कि प्रेमचन्द का घंटा-रंग भी निर्णित कृषी और निश्चित है। वंसा जैनेन्द्र का घंटा-रंग भी है पैदा रहने में संकोच होता है। प्रेमचन्द जिस प्रकार पाठक को विश्वास में ले सते हैं उसी प्रकार जैनेन्द्र कम चलते हैं यही तो भाषा का मेर हो जाता है। प्रेमचन्द के पाठों के साथ हमारी सहज जाग-ग्रहण रहती है। जैनेन्द्र के पाठ प्रबुद्ध रह जाते हैं। वे बुद्धि-प्रयोग के साथ भी रहस्यमय रहते हैं। लक्ष्य है जैसे लक्षक ने बुद्धि की पराजय विजयाने के लिए ही एकता निर्माण किया है। इसी से घटकित बात करते हैं और उनकी भाषा की सरलता भी हमारे लिए दुस्वभावा बन जाती है।

जैनेन्द्र की उपन्यास-कला में पाठक के प्रति एकदम अपेक्षाभाव नितांत प्रबलतम स्पष्ट है जो उनके और पाठक के बीच में बार-बार घा जाता है और सहज रस-बोध में व्यवधान ही पैदा करता है। प्रेमचन्द में यह निरपेक्षता बारा भी नहीं है। वह हमारे कुछ कुछ के साथी है हमारे पत्र प्रबर्धक है। जैनेन्द्र में वह बोध नहीं है। वह बीच-बीच में कला की कड़ी छोड़ देने को कला मानते हैं। पाठों का उठना ही कम वह पैसाते हैं जो उन्हें बाधित है। वह हमें बूबने-उठाने बेंते हैं। उपन्यास या कथा के द्वारा वह पाठक को प्रभावित करना चाहते हैं और उत प्रभाव की बृद्ध करने के लिए बहुत कुछ किया जाते हैं। वह चाहते हैं कि पाठक उत्तर्क और उद्बुद्ध होकर अपने प्रवाह में बह नहीं पाये। परन्तु उद्बुद्ध और जागरूक पाठक घण्ट में कड़ी पहुँचना भी चाहता है। नहीं पहुँचता तो धीम से सर उठता है। जैनेन्द्र उस बोध को बचाना नहीं जानते।

प्रेमचन्द उपयोक्तिवादी नहीं है। वह जीवन के विकास के कला का पस्ता पत्रते हैं। जैनेन्द्र स्पष्टतः उपयोक्तिवादी नहीं है, परन्तु वह कलावादी भी नहीं है। उन्होंने अपने दृष्टिकोण के सम्बन्ध में लिखा है "मुझे कहना हो तो नहूँ—घण्टे प्रकार घाट स मरु घर्षान् परमारामा के प्रति सरप के प्रति कलाकार का शक्ति है। इनको

कलाकार जब समझेगा तो पाएगा कि उसका घरने पंगल के प्रति शक्ति है। इसलिए वह पाठक-समाज की बारछाओं की ओर से निरपेक्ष घोर निरिक्षण होकर अपने प्रति सच्चा रहकर अपने को प्रकट कर सकता है। एक व्यक्ति समाज या पुस्तक के पाठ की भावनाओं की रक्षा के निमित्त अत्यंत साहस हो उठने का कलाकार को अधिकार नहीं है। हम सम्भव में उठे अत्यंत निर्दुःख होकर चलना पड़ता है। जिस प्रकार परमात्मा अपने विद्वान का संवाहन हमारी दुम्हायी परिमित समझ को देखते हुए, अर्थात् निरकृत होकर रहते हैं " (प्रेमचन्द की कला पृ० १०४) "छार के छक में चलने वाली बुनिया की तुष्टि के लिये घोर उसके अर्ध-अभयन के लिये कलाकार नहीं लिखता। इसी से कहा गया चार छार घाट स मरु — अर्थात् कला का हेतु स्वयं कला है। किन्तु इनका ही सम्पूर्ण परिष्कृत रूप है घाट छार गाहूँ सेक घोर इनका अभिप्राय है कि कला अर्धव्ययी बुद्धिवादी बुनिया को लक्ष्य करती या रखने की क्षान्ति नहीं होती वह गाहूँ अर्थात् सत्य की प्रतिष्ठा के लिये होती है।" (वही पृ० १०२)

छार के अक्षय्यों में सत्य का प्रतिष्ठा घोर अपने प्रति सच्चा रहने की बात नहीं पाई है। परन्तु यह "सत्य" क्या है कदाचित् लेखक का अनुभूत सत्य ही। यदि "सत्य" अनुभूत सत्य से अलग नहीं है तो प्रायः लेखक का अनुभूत सत्य क्या अर्थ नहीं होना? हम प्रकार क्या कला-रस में अत्यन्तता का मूलन सम्भव नहीं है। यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र सत्य के बौद्धिक रूप को ग्रहण नहीं करता चाहते वह भावना के सत्य को प्रकट करना है। यत्नस्वरूप वह जीवन की एक-सम्पन्न अनुभूति न देखकर हमारे सामने जीवन की भावमय घोर अतर्कित नवान् तुष्टि देते हैं। इस प्रकार वह सर्वत्र बम जाने हैं। यह "सर्वत्र" या "विधाता" उनका अर्थों के क्षेत्र में प्रतिष्ठित है। घटनाओं घोर पाठों को वह अत्यन्तविधि मोड़ दे देता है घोर हम अत्यन्त रह जाते हैं। स्पष्ट है अपने कथा साहित्य में जैनेन्द्र हमें जो "सत्य" देते हैं वह उन्हीं का सत्य है जैनेन्द्रिय सत्य है उनका कथन सैद्धांतिक स्थिति मात्र है, — या वह सत्य का अर्ध-भाव है। हमने अर्थक रूप उठे क्या समझे।

अपने प्रति सच्चा रहने की बात भी बुद्धि की परक में नहीं आती। यह अपन क्या है जिसके प्रति लेखक सच्चा रहना चाहता है। अपना" यानी अपनी आत्मा अपनी भावना अपने संस्कार। एक शब्द में अपना व्यक्ति। परन्तु व्यक्ति में मन के अंततः अत्यन्तत दोनों अर्थ हैं। जैनेन्द्र बुद्धि को मनुष्य की शर मानते हैं। अर्थात् अन्त मन अन्त अत्यन्तत मन प्रकृत हा जाता है। स्वयं जैनेन्द्र ने "अत्यन्तत" न कहकर "ईश्वर" कहा है। वही बुद्धि हात्नी है वही ईश्वर-बोध बीजना है। परन्तु ईश्वर के धा जाने से जैनेन्द्र का अर्थ ही मनुष्यवत् होती हो इसमें उनका पात्र सत्य नहीं हो पाते। बुद्धिबल नवा ही रहता है। इससे जैनेन्द्र उन मनोविश्लेषणों की परक में बच जाते हैं या उनके साक्ष्य में बुद्धि आन्तरिक स्वयं आन्तरिक भाव देगा है।

प्रेमनन्द मन के उपयोग और सामाजिक निष्ठा एवं मानव-भाव के कारण स्पष्ट ही प्रेमचन्द प्रबुद्ध नहीं है। वह ईश्वर की सृष्टि के व्याख्याता हैं स्वयं ईश्वर या विधाता बनने का उपक्रम वह नहीं करते। उनके साहित्य में "कर्म" प्रधान है "भाव" प्रधान नहीं है। इसीलिए उनमें कुतूहा अधिक है, सूझा कम है। जीनेन्द्र की तरह ऊपर-ऊपर पर ईश्वर को पेश नहीं करते। उन्होंने बड़ी बिनमता से कह दिया है कि वह ईश्वर पर विरवास नहीं कर पाते। परन्तु वह मनुष्य के प्रति पूर्ण भास्वाभाव है। जीनेन्द्र में मनुष्य के प्रति यह भास्वा कहा है ? किन्तु है ? घंटा स्व सत्य या ईश्वर के आभासी होते हुए भी उन्होंने प्रेमचन्द से अधिक बीबनास्वा क्या उगाठी है।

प्रेमचन्द और जीनेन्द्र के साहित्य का एक अन्तर यह भी कहा जाता है कि प्रेमचन्द सामयिकता से बंधे हैं और जीनेन्द्र मानवीय चेतना के शाश्वत तत्त्वों को लेकर सामने आते हैं परन्तु निश्चय रूप से प्रेमचन्द अपने पात्रों में सामयिकता की परिधि को माँच गए हैं। जीनेन्द्र की आशयतोपासना विद्युत् की उपासना बन गई है—खुदस्वयम घोर इतिहासीत। उससे क्या साहित्यरस प्राप्त करना सम्भव है। वास्तव में सामयिकता के भीतर सार्वभौमिकता या शाश्वत की घोर खाना ही एकल उपभ्याल-कला है—जैसा किन्क्य मे है टम्सटायम और गोकी में है केवल भाव आशय तत्त्व या चिरंतन सत्य आर्चनिक का बुद्धि विज्ञास है। वह ही भी या नहीं ही है, इसमें भी संशेह किया जा सकता है। जिन समस्याओं को जीनेन्द्र ने उठाया है वे उठे हैं—आहिता विबाह और प्रेम समष्टि और व्यष्टि वह भी जिन समाज-भूमि पर मित्रार्थ रखती है। शाश्वत और चिरंतन तो एतनाच ईश्वर ही है और ईश्वर कला का विषय नहीं है। इसी से जीनेन्द्र की पग-पग पर ईश्वर की बुझाई हमें हास्वास्वद लगती है, यद्यपि वह बर्ममाण पाठकों को मुझाने में बाल सकती है। सर्वकालीन और सर्ववैश्विकतना मानव-बोध के द्वारा ही ही जा सकते हैं। वह चेतना प्रेमचन्द के उपभ्यासों में भरपूर है। विराट मानव प्रेम अपरिशीम कल्पना मनुष्यनीय मानव प्रसमाप्त सहृदयता से यदि उच्च साहित्य कं ट्रुण है तो प्रेमचन्द में हमकी कमी नहीं है। इसके लिए प्रेमचन्द को आर्चनिक नहीं बनना बड़ा प्रबुद्ध नहीं होना बड़ा। यह चिन्ताभूतक है न अर्धयन-प्रसूत। यह उनकी प्रकृति ही है। जीनेन्द्र का आत्म-बोध केवल-भाव उनके व्यक्तित्व में सिमट कर संकीर्ण बन गया है और प्रेमचन्द का सर्वबोध उनके व्यक्तित्व को गूट करके सर्वव्यापी बन गया है।

सब तो यह है कि प्रेमचन्द और जीनेन्द्र के उपभ्यास को विभिन्न बोटियों की रचनाएँ हैं और उनकी यह विभिन्नता हमें मात्र मुक्त-कण्ठ से स्वीकार कर लेना है। ऐसा न करने तो या तो हम प्रेमचन्द के साथ अग्र्यास करेंगे या जीनेन्द्र के साथ। दोनों कलाकारों में व्यक्तित्व भाव भाषा सर्वत-अक्रिया उग्रोच—सब बचसे है कहीं-कहीं विरोधी भी है। एक को बड़ा बहादुर बूढ़े को छोटा करना ठीक नहीं होया। उपभ्यास बड़ी लक्ष्मीनी साहित्य-कीर्ति है। उसमें दोनों घना सकते हैं। दोनों हिन्दी के हैं वह क्या

हिंदी के लिए सर्व करने की बात नहीं है। जैनेन्द्र की निर्व्यक्तिक सत्यान्वेषी भावप्रवण जीवन दृष्टि क्या प्रेमचन्द की व्यक्तिनिष्ठ समाजमूलक प्रावर्धबाधिता की पूरक नहीं है। क्या प्रेमचन्द के बहिर्बोध का बर्ण-सौन्दर्य जैनेन्द्र के मानसिक बन्धु के बिचक्षण भाव विन्यास से कम रहस्यमय है। प्रतिभा के घने कल्प हो सकते हैं। उन्हें हम छोटा-बड़ा क्यों मानें? इस मूममूत अन्तर को दृष्टि में रख कर ही हम प्रेमचन्द और जैनेन्द्र पर बर्षा करें।

अपनी रचनाओं में जैनेन्द्र ने अपनी रचना प्रक्रिया के सम्बन्ध में भी काफ़ी बहस है। प्रेमचन्द के साहित्य में जीवन का नैर्ऋत्य सामने आता है। अच्छे साहित्य की यह बात है कि कर्ता अपनी कृति से "तथात्म" हो जाए। यह बात प्रेमचन्द के साहित्य में है। वह वस्तु-जगत् के बिचकार होते हुए भी अपनी कृतियों से एकरस हो गये हैं। उनमें प्रेमचन्द के व्यक्तित्व का सर्वभ्रष्ट प्रथम सुरक्षित है। जैनेन्द्र के साहित्य में जीवन से तथात्म्य का यह का नहीं मिस्रता। उनमें बहिर्दृष्टर जीवन का भेद मिट गया है। उनके प्रस्तरंग ने ही बहिर्दृश्य का निर्माण किया है। फिर भी उनका कहना है मेरी धीर मेरी कृति का सम्बन्ध दूरी का नहीं है। एक तरह वह सम्बन्ध घमिम्भता का है। लेकिन जो तार हम दोनों को जोड़े हुए है वह एकरस प्रवृत्त्य है। इस तरह उठे प्रसन्न कहना चाहें तो कह सकते हैं। रोमांचिक होना मुझ स्वीकार है। उनमें कर्ता धीर कति का सम्बन्ध प्राचीन ही रहता है। रोमांस का सम्बन्ध सबोध है कृत्रिम नहीं। कोरा विमर्श का सम्बन्ध बाकर कविता का आता है। उसमें सेलक धीर उसके सेल के बीच में प्राचीनता का प्रसन्नता पड़ सकता है।" (मे धीर मेरी कृति पृ १२२) इस प्रकार उन्होंने अपने व्यक्तित्व और अपनी रचनाओं को बताना धीर अनुभूति के मुख्य स्वर्ण-तारों के द्वारा आइना बाह्य है। कहना यह है कि उनकी रचनाएँ बौद्धिक नहीं हैं उनमें प्राणानुभूति का तत्व है कठोरता है, मरुत है। एक राज्य में उनमें उनका अंतर्जीवन ही व्यक्तित्व प्रतीकों धीर प्रतीक अटनाओं के द्वारा अनुपलब्ध है। प्रेमचन्द के साहित्य में उनका मानवीय व्यक्तित्व ही अमरता है जो उनके द्वारा बिबिध बहिर्जीवन को संयमित निवमित मुमुम एवं प्रावर्धनित्य बनाता है। उनमें उनके भीतर की दुम्भियाँ नहीं विन्याई पड़तीं। सब तो यह है कि प्रेमचन्द के निरुत्तम व्यक्तित्व में भीतर की प्रथियाँ ही हो रही। जैनेन्द्र बिच अंतर्जीवन कहते हैं वह उनकी भावुटना प्राणमर्कटा धीर प्राण-हीनता ही तो नहीं है। वह भीतर की दुम्भियों का ही तो निरपेक्ष भाव से सामने नहीं ला रहे हैं। इस बचनम्य से कुछ हम प्रहार की संज्ञा होनी है कि जब वह हम ममरया का अन्तर बर्णन की प्रवृत्त प्रवृत्तियाँ ही बचाने समने हैं तो एक प्रकार से साहस घूट जाता है। अपनी रचना का प्राणत्व धीर प्रणम्य-मंडबिच बतलान हय भी जब वह कहते हैं 'सेलिक कति कर्ता में बंद तो नहीं। वह कर्ता में अंतमूत होकर स्वयं भी कुछ है। हमने कति का घेय कर्ता को है यह मुझे नहीं लगता। सब तो यह है कि सोचने पर बार कतिव ही

मुझे धपने में प्रतीत नहीं होता। लोग कहने वाले मिलते हैं कि वह कृत्रिम परिचित्वि में है। और परिचित्वि धपने में भी कुछ चीज होती है। किन्तु धपनी कृति का कर्ता मैं धपने को मानूँ तो यह भी मानना पड़े चायगा कि मेरे मरने के साथ उन्हें भी की नहीं जाता है। यह मानना और झूठकार होया। यानी मेरी कृति मेरी ही नहीं है जबतू और जगदाधार का उसमें हाथ है।" — जो कदाचित् कहना यह है कि वह (जैनेन्द्र) धपनी कृतियों से बड़े हैं उन्हें रच कर उनसे निर्मित हैं — कि उनके साथ रचना का निरलेख सम्बंध है और वह उनके बाह्य खेपी तो उनके प्राथम्य नहीं किसी ईश्वर के प्राथम्य। यहाँ भी जैनेन्द्र का ईश्वर घाता है और हमें भीन कर देता है।

प्रेमबंध किसी ईश्वर के नाते या उसकी प्रेरणा से रचना नहीं करने बैठते। वह भीतर की सद्भावना से प्रयाहित होकर बाहर देखते हैं और वहाँ उन्पी इन और विषमता पाकर भाव-विमोह हो लेखनी उठाते हैं। विवित करते हैं वह बाहर का जबतू परन्तु यह वह बहिर्जगत उनके धंतर में बुलभित कर उनका धपना हो गया है। ईश्वर की उन्हें कोई जरूरत नहीं पड़ती। बाव यह है कि जैनेन्द्र ने धपने निबंधों में धपनी रचनाओं और प्रेरणा-स्रोतों को बुद्धिमत्त बनाना चाहा है और बुद्धि की सूक्ष्मता ईश्वर पर समाप्त होती है। जैसे उनकी रचनाओं के बौद्धिक विम्यास के पीछे उनका माबुद (भावप्रवाह) धमतिबीबी व्यक्तिमिष्ट भाव ही विराजमान है। यही वह उनके कर्ता और उनकी कृति के बीच का सूत्र है। इसे ही धम से जैनेन्द्र ने 'ईश्वर' कहा होगा। नहीं तो यह ईश्वर उपम्यास-कसा का मुजाधार कैसे होगा। परन्तु वह स्वयं है कि मूल के इस 'ईश्वर' के सम्बंध में प्रेमबंध और जैनेन्द्र दो मुर्खों पर बड़े हैं।

धररत्नर जैनेन्द्र के उपम्यास-साहित्य के धंतरंग में प्रतिष्ठित हैं और सामान्यतः पक्क में नहीं पाते। रबीन्द्रनाथ के साहित्य से भी जैनेन्द्र कम प्रभावित नहीं हैं, "सुनीठा" पर "बरे-बाहरे" के प्रभाव को उन्होंने स्वीकार किया है और "परब" में "ओलेगबानी" की धाना है तथा अतुरंग की बस्तु और सीनी का ध्यापक प्रभाव बाव की दो रचनाओं "बुधबा" और "विचर" पर है। परन्तु धरर का प्रभाव अपेक्षाकृत सूक्ष्म है। बास्तव में जैनेन्द्र के साहित्यिक व्यक्तित्व के निर्माण में धरर का योगदान ही कदाचित् सबसे अधिक रहेगा। उनके साहित्य-सम्बंधी धादर्यों एवं मान्यताओं पर ही धरर की धाप स्पष्ट है। बीना उन्होंने "ये और ने" संकलन में प्रकाशित "धररत्नर बट्टोपाध्याय" धीर्वक निबंध में लिखा है कि उन्होंने "धररत्नर का नाम जीवन में बदरी नहीं धाना। कितारें बड़ी भी धीर पढ़कर मन हिल गया था। उनकी कोई कहानी धायब ही बिना स्माए रही हो।" धररत्नर का स्मरण करते हुए उन्होंने लिखा है। "मध्मनी धीनी बड़ी धीनी परिछीठा परिठ भी चरबाय विजया धारि मन की इनी स्थिति में मेने बरी। पढ़कर धरर की बंमनी और बड़ी धीधियां टीक-टीक धानो धीनी ही धीधियां मेरी भी बन

पाई थी। चरित्र के पंडित जी चन्द्रनाथ बिजया एवं श्रम्य पात्र मेरे मन के दिक्कट बहुत बलिष्ठ और प्रत्यक्ष बन-बन जाते थे। उनके बुद्ध के साथ मेरे मन में रोना उठता था। जी में प्रकृमाहृत होती थी कि हाथ इन (पात्रों) पर लड़नेवाली विपदा कैसे हो कि सब की सब में खेलू। सहानुभूति ऐसी उमड़ कर उठती थी। (मेरे हाथों पृ० १८) वास्तव में चरित्रग्रन्थ के साहित्य में जी जीरा हूँ सबसे अधिक सूती है वह उनका आत्म-दान है जो कि गतिदायुता बन कर उनके कथा-पुस्तों में मूरि-मूरि प्राप्त है जो पाठक को अमलकत करने में प्रयत्न बहुत न जाते में समर्थ है। जीनेन्द्र का यह अनुभव चरित्र के सभी प्रेमियों का अनुभव रहा है 'अपने अम्यन्तराभ्यन्तर में से क्या कुछ बालकर चरित्र ने अपने पात्र-पात्रियों को ऐसा सजीव और प्रत्यक्ष और प्रेरणामय बनाकर हमारे सामने प्रस्तुत किया कि हम मानों अम्यन्त्र कत्रार्थ भाव से धरना भी उन (पात्र-पात्रियों) की मुट्ठी में दे बैठे। हमारे मन की बड़बूझ परधयता में अहंकार-अहित हमारे माना नकार-नियंत्रों में चरित्र के किस अत्यन्त बल की ठेग सयी कि गलत कर बहने की हो पये और मन आनंद हो धाया। किम भाति यह हा सका जानना कठिन है। पर इसके अनिश्चित जानना ही और क्या है?' (वही पृ १०५ १) इसीलिए चरित्र को पढ़कर सृष्टि नहीं होती।

जीनेन्द्र चरित्र को अमलकत कहना नहीं चाहते क्वाकि कला की अनुभूता उनमें नहीं है, आत्मदान है। यह आत्मदान भी कैसा कि 'जान पड़ता है उन्होंने अपने भीतर कुछ नहीं छोड़ा बूँद-बूँद दे जाता है।' चरित्र के साहित्य में बहिरांतर एक हो गया है क्योंकि 'चरित्र ने अपने भीतर के दुर्लभ को उपलब्ध करने की राह में उसे हमारे लिए भी यत्किंचित् मुसम कर दिया। उन्होंने अपनी रचनाया शाय जो चाहे पाया हो पर हमने तो उनमें बहुत-कुछ अपना मर्म पाया। चरित्र ने अपने को देकर पाया है।' (वही १०६) इस प्रकार चरित्र का साहित्य अमलकत है अमलकत ही वह हमारे मन को छूता है। इस निबंध में चरित्रग्रन्थ और रवि बाबू के साहित्य की तुलना करते हुए अमलकत ने यह इंगित किया है कि रवीन्द्रनाथ का अपने पात्रों से बिगुल प्रेम का ऐक्य नहीं होता बीच में कहीं अनौचित्य को आ सुनने के लिए बुलबुल भी होता है अर्थात् वे अपने पात्रों के प्रति और अमल के प्रति प्रेमी से अधिक भीमान (इंटेन्सिबुस) हैं। चरित्र अपने पात्रों और अमल के प्रति एकरस है। वे जैसे आत्मबल है। चरित्र के पात्रों की अमलकता का कारण जीनेन्द्र यही मानते हैं कि वे अह-विष नहीं हैं सजीव हैं उनका धनना अचल धनना स्वभाव है। वे निरम-निर्मित नहीं हैं और उनकी सृष्टि का कारण चरित्र की अपनी आत्मा है जो देवाकाशागत मूल्य अमल और प्रेमरस से घोल प्राप्त है। अमानेकदम रवीन्द्र की रचनाओं में नहीं है।

चरित्र के अमलकों को बीच सब से अधिक महत्त्वपूर्ण और विवारी है वह है उनका बुद्धिबल। चरित्र जीवन को अति बुद्धि से देखते हैं उनमें परंपरागत नैतिकता का कोई

सम्बन्ध स्वाम नहीं है। नीति-धनीति की सूत्र परत है जो हमारी बँधी-सघी चारगायों की बिगोभिनी है। यही सार्व की अतिकारिता है जो उनके साहित्य को बुनीती से भर देती है। 'साहित्य और नीति' शीर्षक अपने निबंध में उन्होंने उस चारणा का विरोध किया है जो साहित्य को धार्मिकवाद और यथार्थवाद की दो लंग गल्पियों में बाँट देती है। धरत साहित्य में जीवन को सारी भँकी देखते हैं। इसी से वे धीपम्यासिक वैविक्तता को सामान्य नीति-धारणा से विभिन्न मानते हैं। वे कहते हैं कि मैं दो सम्बन्ध प्रायः मुने जाते हैं प्राइवैलिस्टिक (धार्मिकवादी) और रिवालिस्टिक (यथार्थवादी) कहा जाता है कि मैं धुधरे संप्रदाय का संकल हूँ। यह दुर्नाम ही मरा धनन करक निजा जाता है। प्रा-वस्तु मनुष्य की सृष्टि है वह मेजर (प्रकृति) नहीं है। सगर में जो कुछ घटित होता है—धीर धनेक मशी बतों मी बटिठ होती है वह किसी तरह साहित्य का उपादान नहीं है। प्रकृति या स्वभाव की हू-बहू गफस करना फोटोबाकी हो सकती है, किन्तु वह क्या सखीर होती? वैमिक धलबारों में धनेक रोमाञ्च सत्सन्ध करने वाली मयानक बटमाएँ बटती हैं वह क्या साहित्य है? धरिष की सृष्टि क्या इसनी सङ्घ है? (सार्द-निबन्धावली पृ० ८५) इसी पुस्तक में साहित्य और धाट में बुनीति की व्याख्या करते हुए उन्होंने बतलाया है कि धार्मिकवाद और यथार्थवाद दोनों साहित्य में रूते हैं मलेक रचना में रूते हैं हाँ कि कौन किधर किठना धुट कर बतया यह साहित्यिक शक्ति पर निर्भर है। वे यह मानते हैं कि इनमें से एक को बर दे कर धुधरा नहीं होता। बास्व और धास्व के सम्मिश्रण से वे पाव गङ्गे की धात उठते हैं परन्तु साव ही यह भी कहते हैं कि इसमें धधार क्या धपरिधीम सङ्घामुठि धीर धुधय का धजन रण-सोड धामने से ही धरिष प्रस्फुटित होते हैं। 'उसमें सुनीति और बुनीति का स्वाम है किन्तु विचार करने की बयह इसमें नहीं है।' (वही पृ ८६) धनीति को लेकर धेष्ठ साहित्य नहीं बनता तो प्रबलित नीति भी सङ्घसाहित्य की गति को धुधिन करती है ऐनी ही उनकी माग्गता है। एक धम्य निबन्ध में धाधुनिक साहित्य की बुनीतिमूलकता की कैफियत बेटे हुए उन्होंने अपने धुधिकोल को इस प्रकार विकसित किया है। वे कहते हैं। "मसा धीर धुध संधार में धिरकाल से है, धामध धिरकाल तक रहेगा। भले को मसा धीर धुरे को धुध धाधुनिक लकल भी कहूँ है। धुरे को बकामत करने के लिए कोई सा धित्यिक कमी किसी धिम साहित्यिक कमी किसी साहित्य की सजा में सङ्घा नहीं होता। किन्तु बहला कर नीति-धिक्षा देने की भी बह धपना बर्तन्य नहीं धयभना। बुनीति का भी बह प्रचार नहीं करता। धोङा-ना ठहर कर देखने, देखनेकी, बुनीति के सूत्र, धी, धास्व, धरी, धुध कैरः। धिरिषी कि बह धनुष्य को धनुष्य ही सिध करना बाह्या।" (वही पृ ११५-१)

धरन्धर का विश्वास है कि साहित्य में नीति-धनीति का धाधईक बह नहीं है जो धीधध में है। साहित्य संस्कारों से मुक्ति देता है संस्कारों में बाँधता नहीं। उसक

मायदेव है प्रेम और सहानुभूति। इन्हीं पर वह नीति-मनीति की धारणा है। वेदवा
 वेदवा है और पापी इहनीय है क्योंकि वह पापी है यह बारणा सत्य को छोटा करती
 है। वेदवा में भी सती को देखना संभव है और पापी का पाप पाप होकर भी धरने में
 कुछ ऐसा रख सकता है कि वह इहनीय न हो "दोष धरन" शीर्षक निबंध में अपनी धर्म
 रचना के विरोधी धारणाओं को उत्तर देते हुए जैनेन्द्र ने लिखा है देखो न तोम कहते
 हैं कि मैं पतिधार्मी का समर्थन करता हूँ समर्थन न नहीं करता केवल उनका प्रमाण
 करने जो ही मेरा मन नहीं चाहता। मैं कहता हूँ कि वे भी मनुष्य है उन्हें भी प्यार
 करने का अधिकार है। और महाकाल के बरबार में इसका विचार जरूर होना। धरणा"
 संस्कारों से बचे हो रहे सोम इस बात को किसी तरह स्वीकार करना नहीं चाहते।
 (वही पृ १२३) धारणा बल कर उन्होंने अपने दृष्टिकोण की व्यक्त्या स्पष्ट रूप
 से इन शब्दों में कर दी है। "समाज-अस्कार को कोई दुष्प्रसन्धि मरी नहीं है। इसी स
 इस पुस्तक के भीतर मनुष्य के कुछ और वैश्या का विवरण है समस्या भी धारणा है
 किन्तु समाधान नहीं है। यह काम दूसरों का है "मं कहानी किंतु है इसके बिना और
 कुछ नहीं।" (वही पृ० १२६)

'साहित्य में धार्मिक और बुद्धि' निबंध में उन्होंने व्यक्ति और समाज एवं
 नीति और धर्मिता सम्बंधी अपनी उस विचारधारा का विस्तार किया है जो उनकी
 अपनी रचनाओं के केन्द्र में है। दारण्य का विचार है कि सामाजिक न्याय का मन्त्र
 धरणा रूप में प्र म के लक्ष में मिलता है। मनुष्य-मनुष्य के सम्बंधों में प्रेम का
 सम्बंध सबसे धर्ममूल और व्यापक है परन्तु इसी सम्बंध पर समाज की नियंत्रण की
 दृष्टि सब से अधिक है एकलपि प्र म और मनीष्य को लेकर हमने एक बड़ा हीरा लड़ा
 कर रखा है जो नर नारी की धर्मगत उपमन्त्र में बाधक है और जिसे हमारे मानवीय
 विकास को राष्ट्रपल कर लिया है। विरोधकार नारी का जीवन ही पंगु हा गया है।
 वह पति में ही सिमट कर रह गई है। उसकी उन्नतम बुद्धियाँ मनीष्य की बरी पर
 बलि हो गई है। फलतः धारणा यह धारणा हो गया है कि नारी का वास्तविक मूल्य
 मममा धारणा और उनके मारीत्व को उन्मुख किया जान। यह विचारधारा जैनेन्द्र के
 उन उपमन्त्रों में भी मिलती है जो मारी-दुःख की संपूर्ण उन्नति को ध्यान में रख
 कर लिखे गये हैं और पति नाम के प्राणी स धर्ममूल उन्नतता की मांग करते हैं।
 पत्नी का जीवन पति की बाँहों में ही सिमट कर नहीं रह पाये यह हमारे समाज को
 उपमन्त्र है ऐसी कुछ मांग उन्नती है। इस मांग का धरणा दारण्य-साहित्य में है।

उपर्युक्त निबंध में दारण्य ने अपनी धारणाओं का निगमन हुए कहा है,
 "समाज धरणा को ही मानता है किन्तु उसे देखना के रूप में नहीं मानता। धरणा रितों
 के डेर-डे डेर के क्रमा हुये नर-नारियों के बहुत से मिथ्या बहुत से कुमंथार धरणा
 से उन्नत रूपमें एक हीकर बलि गये हैं। मनुष्य के मान-नीति और धरणा-धरणा के बारे

में इसका घाघन-बन्ध प्रति-उत्पन्न नहीं है किन्तु इसकी एकल निर्धम मूर्ति दिखाई देती है जबल नर-नारियों के प्रेम के प्रसर पर। मनुष्य को सबसे अधिक सामाजिक उत्पीड़न इसी जगह उठना पड़ता है। मनुष्य इसके डरता है इसकी बरपता संपूर्ण रूप से स्वीकार करता है। बहुत दिनों की यह डर हुई यह प्रथम की घमण्टि ही विधिवत् धाईन बन जाती है। समाज इसके किसी को छुटकारा देना नहीं चाहता। मर्दों के लिए इतनी मुश्किल नहीं है। मर्द के लिए बकमा देने का रास्ता खुला है लेकिन जिसे कहीं कभी किसी तरह छुटकारे का मार्ग नहीं है वह है, केवल नारी। इसी से सतीत्व की महिमा का प्रचार ही विद्युत् साहित्य ही उठा है किन्तु इस प्रीम योग्य को ही नबीन साहित्यिक साधना का सर्वप्रधान कर्तव्य मान कर बहुराज न कर सके तो उनकी निर्यात नहीं की जा सकती किन्तु कैमिस्त के मीठर भी उसके मन्सर्ब विभन की बहुत-सी चीजें छिनी हुई हैं यह सत्य भी धरवीकार नहीं किया जा सकता। एकनिष्ठ प्रेम की मर्यादा को नबीन साहित्यिक समझता है इसके प्रति उसके मन में सम्मान और भय की सीमा नहीं है किन्तु वह जिस चीज को बरबाल नहीं कर सकता वह है बकमा और डोंग। उसे जान पड़ता है कि इस डोंग की वरर से भी मरिष्य के बंधनर जिस प्रसत्य को धरनी घात्मा में संक्रमित करके जन्म ग्रहण करते हैं, वही जनको बीबनमर के लिए कायर, कपटी निष्ठुर और मिथ्याचारी बना जातता है। मुधिमा और प्रयोबन के धनुरोध से बमाम में धनैक मिथ्याधो की ही घामर बल्य कह कर बखाना होता है किन्तु इसी कारखो से आठि के साहित्य को कन्मुपित कर बालनै के बरबर पाप बोधे ही है। (वही पृ ६५) घरर की रचनाधो से यह स्पष्ट है कि उन्हींने स्त्री-धुरध के प्रेम के लेन में समाज के उत्पीड़न को व्यापक रूप से धीर गहराई से देखा वा। मनुष्य की धसहित्युता की पराकाष्ठा नहीं उन्हीं दिखाई थी। रवीन्द्रनाथ के साहित्य में इस सम्बंध में बहुर-समाज को हिन्दू समाज से धकिक उदार दिखलाया गया है परन्तु घरर की रचनाधो से यह स्पष्ट है कि बहुर-समाज भी धसहित्युता से आती नहीं है। बास्वर में मनुष्य के द्वारा मनुष्य का निष्पीड़न ही इत धुन में घाहक सत्य ही उठा है। ऐनै समय में स्वाध की घासा धरि किसी से हो सकती है तो साहित्यकार से ही। वही नए धुस्वों को जन्म दे सकता है। बीबन गलिन के धुत्रों से परिचालित नहीं होता इसीलिए धुन-धरिधरतन के साध स्मृतिधों में परिबर्तन धावश्यक है। उधम्यासकार की कला की धार्यकता यही है कि वह परधरा पर प्रधन बिम्ह बमाने धीर धुस्म की धीर बनें।

घरर को दुनीत का प्रचारक कह कर बार-बार लाछित किया गया है। उनकी धरिबकाध कद्दनिधी बैबाहित्ठि बिबम्बधारें हैं। बिबाह प्रसक्त होता है धीर धररत्याधित न म नकन होता है धररनु यह सकनता वैहित्ठि न हाकर धारिधक है। "देवघास" "बृहगाह" धीर "धरिधहीन" में एकनिष्ठ प्रेम को धररीत्व से बड़ा बठाना गया है धीर लाछित होने पर भी उधम्यास की नायिका धरने नीठर ध्रेंम की ज्योति बबाए

रखती है। अपने प्र म पात्र से वह कुछ नहीं चाहती। वह जानती है कि उसका प्र म समाज-विहित है परन्तु वह बेहू के धारणियों से ऊपर उठकर सतीन्द्रिय भाव-सोक में विहार करती है और समाज की सहायता को अकृच्छित मन से छोड़ लेती है। 'पात्रों' से बेबवास से क्या आशा और क्या पाया परन्तु जा उसने पाया उससे उमका सतीत्व कहीं साधित हुआ ? बेबवास के प्रति एकनिष्ठ प्र म रखते हुए भी वह प्रकम्प्य रही। सरस्वती की भावुकता और धारसंबन्धिता ने मारी को पंक से बचा लिया है और उसे अपार सहनेबना और प्रबन्ध सेवावत् की ब्योक्ति से मन्थित कर दिया है। पति पत्नी और प्रेमी के निकोण को लेकर सरस्वती प्रसते है। पतिनिष्ठ मारी भी प्रप्रत्यासिद्ध प्रेय के साक्षात् की प्रस्वीकार नहीं कर पाती परन्तु सरस्वती ऐसे मारी की दुर्बलता नहीं उसका बस बना बैठे है। अपने ही मन के विरोधों से लड़ कर वह टूट जाती है। समाज से विद्रोह करना उसके लिए कठिन नहीं है परन्तु अपने से लड़ना उसके जीवन का प्रमि पाप हो जाता है। फिर भी अंत तक वह दीपशिखा की तरह प्रकम्प्य बसती है और समाज की 'छि-छि' उसे छू नहीं पाती।

शरद के उपन्यासों की इस पुच्छ-भूमि में हम जब इनके इस विचार से प्रबन्ध होते हैं कि 'परिपूर्ण मनुष्यत्व सतीत्व से बढ़ा है तो हमें प्रारभ्य नहीं होगा। 'साहित्य में मार्ट और दुर्नीति' निबंध में ही एक स्वाम पर उन्होंने इस सूक्ति की व्याख्या इस प्रकार की है 'परिपूर्ण मनुष्यत्व सतीत्व को प्रयेता बढ़ा है यह बात एक दिन मैंने कही थी। मेरी इस उक्ति को निहामत गवा का बेकर मेरे बिस्व बेहू माली-गर्भोप क्रिया गया। लोग जैसे एकाएक पागल हो उठे। मैंने प्रसवत सती मारी को खोरी करते सुधा लेनते जान करते और मूर्खी यवाहीं बेटे बैसा है और ठीक इनसे उभटा बेचना भी मुझे नसीब हुआ है। इस साथ को नीति की पुस्तक में स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं। किन्तु बड़े लड़के-लड़कियों को कहानी के निग मही नीति की बातें सिखाने का मार साहित्यकार को अपने ऊपर सेवा पड़ तो में कहता हूँ कि साहित्य का न रहना ही प्रच्छा। सतीत्व की कारण सब एक ही नहीं रही। पहले भी नहीं थी और बाद को भी सायद एक दिन नहीं रहेगी। एकनिष्ठ प्र म और सतीत्व ठीक एक ही वस्तु नहीं है यह बात पु० ६७) यह निरूप्य है कि शरद की सतीत्व की परिभाषा अपने ही नीतिज्ञों को प्रपाह्य हो वह तन की वस्तु न होकर मन की शक्ति बन जाता है। जहाँ मन की पवित्रता है वही तन की मजदूरी मजदूरी ही है न प्रपवित्रता है न पवित्रता। कहने का तात्पर्य यह है कि समाज-प्रवन्धना बाहर को बाँधनी है मीनर के अपने नियम है और उसे कोई भी नियामक नहीं पू सकता। इस दृष्टि से बेगने पर मानव-जर्म सतीत्व से कहीं बढ़ा हो जाना है क्योंकि वह शोकता है शोषता नहीं। जैनेन्द्र ने मारी से मंगुण मारीत्व की माँग करते हैं केवल मान सतीत्व की नहीं। 'स्वात्मन' में प्रसनी मंगुण को उन्होंने मारीत्व का प्रतीक बनाया है।

जैनेन्द्र के उपन्यासों में बौद्धिकता के साथ-साथ जो भाव-विषमता चलती है उसका भी मूल-स्रोत धारक में बुढ़ा या सकता है। वास्तव में यह भी-ज धारक और रबीन्द्र दोनों में है और धारक की रबीन्द्र से ही प्राप्त हुई है। "रबीन्द्रनाथ" शीर्षक अपने निबन्ध में सरस्वती ने रबीन्द्र के उपन्यास "बौद्धेरवासी" के अपने मन पर पड़े प्रभाव को इस प्रकार धारणित किया है। इसके बाद धारा-दर्शन के मनीष संस्करण का मुद्र। उसमें उन दिनों रबीन्द्रनाथ की "बौद्धेरवासी" (धार्मिक किरकिरी) धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो रही थी। उसमें माया और भाव प्रकाशन की रीति का एक नया प्रकाश देना पड़ा। उस दिन की वह पहली और मुतीकण धारण्य की स्मृति में कभी न भूलूंगा। कोई कुछ इस तरह कहा जा सकता है। दूसरे की कल्पना के बिना मैं पाठक अपने मन को इस तरह से धीमा से देखना चाहता है वह बात इच्छे पहले कभी अपने में भी नहीं सोची थी। इतने दिनों में केवल साहित्य का नहीं अपना भी जैसे एक परिचय पाया। बहुत पहले से ही बहुत पाया जाता है यह बात सत्य नहीं है। बहुत बौद्ध ही पत्नी तो है उनके बीच में जिन्होंने इतनी बड़ी सम्पत्ति उस दिन ह्य जोषो के हाथ में पहुँचा ही उन के प्रति कृतज्ञता बताने की भाषा नहीं मिलेगी। (धारक निबंधावली पृ १०१२) इसमें कोई संदेह नहीं कि रबीन्द्रनाथ की यह क्षमता अपूर्व है। बाद की रचनाओं में भी वे उसकी पुनरावृत्ति नहीं कर सके हैं। फिर भी भावों के उत्थान-पतन और हृदय के धारणिक-विशोद्धन का जैसा सुश्रावितमूर्त और ठलस्पर्शी धारणिक रबीन्द्र में है। वह साधारण मनोविज्ञान की पकड़ के बाहर है। कवि की पारदर्शी दृष्टि ने "हिरण्यमय पात्र" के ऊपर के कर्तव्य को हटाकर "धरत" के वर्धन किए हैं। उसकी तुलना सोलोव्येन्की और टास्त्वटन की कला से ही हो सकती है। वह कवि की अपनी उपलब्धि थी। धारक अपने मूर्ख नहीं बन सके हैं उनमें कवि का अंतर्मुखी भावबोध नहीं है। परन्तु भावों के धारण-प्रतिपाठ को समीक्ष और रससिद्ध उन्होंने भरपूर किया है और मन के भीतर कान्ठने में वे सम्पूर्णतया सफल रहे हैं। रचिबावू कवि होने पर जीधरने धीपन्यासिक बगल में ज्ञान-विशय है कवि की धार्मिक से उन्होंने मन के बचलते ध्यातारों को देखा है परन्तु धीकते समय वे कला-बोधा लेने वाले ध्यातारी बन गये हैं। इसके विपरीत धारक प्रेम विभोर हैं वे अपने पात्रों में बुझकर एकरस हो गये हैं। धनमें दिलचस्प रह ही नहीं गया है। इसी कारण उसकी भाषा रससिद्ध है भावमयी है, भीतर बैठने की उसकी क्षमता अपूर्व है। उनकी दृष्टि बाहे जो हो उनकी धारिण्यता रसात्मक है।

इस दृष्टि से जैनेन्द्र को देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वे न तो धारक के पास ही पहुँच सकें न रबीन्द्र की "बौद्धेरवासी" वाली कला की उन्होंने धारण्यत किया है। वास्तव में उनके साहित्य पर रीति की दृष्टि से उत्तर रबीन्द्र का प्रभाव है। उत्तर रबीन्द्र की भाषा में एक उच्च कोटि का बौद्धिक धारिण्यत है और उसकी धारण्य इस

लिए सीमित है। जैनेन्द्र की रचनाओं के सम्बंध में भी यही बात कही जा सकती है। फिर भी बीच-बीच में चरित्र की मर्म-मेदिनी घडबू टि और गतिशायु भावुकता उनकी कसती की नोक पर उतर आई है।

“मुनीठा ‘मुलदा’ और” विवर्त को लेकर रबीन्द्र के ‘घर-बाहिरे और ‘चार धम्माय’ की कर्षा चलती रही है। कहीं-कहीं यह कर्षा कट भी हो गई है। पर यह बेल सेना प्राकटयक है कि जैनेन्द्र रबीन्द्र को किस दृष्टि से देखते हैं और उन्होंने इनसे क्या पाया है? ‘रबीन्द्रनाथ ठाकुर’ छीपक एक बार्ता में जैनेन्द्र ने रबीन्द्र से अपनी दो मेंटों का उल्लेख किया है और इसी प्रसंग में ‘घर-बाहिरे’ और ‘चार धम्माय’ के सम्बंध में भी कुछ कह गए हैं।

जैनेन्द्र ने बतसाया है कि उन्होंने रबीन्द्र को काशी छोटेपल में पढ़ता शुरू किया। छठी-सातवी कक्षा में प्रथमी में ‘बाबुलीबाला’ लेखन की याद है। तब उस समय बारह बर्ष का रहे होंगे। पहली बार जब सन् १०-११ में कवि मुझ से मेट हुईं तो पन्थीस-छठीम बर्ष के तत्काल के और ‘परल’ मिल चुके थे। इसी बर्ष यह रचना हिन्दुस्थानी प्रकाशनी द्वारा प्रस्तुत भी हुई। इस मेट के प्रबसर पर जब पंडित बनारसीशम अनुबेदी के प्रापह पर रबीन्द्रनाथ ने हिन्दी के लेखकों को संदेसा देते हुए कहा कि उन्हें मिलने में माफ होना चाहिए, साबा सीया (संघे की के शर के स्ट्रेट, सिलम और बाइरेक) तो जैनेन्द्र ने पूछा आपने बाइरेक कहा और सिलम भी। पाठकी भाषा तो भलहूठ लगती है और मूठ। सीधी कहीं? उसमें तो घेर और पेंच बीखते हैं। कवि ने अपने हय में उनका समाधान कर दिया यह कह कर कि वह (जैनेन्द्र) उनका अनुकरण न करें न धम्य किसी का अनुकरण करें तो प्रपना। यामी सीली में निजत्व हो। यह जैनेन्द्र के कसा-पस को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि जैनेन्द्र की भाषा-सीली में ‘निजत्व’ है और माय ही बेर और पेंच भी कुछ है। रबीन्द्रनाथ की बौद्धिक अनिबीबित धर्मिबान्यपूर्ण और विभ्रमययी रीमी के प्रति उनका प्रकृपण है और मूम तक जाने की चेष्टा में थोड़ी-थी पामी-गम्भी दुक-हना धर्मिबार्थ भी है। बालक में जैनेन्द्र की भाषा में भी उनके ध्यक्षित्व के समान ईं ब है सरलता और चतुगा है परन्तु बचकर बामाजी में कम्पी बाल जाने की पट्टना भी है। ‘मुनीठा’ में ‘ओनेरबानी की बाटीन बिबहाटी है परन्तु उनको बार की रचनाओं में ध्यंग हासरिहाम और मंभारों की योजना में उच्यतम कीर्ति की बुद्धिबार्दिना है। ये रचनाएँ रमरक न होकर मूत्रालक है और इनमें कमकृति का विशेष प्रापह है। जो हो इनमें संदेह नहीं कि जैनेन्द्र ने कहीं चरित्र के भाव-बीप वामा पीड़ा का दर्शन पाया नापी के मूय-गम्भी दृष्टि पाई कहीं रबीन्द्र ने कसा खड़ी करने के लिए द्यो लिए और नई मंभे-नामयी भाषा-धैमी दी। यह सब उल्लेख नहीं थी। स्वयं चरित्र पुं रबीन्द्र से प्रमाबिन है। उन्होंने ‘ओनेरबानी’ की विभ्रमययी मत की बिबहाती काभ्यरनात्मक धर्मिब्यंजना-धैमी की बड़ी प्रगंसा की है और उसकी सरलता एवं भाव

विचलसुता से वे अपने साहित्य में कमी ले सके हैं परन्तु उत्तर रबीन्द्र पूर्व रबीन्द्र से एक दम निम्न हैं। यहाँ वे सूत्रमन्त्री बुद्धि-स्वकषायी और व्यंग्य-परिहास युक्त-प्राण खैली का प्रयोग करते हैं। इसी खैली में रबीन्द्र का अभिजात्य प्रबल सुरक्षित है। शरद समग्राम्य है सबको छूने है धरसता उनके साहित्य का प्राण है। वे बुद्धिवादी न होने की भासा को भी सहन करने को तैयार है। यह प्रबल्य है कि उन्होंने रबीन्द्रनाथ की औपन्यासिक खैली को अपनाया है जो कथा के बीच में सामाजिक और राजनीतिक समस्याया पर बाह-विबाह का समय निकाल लेती है परन्तु रबीन्द्रनाथ की तरह वे इन प्रसंगों का विस्तार नहीं करते (‘योग्य इसी से बोझिल हो उठा है)। वे प्रेम की व्यासा समारते हैं ‘जग-बीती’ नहीं कहते। जैनेन्द्र ने इस विषय में मध्यम मार्ग को ही प्रहण करना चाहा है यद्यपि वह रबीन्द्र की तर्कवादिता और वैचारिक व्युत्पत्ति की घोर प्रतिक मुके है। इसी संघर्ष में उनके साहित्य में रस की उपलब्धि भी कम हुई है।

परन्तु खैली ही नहीं पतव्य में भी उन्हें रबीन्द्र से बहुत कुछ मिला है। यह स्पष्ट है कि पड़ोसी मेंट के बावजूद ‘सुनीता’ उन्होंने किसी और भिन्नते समय ‘बरे बाहुरे’ (१९१३) उनके सामने थी। दूसरी मेंट से इस रचना का उत्पन्न भी रबीन्द्र के सामने हुआ और जैनेन्द्र ने उनके मंतव्य को समझने के लिए एक प्रश्न भी किया जो यों है ‘क्या आपका अभिप्राय यह है कि बर और बाहुर के बीच में रेखा होनी चाहिए? किन्तु बिरोध और वैमुख्य। ‘बरे-बाहुरे’ का संवीप मानों बाहुर की घोर प्रहार है। बर के संतरंग को उससे अपने को बचाये रखना है। बाहुर बहिर्गत और बहिष्कृत ही रहे। अन्त स्वीकृत होने देना मानो विपदा घोष सेना है। क्या वस्तु-स्थिति और ‘बरे-बाहुरे’ की परिणति बही है? इच्छा थी कि पूछें कि संवीप को रेखा सुख्यक घट्टी का सा रूप है कर मानने मही बतलाना चाहा है। रबीन्द्रनाथ ने जो उत्तर दिया है वह साप्ताहिक द्विमुन्ताल’ में प्रकाशित एक संस्मरण में विस्तृत रूप में प्रामा है, परन्तु इस बार्ता में कवि ने संवीप को पश्चिम के घाई वस्तु-भूति का प्रतीक माना है और उसे पराबिध हीना ही प्रतिबार्ध बनाया है। जैनेन्द्र के संघर्षों में ‘उनके कहने का भाव था कि परिषय से एक वस्तु-भूति का प्रवेश हुआ है। वह बल की जानती है, वह स्फीत है और कुर्वन्त। वह घाघेट के लिए निकली है। मानो सब उसको मूल के लिए नोय्य है। यही संतके होने की मार्भकता है कि वह माग में घाए। बरोंकत यह वस्तुता प्रमुता बनना चाहती है पर मानव संस्कृति काए के लिए मूले संत में बैतगी। वह भ्रष्ट न होगी नष्ट न होने। संत में धारम सामोन्मुक्त होनी। संवीप में बही वस्तु-भूति है। उसे पत्तरत और पत्तचित होना है। यह साक्ष है कि जैनेन्द्र इस व्याख्या में पुनर्तु रूप से संतुष्ट नहीं हैं क्योंकि उन्होंने ‘बरे-बाहुरे’ और ‘सुनीता’ के मंतव्यों को अपने रंग पर समझाया है और दोनों बुद्धिवादी की तुलना की है। परन्तु फिर भी रबीन्द्र साहित्य के मूल तत्व को उन्होंने स्वीकार ही किया है। हमारी विवेचना उन्होंने यों की है ‘बार अध्याय’ में क्या है? ‘बर और बाहुर’ में क्या

है ? मागो मनुष्य की अहम्मन्यता से किसी हुई निषेध-वृत्ति का प्रतिरोध और प्रतिफलण है। हठपूर्वक जमी और जेठा ने चाहा कि वह अपने स्नेह को अस्वीकारकरेगा लेकिन रवीन्द्रनाथ ने बताया कि यह व्यर्थ जग्टा है। इसमें पराजय निश्चय है और गुम है। मनुष्य की अय धर्म में है सामन्त्य में है बिग्रह और विमर्श में नहीं है। व्यक्ति की स्वार्थ को निश्चय के समझ उन्हें सबा परास्त रिसाया है। मानो मानव-धर्म मानव-हीनता का ही परिचायक है और मानव-अपूर्ति प्रेषापित उसके आतिशय में ही है। यह उनका संदेश मुझे तो उनकी रचनाओं में स्पष्ट मुद्रित दीखता है और अपने घरों में धर्म प्रकृति की अकृष्टि स्वीकृति कहना चाहूंगा।" (ये और से पृ० १५) क्या जैनेन्द्र के अपने उपन्यासों में यही मूल बलव्य नहीं है ? सुनीता में 'सुकसा' में विवर्तन म "अय तीत" में। यही क्यों "त्यामपत्र" में प्रमोह की अहम्मन्यता ही तो बुधा के स्नेह से हारी है और "कल्याणी" में स्नेह को अस्वीकार करने की मर्मन्ति इ बेरता ही ता कल्याणी को ठाड़ देती है। मानव की प्रकृति ही प्रेममयी है और इसी मूल प्रकृति का निषेध और प्रतिफलण ही अहंतामयी प्रकृति पर विरता ही उपन्यास का ध्येय है। आदमी अकृष्टि मन से अपना सब कुछ दूसरे को दे चके अपने को बचामे नहीं रखे। यही जैनेन्द्र का संदेश है। यही क्या रवीन्द्र का मूल बलव्य नहीं है जेसा जैनेन्द्र ने उन्हें समझा है ?

रवीन्द्र का पहला उपन्यास "बौठाकुरानीर हाट" (१८८३) है। यह प्रारंभिक रचना है और इस पर बंकिम की उपन्यास-कला का प्रभाव स्पष्ट है। दूसरी रचना "बोलेरबामी" (१९०३) में भी कवि ने बंकिम की भाँति सामाजिक प्रश्न को परिपारक में रखा है परन्तु उसका आलेखन एकदम महीन है। मन के अत्य-अणु से योधा-योध को बड़ी सूक्ष्मता से चकड़ा गया है और पात्रों के अंतर्बन्धन में प्रवेश करके एक-महड़ी संसार का अनुशासन दिया है जो अंतर्-प्रेरणाओं पर आकारित है। इसी समय के सचमय "नौका डूबि" प्रकाशित हुआ जिसमें रामान की परंपरा ही दिखाई गई है। रवीन्द्र की उपन्यास-कला का उन्मेष हमें "बोलेरबामी" (१९०३) "योध" (१९१०) "अनुवं" (१९१९) और "परे-बाहिरे" (१९१९) में मिलता है। इन उपन्यासों की सामग्री रमानीक है और इनमें भाव की विचक्षणता के साथ कुछ मूल समस्याओं पर एक-विचकं भी मिलते हैं। "योध" इन रचनाओं में सबसे सुन्दर है और उनको हम निःसंदेह एक महान् कृति कह सकते हैं। परन्तु इसमें भी कथा की अंतर्भाएँ सुनी रह गई है और निष्कर्ष दुर्बल है। गिरन की दृष्टि से "बोलेरबामी" और "अनुवं" नहीं खेठ है। "परे बाहिरे" के प्रारंभिक पृष्ठों में मनोवैज्ञानिक संघर्ष को बोरे-बोरे और बड़ी आमकता से विरलित किया गया है परन्तु उत्तर-पृष्ठों में अटना-अकृत्रिम तीव्र गति से धूमता है वह अविन्दन है और उपन्यास के अंत भाग में उनका वेग नहीं बैठता। "सुनीता" "सुनता" और "विचन" में कथा की यही विधि है क्योंकि ज्ञान-अज्ञान रूप से ये उपन्यास "परे बाहिरे" से प्रभावित हैं। "सुनता" और "आर अघ्याय" में प्रथम और आदमी का साम्य है। परन्तु इस रचना में भी "परे-बाहिरे" को एकदम धुना नहीं दिया गया है।

पीकर भी उन्हींने अपने भीतर के समुद्र का बाग अपने प्रेमी को किया है। यही बात धरम के उपन्यासों में भी है। जैनेन्द्र में भी यही बलिदानमयी आत्महानी जारी समरी है और खुद समरी है। वास्तव में जैनेन्द्र को हम प्रेमचन्द की परम्परा से प्रसन्न रवीन्द्र-सरस्वती की परम्परा में रख कर देख सकते हैं। सभी धारक हम उनके साथ प्रतिक्रिया कर सकते हैं और उनके विचारसूत्रों में पूर्वानुसम्बन्ध स्थापित कर पाएँगे।

‘पदे-बाहरे’ आत्मकआत्मक उपन्यास है जिसमें विमला (मधुपत्नी) निश्चित और संवीप बारह अध्यायों में अपनी कथा कहते हैं। सभी अध्यायों में तीनों पात्र हमारे सामने नहीं आते परन्तु फिर भी कथा की बीड़ी गति मिल जाती है। कथा इन्हीं तीनों पात्रों को बीच में रख कर बसती है। यद्यपि निश्चित के मुद्र मास्टर साहब अपना खंडनाम बाबू समुद्र (संवीप का सहायक किराएदार जो अपनी सहज भावुकता से मधुरानी के मन में वात्सल्य बाधत करता है) नगर (बड़ी रानी) और कुछ अन्य पात्र भी कथा की बिना पटी बगले हैं। कथा निश्चित की उदारता मधुरानी के बहिर्गमन और संवीप की नातिकारिता के पीछे छिपी कामकुष्ठाजन्म दुर्बलता से सम्बन्धित है।

कथा इस प्रकार है निश्चित की छोटी-सी बनीबारी है। बहुत कम घबराहट में जब वह कलकत्ते में काम का उसका विवाह विमला से हो गया है। वह एम० ए पास कर लेता है और साथ ही विमला को भी शिक्षित बनाता है। जैसे जैसे वे पढ़ने के लिए मिल गिम्बी की नियुक्ति होती है। बीरे-बीरे विमला एक नए संसार से परिचित होती है। परन्तु पति प्रयत्न करते पर भी परिवार के पुत्रों संस्कारों को नहीं तोड़ पाता। निश्चित चाहता है कि विमला उसे समानता की भूमि पर मिले। परन्तु विमला अपनी दूर जाने के लिए तैयार नहीं है। उसे अपने सीमागम्य का गर्व है। पति उसे परदे से बाहर ले जाना चाहता है कहता है, कि बाहर का संसार तुम्हें चाहता है। पर स्त्री की धर्मिता को परिसमाप्त नहीं कर दे, —वह उसके लिए नहीं बनी है। प्रेम की सार्थकता यही है कि वह बाहरी विश्व के बीच में प्रतिफलित हो। वैवाहिक जीवन की प्राचीनों में बन्धी प्रेम अपनी स्वाभाविकता को देता है। सम्भव है, बाहर की मुक्त हवाजसे कुछ प्रतिक्रिया नहीं दे सके परन्तु इस नय से ऐसा प्रयत्न ही नहीं ही वह ठीक नहीं है। ' यही सोच कर

? My husband used to say that man and wife are equal in love because of their equal claim on each other. I never argued the point with him, but my heart said that devotion never stands in the way of true equality. It only raises the load of the ground of meeting. Therefore the joy of the high equality remains permanent. It never slides down to the vulgar level of triviality. (The home and the world p 7)

निश्चित विमला को कलकत्ता ले जाना चाहता है।

परन्तु इसी समय स्वयंसी प्रान्दोमन लठ धड़ा हुआ और निश्चित की उदारता की पटीला मुक हुई। विमला स्वयंसी प्रान्दोमन के प्रवाह में बह जाती है परन्तु निश्चित इतनी दूर तक नहीं जा सकता। वह "अन्देमात्रम्" की प्रात्या की सम्पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं कर पाता। देश के एक बड़े साथ को लेकर वह बसाया जाहता है। उल्लसक्य पत्नी और पति के मार्ग भिन्न होते जाते हैं।

संरीप बाबू जिने के प्रमुख कार्यकर्ता और नेता के रूप में सामने आते हैं। संरीप निश्चित का कालिज के बिना का मित्र है। उसके बिना विमला ने देश है परन्तु उनके भावसु को नुन कर विमला उसके व्यक्तित्व में प्रभावित हो जाती है। उसे अपना मान नहीं रहता कि वह राजा के बर की है। वह बंगाल के नारीत्व की प्रतीक बन जाती है।

संरीप बर आता है और बाहर के बैठके में पहुँच कर विमला भी उससे मिलती है। संरीप भी विमला से कम प्रभावित नहीं होता। वह विमला को आश्चर्य करना चाहता है, यह हक कर कि तीस वर्ष की आयु में वह भर जायबा भव सत्ताईत जा है। यह उसकी जम्पपत्री में है। विमला कहती है कि बर के घापीबाँध से यह-वीडा मण्ड हो जायपी परन्तु संरीप कहना है कि देश की बाणी बैपी के मुख से बोल यह यह चाहता है। वह कार्यक्रम में उतर आए और उसके लिए बरदान बन आए।

धीरे-धीरे संरीप का विमला के प्रति आकर्षण बढ़ता है। वह रंगपुर नहीं जाता वहीं रह जाता है और वहीं से अपने कार्यक्रमों का संचालन करता है। अत्रनाथ बाबू निश्चित के मास्टर रह चुके हैं। परिवार से उनका यहूरा सम्बन्ध है। वह हम परिस्थिति

२ I would have you come into the heart of the outer world to meet reality. Merely going on with your household duties, living all your life in the world of household conventions and the drudging of household tasks — you were not made for that! If we meet and recognise each other in the real world then only will over love be true (Ibid p. 12)

३ The greedy man who is fond of his fish stands no compunction in cutting up according to his need. But the man who loves the fish wants to enjoy it in the world and if it is impossible he waits on the bank and even if he comes back home with out a sight of it he has the consolation of knowing that fish is all right. Perhaps is the best of all but if that is impossible then the next best gain is perfect losing (Ibid, p. 13)

तो प्रमूख्य संदीप के लोभ से जन्म हो जाता है। चाहिए उसे छोड़े तीन हजार ही। वह चाहता है कि रोप रूपा संदीप लौगाद परन्तु संदीप राबी नहीं है। उधर विमला प्रमूख्य को बुझा कर अपना जेवर बेती है कि वह बेच कर छ हजार सा वे त्रिससे वह उसे निखिल की सेफ में बापित रख दे। परन्तु प्रमूख्य जबर म बेच कर लज्जामें खोरी कर लेता है और रुपये के साथ जबर लीगा देता है। लज्जामें डाका पड़ने से हलचल मच जाती है और भावज के कहने पर निखिल को उन छ हजार की याच घाटी है जो उसने सेफ में रखे हैं। वह कलकत्ता जाने को तैयार हो जाता है परन्तु घंत में उसे पता लग जाता है कि रुपया बे दिया है। रुपया नहीं पहुंचा है यह वह जानता है। उधर विमला के जबर संदीप के हाथ पड़ जाते हैं और वह लीगाए जेवरों को भी बंध के काम के बढ़ाने बुझियाना चाहता है। बंध के काम के लिए उम प्रगाथ रुपया चाहिए। परन्तु इससे वह विमला की घासों में फिर जाता है। वह इन जेवरों को अपनी भोर म उपहार के रूप में विमला को देना चाहता है परन्तु प्रमूख्य को विमला की घासों में उठा लेख कर उसके प्रति प्रतिशोषी बन जाता है। एक बमकी के साथ वह बिधा होता है।

संदीप निखिल की जमींदारी में हिन्दू-मुसलिम बंगा बण्डा है। निखिल अपने प्राणों पर खेल कर उसे सांठ करन जाता है और घाहून हो कर सीटता है। प्रमूख्य इस बंगे में गोसी का शिकार बन जाता है। अंतिम दृश्य में हम मधुरानी का पति की और प्रत्यावर्तन देखते हैं। इस प्रकार इस उपन्यास में "बर" पराप्त नहीं हुआ है "बाहर" ही भागा है। इस उपन्यास में रवि बाबू ने नारी के स्वर्णन कतु त्व की सीमाएँ दिखलानी चाही हैं और विमला के प्रत्यापमन से नारी का समाप्त दृष्टिकोम ही पुष्ट हुआ है — कि उसका कतु त्व पति के साथ है, बर में है बाहर नहीं है।

"बार प्रप्याय" ही पुष्टों का लघु उपन्यास है। बैनेन्द्र की "भुवनमोहिनी" इस उपन्यास की इना से बण्ड मिलनी जुलती है और "मुपय" और "विपत्त" दोनों में इसकी पुष्टमूमि और कथा का उदयाग हुआ है।

इना के पिता नरेन्द्रास पुन्त पुत्री को विक्रम के लिए स्वतन्त्र छोड़ देते हैं। वे विनायकी विरचविद्यालय से माइकालोजी की डिग्री लेकर घाएँ और प्राधुनिचता में घनका विरवाम का। प्रोफेसर से। बाजार-विचार में वे बड़ उदार थे परन्तु एना की माँ पुराने संस्कारों में बंधी हुई थी। एना कलकत्ता में बोर्डिंग में रह कर पढ़ी। माँ कुछ दिनों बार बसी गई और फिर विना भी बले गए। एना को बाबा सुरेय और चाची माववी का धामय मिला। बाबा का उम पर अपना स्नेह था परन्तु चाची मुग्धा बेनी के भविष्य के लिए मही बघटा समझनी थी कि एना पान नहीं रहे। उसी दिनों इन्द्रनाथ का धामयन हुआ। बंध के उान उसे बचवनी नरेय की तरह मानन थे। एना ने अपने पाम पहुंच कर काम आज और मकली की कीपि पर अकित हो कर इन्द्रनाथ के संप्रति लड़कियों के लिए मुने नारायणी हार्डस्कूल में उसे धप्यघा का पद बिना दिया। साथ ही एना से यह अनिजा से भी कि वह यूहसी के बचन में किसी दिन घाबड़ न होगी। वह समाज की नहीं रण थी है।

एसा कबकले बनी गई ।

यहाँ श्रद्धाकारियों के एक दल से उसका परिचय महुरा होता गया । इन्द्रनाथ ही उनका नेता था परन्तु यह नहीं चाहता था कि एसा में भावुकता बाधत हो । उसके दल में प्रभुघातन के निरम कड़े थे । यह एसा को प्रेरणा-मात्र बनाना चाहता था । परन्तु घटीन (घटीन्द्र) उसका पुराना मान सखा था । इन्द्रनाथ के इस सिद्धांत को यह गारी के लिए धममाजक मानता था । "गुब्बारा" में हरिबा और नाम की विचारबाध का जो इच्छ है वही मूल-रूप में यहाँ उपस्थित है । जीवेन्द्र ने उसे अपेक्षाकृत अधिक विस्तार दे दिया है ।

उपन्यास में बार धम्म्याय हैं । पहले प्रम्म्याय में हम एसा को कन्हारि बानु की भाय की वृकान पर श्रद्धाकारी दल 'लकड़कों' की प्रतीभा करते पाते हैं । इन्द्रनाथ ने उन्हें मना कर दिया है और दल से एसा को दूर रखने के प्रयत्न में उसके नाम से एक खेक पत्र में दिया है जिसमें यह बंगाली छात्रों की उच्छु बलता को शक्ति सिद्ध करती हैं । इन्द्रनाथ का कठीर बरिब यहाँ सामने धाटा है । यह जानता है कि एसा घटीन से प्रेम करती है परन्तु यह उसके शोध का कारण नहीं है । यह कहता है एसा से 'किश तच्छ तुम स्वबं समझेयी कि तुम्हारे ह्याय का नाम बन्धन का ठिकक लकड़कों के मन में कची धान बना देता है ।' "हम कामिनी-कांचन त्यागी नहीं हैं । यहाँ पर कांचन का प्रभाव रहता है, यहाँ में कांचन की धबसा नहीं करता । यहाँ कामिनी का प्रभाव है, यहाँ मैंने कामिनी को बेबी पर ब्रैठायी है । परन्तु जब एसा पूछती है कि लकड़कों की प्राधंका रहने पर भी बसने स्त्री-मुक्क की एकन क्यों किया है, तो यह कहता है 'जिन सध्यासी ने बरीर पर धम्म पोठ रखा है और बिय भम्म-कुच्छ ने प्रभुत्वों को राब बना दिया है उन तपु यकों से काम नहीं बलेना इसीलिए जब मैं बेक लूँवा कि हमारे दल के किसी धमि उपाधक ने धसावबागी से धपने ही धम्मर धमिकाच्छ मचाता मुक कर दिया है तब मैं उसे हटा हुआ । हम लोगों का धमिकाच्छ बधम्भापी है मुच्छए हुए मन से यह धपम्मकाय नहीं होया और उन लोगों से भी यह न हो सनेना जो लोच धाय की बबा रखना नहीं जानते ।"

दूसरे प्रम्म्याय में हम धम्मू (घटीन) एसा और धबिस को देखते हैं । धमिन सोलह मा धम्मरच्छ बर्ष का किछीर है । एसा के मन में उसके लिए बात्तस्थ है । यहाँ हम धम्मू के धनुस्मरण के द्वारा एसा-धम्मू के प्रेमी जीवन के विकास से परिचित होते हैं और धम्मू-बट्ट की प्रतिधमिता की बात जानते हैं । यही बट्ट उपन्यास के धम्म में ईच्छा-बध धम्मू की पुनित के ह्याय में पकड़ा देना है । घटीन का बर्धन इन्द्रनाथ के ठीक विपरीत है । यह बगरब का मुहूट नहीं बनना चाहता । गारी की महिमा उसके हृदय का ऐस्वर्य है । गारी को केक बना कर जो माधुर्मासिक फँसा हुआ है उसका फँसाव यद्यपि ऊपर से देखने में छोटा जान पड़ता है तो भी हृदय में उसकी धम्भीरता की कोई सीमा नहीं है—यह पिनड़ा नहीं है । यह गारी को श्रद्धा की प्र रया मात्र नहीं बनाना चाहता उसकी भावुकता का सध्व धोच-दान चाहता है ।

ठीसरे अध्याय में इन्द्रनाथ की ओर से मना होने पर भी एता क्षणी के निवास स्वतः पर सबसे भित्तरी है। एता क्षणना प्यार घटीन के अरण्य पर रचना चाहती है वसे का मोने का अण्डहार भी उठार देती है कि यह क्षणिक के काम आए परन्तु क्षणीन कुछ भी स्वीकार नहीं करता। वह एता के मायुक्त-भरे बाहु-अपन को तोड़ कर जाता जाता है। तभी इन्द्रनाथ आ जाता है और एता की मर्त्सना करता है। बट्टा है तुमको मार सकता तो इती अणु मार सकता। बामो घट. बापस बसी बाधो। टेकती घड़ी है बाहर।”

बीसरे अध्याय में स्वयं घटीन एता के निवास-स्वतः पर जाता है इन्द्रनाथ की आज्ञा है कि वह उसे मार डाले। बट्टु पुनिस को सा रहा है और यह दांता है कि पुनिस के हाथ में पड़ कर इता मीन नहीं रह सकेगी। अक्षित इता के पास है परन्तु वह उठे दूर भेज देती है। कठोर कर्म का साहस लेकर बाड़ी मगा कर घटीन बपीचे के मार्ग से कुछ घाया है और वह एता के सामने प्रसन्न हो जाता है। अक्षित सुरक्षित रहने के लिए बाहर भेज दिया जाता है और बीरे-बीरे इता पर स्थिति सुमती है। स्वयं घटीन के मन में मयंकर इन्द्र है। बट्टु ने कहा है कि यदि इसा उससे बिबाह कर ले तो उसहानत में वह उसकी बमानत देकर बाहित्व अपने ऊपर ले लेगा। परन्तु इसा ने इस प्रस्ताव को लौटा दिया है। वह घटीन को प्रेम करते हुए मरना चाहती है। अक्षित दाधों को एति बाबू ने अपुन मायुक्तता से पकड़ा है

इता ने घटीन के पैर पकड़ कर कहा 'मार डालो मुझको धंतू अपने हाथ से। इससे बड़ा हीमाग्य मेरा कुछ भी नहीं हो सकता। वह कर्म पर से उठ पड़ी घड़ी होकर घटीन को बार-बार बुम्मा देकर बोली मारडालो इस बार मार डालो।

यह कह कर उसने अपने छाती के ऊपर की धमिया फाड़ डाली।

घटीन परंपर की शक्ति की तरह कठोर बन कर बड़ा रहा।

एता ने कहा 'जरा भी बिता मत करो धंतू। मैं तो हूँ तुम्हारी पूर्ण बन है तुम्हारी हूँ मरने पर भी तुम्हारी। ले लो मुझे। गन्दे हाथों को मत सगने दो मेरे शरीर पर। मेरा यह शरीर तुम्हारा ही है।

घटीन ने कठिन स्वर में कहा 'बाधो धमी सुरन्त ही सोने के लिए बसी बाधो। इन्द्रनाथ है रखा हूँ सोने के लिए बसी बाधो।

घटीन एता का हाथ बलपूर्वक पकड़ कर उसे सोने के कमरे में ले गया बोमा 'सो रहो धमी इस खज सो रहो। नीर में सो बाधो।

'नीर नहीं पाएगी।’

'नीर घाने की बसा है मेरे हाथ में।’

‘बुछ अकरत नहीं है धंतू। मेरी चेतना के बीच मुहूर्त को तुम ही न। तो। कौरोधर्म में आए हो। उसको केंद्र हो। अरपाव नहीं हूँ मैं तुम्हारी नीर में बाधगी रह मर घट्टू तुम नहीं नाम करो। अक्षित बुम्बन धात्र धनगण हो गया। धंतू। धंतू।’

दूर से क्लिसिम की धावाज सुनाई पड़ी।

“जीका डूबि उपग्यास में हम एक ऐसी स्थिति पाते हैं जो “सुनीता” में सामने है। सुनीता में हरिप्रसन्न को सेकर जब चौकान्त घर में प्रवेश करवा है तो वह फेटा फटे झड़-झंका बास लिए जाने सुझाती दिखलाई देती है। “जीका डूबि” में रमेश कमकता से भीट कर नाबीपुर माला है तो वह कमला को इधे तरह परिकरबद देसवा है। गया पर बसाने के उरसाह में कमला बराबर सफाई में मयी है और पकड़ी जाती है तो रमेश के हृदय में घुरघुरी होने सपती है। इन सन्धर्म में कवि के विचारण से ‘सुनीता’ का सेसक धतयग प्रमावित है। ?

“ओखेर वाली” के प्रभाव की विवेचना हमने ‘परल’ के प्रकरण में की है। इन रचनाओं से जैनेन्द्र ने प्रेरणा-मान ली है परन्तु इसमें समेह नहीं कि उनके उपग्यासों की साधारणक और विचारामक करदेबा के निर्माण में कवि की रचनाओं का योग-दान महत्वपूर्ण रहा है। उनकी धर्मिम्ब्रमा पर उकि बादु के परवर्ती उपग्यासों की देसा-निरल साकेतिक कता का स्पष्ट प्रभाव है और जहाँ की भाँति बौद्धिकता का प्राप्ती है।

1 Household displays feminine beauty in its most varied and alluring forms and Kamla as her work reminded Ramesh of a bird freed from its cage and soaring aloft. Her radiant face and the finished dexterity with which she went about her tasks gave him a new sensation of mingled words and delight. It was the first time that he had beheld her in the guise of housewife. She had as it were come into her Kingdom and something of dignity was added to her beauty.

(The Wreck pp 106-107)

